गद्य-संकलन

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए

•

प्रधान संपादक

डा० धीरेन्द्र वर्मा

•

संपादक

पं० कृष्णशंकर शुक्ल

डा० देवीशंकर अवस्थी

राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान

(राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्)

नई दिल्ली

९१-सी-११

हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति के सदस्य

डा० नगेन्द्र (अध्यक्ष), पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, डा० विनयमोहन शर्मा, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० कन्हैयालाल सहल, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

●

विशेष आमंत्रित

प्रो० रघुनाथ सफाया, श्री कृष्ण गोपाल रस्तोगी

श्री अनिल विद्यालंकार

संपादन-सलाहकार

प्रो० ब्रजभूषण शर्मा, श्री महेश्वरदयालु शर्मा, श्री निरंजनकुमार सिंह

●

चित्रकार

प्रभात घोष, मंदाकिनी, नाना वाग, महेशचन्द्र, केशव

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, १९६४

वितरक

प्रकाशन विभाग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

११४, सुंदर नगर, नई दिल्ली-११

●

प्रथम संस्करण : २५००० प्रतियाँ—१४ नवम्बर १९६४

●

मूल्य : २ रु. १५ पैसे

●

मुद्रक

नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,

१० दरियागंज, दिल्ली-६

LIBI

प्राक्कथन

उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्धारण तथा उसके अनुरूप पाठ्यग्रंथों की रचना राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। कुछ वर्षों से केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और वह इस दिशा में आवश्यक अनुसंधान तथा निर्माण की योजनाएँ बना रहा है। इनमें से ही एक योजना के अंतर्गत उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की व्यवस्था की जा रही है। योजना का लक्ष्य तो आदर्श पाठ्यपुस्तकें तैयार करना है, परंतु आदर्श प्रायः असाध्य ही होता है। फिर भी हमारा प्रयास यह अवश्य है कि सामान्य त्रुटियों का यथासंभव निराकरण हो सके और विविध दृष्टियों से उपादेय सामग्री का स्तर के अनुरूप विधिवत् संचयन किया जा सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर अनुभवी शिक्षाविदों की एक समिति का संगठन किया गया है जिसके तत्त्वावधान में इस ग्रंथमाला का संपादन तथा प्रकाशन हो रहा है। इस समिति में अनुभवी शिक्षक, हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विद्वान तथा प्रशिक्षण-विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।

इन पुस्तकों की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(क) पुस्तकों के संपादन में यह ध्यान रखा गया है कि उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के सभी प्रमुख रूपों की जानकारी मिल सके। इसी दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन कवियों तथा लेखकों की उत्कृष्ट रचनाएँ संगृहीत की गई हैं।

(ख) विद्यार्थियों के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठानेवाली रचनाओं को विशेष स्थान दिया गया है। निराशावादी एवं भाग्यवादी रचनाएँ यथासंभव सम्मिलित नहीं की गई हैं। इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने के साथ-साथ विद्यार्थी विश्वजनीन दृष्टिकोण भी अपना सकें।

(ग) साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध ऐसी रचनाओं को प्राथमिकता दी गई है जिनसे भारत की राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता को बल मिले। हिन्दीतर भाषाओं से अनूदित कुछ रचनाओं के संकलन का यही प्रयोजन है।

(घ) रचनाओं को छात्रों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप बनाने के लिए कहीं-कहीं उनका आवश्यक संपादन भी किया गया है, पर ऐसा करते समय दृष्टि यही रही है कि रचना के साहित्यिक सौष्ठव को कोई क्षति न पहुँचे।

(ङ) रचनाओं के संकलन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थियों को रोचक ढंग से एक ओर ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों और दूसरी ओर साहित्य की विविध शैलियों का बोध हो सके।

(च) अध्ययन-अध्यापन की सुविधा की दृष्टि से गद्य तथा काव्य की पुस्तकों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। इनमें से पहला भाग नवीं कक्षा के लिए है और दूसरा भाग दसवीं तथा ग्यारहवीं कक्षाओं के लिए। नवीं कक्षा के भाग में अपेक्षाकृत सरल रचनाएँ ही संकलित की गई हैं क्योंकि इस कक्षा में छात्र साहित्य में प्रवेश करते हैं।

(छ) पुस्तकों के प्रथम भाग की भूमिका में साहित्य-शिक्षा के उद्देश्यों का संक्षिप्त उल्लेख है। द्वितीय भाग की भूमिका में हिन्दी गद्य तथा कविता के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। पाठों के अंत में विषय से संबद्ध प्रश्न और अभ्यास तथा पुस्तक के अंत में गूढ़ार्थ-व्यंजक टिप्पणियाँ हैं। इनसे अध्ययन-अध्यापन में सुविधा होगी।

कृती लेखकों तथा उनके प्रकाशकों ने उदारतापूर्वक अपनी-अपनी रचनाएँ संकलन में सम्मिलित करने की स्वीकृति प्रदान कर हमें उपकृत किया है—हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं। हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति के विद्वान सदस्यों, संपादन-सलाहकारों तथा अन्य विशेषज्ञों के प्रति जिन्होंने इन पुस्तकों के संपादन में सहायता दी है, हम आभार प्रकट करते हैं। शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार में निपुण इस विद्वन्मंडल के अथक सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

गद्य-संकलन

प्रथम भाग

(नवीं कक्षा के लिए)

गद्य-संकलन

(प्रथम भाग)

गद्य-संकलन का यह भाग उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की नवीं कक्षा के लिए तैयार किया गया है। किशोरावस्था में प्रवेश करते हुए विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास, भाषा-ज्ञान तथा रुचि को ध्यान में रखकर ही पाठ्यसामग्री का चयन किया गया है। 'यूरोप-यात्रा' शीर्षक पाठ यदि उनकी भ्रमणवृत्ति को परितोष देगा तो 'स्मृति' शीर्षक संस्मरण से उन्हें विपत्ति में धैर्य तथा साहस धारण करने की प्रेरणा मिलेगी। 'सागर-दर्शन' से उन्हें विज्ञान की खोजों का परिचय मिलेगा। 'सत्य और अहिंसा' तथा 'भारत की सांस्कृतिक एकता' शीर्षक पाठों से छात्रों के मन में अपने देश की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर के प्रति गौरव का भाव जगेगा तो 'हिमपात' में वे प्रकृति के एक मनमोहक चित्र के दर्शन करेंगे। 'साहित्य की महत्ता' पाठ छात्रों को साहित्य के महत्त्व से परिचित कराएगा और 'फतहपुर सीकरी' में वे साहित्यिक गद्य की भावात्मक शैली का मनोहारी रूप देख सकेंगे। भाषा और शैली के प्रसंग में जहाँ वे स्व० प्रतापनारायण मिश्र के 'दाँत' शीर्षक निबंध में हिन्दी-गद्य का प्रारंभिक रूप पाएँगे वहाँ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'एक कुत्ता और एक मैना' में उन्हें आधुनिक हिन्दी-गद्य के परिनिष्ठित रूप की झाँकी मिलेगी।

संक्षेप में, गद्य-संकलन के पाठचयन में हमारा उद्देश्य यह रहा है कि सुकुमा-रमति विद्यार्थियों को हिन्दी गद्य के विविध रूपों की सामान्य जानकारी के साथ-साथ भाषा और शैली की विविधता का भी परिचय प्राप्त हो सके।

कहानी तथा एकांकी नाटक के लिए पृथक पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की योजना है, इसलिए इस संकलन के दोनों भागों में केवल निबंधों को ही स्थान दिया गया है।

विषय-सूची

भूमिका

गद्य-संकलन का यह भाग नवीं कक्षा के उन छात्रों के लिए तैयार किया गया है जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। संकलित निबंधों के अध्ययन द्वारा पठन-योग्यता की प्राप्ति और विभिन्न विषयों की अच्छी पुस्तकें पढ़ने में रुचि उत्पन्न कराना संकलन के इस भाग का मुख्य लक्ष्य है, जिससे उपयुक्त स्तर की सामग्री शीघ्रातिशीघ्र पढ़कर बालक उसका अर्थ समझ लें और उसके साहित्यिक सौन्दर्य की अनुभूति कर सकें। अच्छी पठन-योग्यता के लिए हिन्दी-साहित्य की प्रमुख कृतियों एवं साहित्यकारों से परिचित होना जितना आवश्यक है, उतना ही वैज्ञानिक निबंधों, यात्रा-विवरणों तथा अन्य ज्ञानात्मक विषयों की पुस्तकों का पढ़ना भी। विषय की जानकारी जितनी ही अधिक होती है और उसकी शब्दावली से हम जितने ही अधिक परिचित होते जाते हैं उतना ही अधिक ज्ञान तद्विषयक सामग्री को पढ़कर प्राप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से इस भाग में हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध लेखकों के विभिन्न विषयों के लेख रखे गए हैं।

उच्चतर माध्यमिक स्तर की तीनों कक्षाओं को एक इकाई मानकर यह संकलन तैयार किया गया है। कुछ प्रतिनिधि लेखकों की ही रचनाएँ संकलन के इस भाग में रखी गई हैं।

इस भाग में दी हुई पाठ्यसामग्री गहन और विशद अध्ययन के लिए है। आवश्यकतानुसार उसे बार-बार पढ़ा जाए और उस पर विचार किया जाए। परंतु अन्य सामग्री पढ़े बिना पठन-कार्य पूरा नहीं समझना चाहिए। द्रुत-पाठ के लिए निर्धारित पुस्तकें इस उद्देश्य में सहायक अवश्य होती हैं, परंतु वे भी संपूर्ण पठनीय साहित्य का स्थान नहीं ले सकतीं। इसीलिए पुस्तकालय की व्यवस्था होती है और उसका अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिए। इस स्तर पर पाठ्यपुस्तक के सहारे भाषा के अन्य कौशल, जैसे बोलने और लिखने, का भी अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के सर्वतोमुखी प्रयत्न से भाषा के विविध अंग सीखने में समय और श्रम की बचत होती है। इसी उद्देश्य से प्रत्येक पाठ के अंत में अभ्यास के लिए प्रश्न जोड़ दिए गए हैं। पाठ पढ़ने के उपरांत उनका उपयोग करना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संकलन के इस भाग का उद्देश्य पठन-योग्यता की प्राप्ति है। पठन-योग्यता का संबंध गद्य-साहित्य से होता है। गद्य का उद्देश्य जहाँ मुख्यत: वस्तुबोध कराना है, वहाँ कविता का भाव-सौन्दर्य की अनुभूति। गद्य में तर्क और युक्ति के आश्रय से लेखक अपनी बात कहता चलता है; वाक्यों में विषय-प्रतिपादन की क्रमबद्धता रहती है; कुछ वाक्य-समूहों के एक अनुच्छेद

में विषय के एक अंग का वर्णन होता है और सब अनुच्छेद एक विषय-सूत्र में गुँथे रहते हैं। अध्ययन-कर्त्ता के लिए इस विषय-सूत्र का अनुसरण करना आवश्यक है। ये अनुच्छेद विषय को हृदयंगम करने में उसी प्रकार सहायक होते हैं जैसे ऊपरी मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ। कविता का प्रभाव मुख्यतः उसके समग्र रूप पर आश्रित रहता है और उसकी अनुभूति भाव, संगीत, रस, अलंकार, शब्द-चित्र आदि सौन्दर्य-तत्त्वों पर निर्भर होती है।

पढ़ना विद्यालय की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है, क्योंकि उसी पर समस्त विषयों का ज्ञानार्जन निर्भर है। भाषा के अन्य अंगों, जैसे लिखने और बोलने, की योग्यता भी पढ़ने पर आधृत होती है। पर्याप्त अध्ययन के बिना न कोई व्यक्ति अच्छा लेखक बन सकता है न वक्ता। इसलिए माध्यमिक स्तर पर अभीष्ट पठन-योग्यता के अर्जन की चेष्टा होनी चाहिए। इससे दोहरा लाभ होगा—एक ओर तो भाषा की योग्यता बढ़ेगी और दूसरी ओर अन्य विषयों के ज्ञानार्जन में भी सुविधा रहेगी।

पढ़ना दो प्रकार का होता है—मौन और व्यक्त। मौन पठन स्वयं अर्थ समझने के लिए होता है और व्यक्त पठन प्रायः पढ़ी जाती हुई वस्तु को अन्य व्यक्तियों को सुनाने व समझाने के लिए। मौन पठन की आवश्यकता सर्वाधिक होती है क्योंकि यही ज्ञानार्जन का मुख्य साधन है, और इससे अधिकाधिक सामग्री पढ़ने में समय और श्रम की बचत होती है। इसलिए मौन पठन की गति जितनी अधिक हो जाए, उतना ही अच्छा है। परन्तु व्यक्त पठन की गति वही होनी चाहिए जो सामान्य बोलचाल में रहती है। इसमें उच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता तथा अर्थ और भाव के अनुसार वाणी का उतार-चढ़ाव आवश्यक है।

पढ़ना क्रियात्मक विषय है। इसे सीखने के लिए प्रचुर मात्रा में पढ़ने की आवश्यकता है। इसके तीन मुख्य अवयव हैं—अर्थ-बोध, शब्द-भांडार और पठन-गति।

अर्थ-बोध—अर्थ-बोध पठन-क्रिया का मुख्य अंग है। पूर्वज्ञान, शब्द-भांडार, विचारों के विश्लेषण-संश्लेषण एवं पठन-गति पर अर्थ-ग्रहण आधृत होता है। अच्छे पढ़नेवाले पठित अंग का अर्थ तत्काल ग्रहण करते चलते हैं, अनावश्यक अंगों को छोड़कर आवश्यक अंगों को स्मरण रखते हैं और गृहीत अर्थ-खंड को जोड़कर अनुच्छेद का तथा फिर पूरे पाठ का सार समझ लेते हैं। रुक-रुककर पढ़ने से इन अर्थों को जोड़ने में कठिनाई होती है। इसलिए यह देखा गया है कि द्रुतगति से पढ़नेवालों के द्वारा गृहीत अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। मौन पठन में गुनगुनाना भी अर्थ-बोध में बाधक होता है। इसलिए पढ़ते समय अर्थ की ओर ही ध्यान रखने की आवश्यकता है और इसके लिए खंडों की जगह समूचे अर्थ पर ध्यान देना उपयोगी सिद्ध होता है।

अच्छे पाठकों को आगे आनेवाले अर्थ का पूर्वाभास होता चलता है। यह पूर्वाभास ही अच्छे पठन की पहचान है और इस क्षमता की उपलब्धि अच्छे पठन के लिए आवश्यक भी है।

अर्थ-बोध की योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से निम्नलिखित बातें सहायक होंगी :

(१) अनुच्छेदों का सार बनाना और उनका शीर्षक देना।
(२) अनुच्छेदों के अर्थों को जोड़कर पूरे पाठ का सारांश तैयार करना।
(३) प्रसंग द्वारा शब्दों का अर्थ समझ लेना।
(४) बिना प्रत्येक शब्द का अर्थ जाने हुए पूरे अवतरण का अर्थ जान लेना।
(५) खंड, समास-विग्रह, संधिविच्छेद करके शब्दों का अर्थ निकाल लेना।
(६) आवश्यकतानुसार कोश की सहायता से प्रसंगानुकूल शब्दार्थ जान लेना।
(७) मुहावरों, लाक्षणिक प्रयोगों, रूपकों आदि द्वारा व्यक्त भाव का अर्थसूत्र से संबंध-निर्वाह करना।
(८) अनुक्रमणिका और विषय-सूची की सहायता से पुस्तक में से अभीष्ट विषय-सामग्री का चयन कर लेना।
(९) विभिन्न स्थानों से एक ही विषय की सामग्री का चयन करके संबद्ध अर्थ प्राप्त कर लेना।
(१०) अपने ज्ञान के आधार पर पठित सामग्री का मूल्यांकन करना, अर्थात् उसकी उपयोगिता, औचित्य, पूर्णता आदि के विषय में निर्णय करना, चरित्र-चित्रण करना आदि।

शब्द-भांडार—विविध प्रसंगों में शब्दों के प्रयोग देखकर उनकी सही जानकारी होती है। अतः शब्द-भांडार बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय है—विभिन्न प्रसंगों में और अनेक अवसरों पर शब्दों से साक्षात्कार होना। स्थितियों की विभिन्नता और बहुलता तथा कालांतर पर शब्दों की जानकारी निर्भर है, परंतु कुछ सचेष्ट प्रयत्न भी शब्द-भांडार बढ़ाने की दृष्टि से सहायक सिद्ध होते हैं। जैसे :

(१) शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन करना और याद करना। अग्नि, जल, सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, फूल, बादल, हाथी, घोड़ा आदि शब्दों के अनेक पर्याय रूप होते हैं।
(२) शब्दों के अर्थ बताना, जैसे—रत्नाकर=समुद्र, रत्नगर्भा=पृथ्वी, स्यंदन=रथ आदि; तथा अनेक शब्दों के लिए एक शब्द देना,

जैसे—'विश्वास करने योग्य' के लिए 'विश्वसनीय', 'आरंभ से लेकर अंत तक' के लिए 'आद्यंत', 'भूत, वर्तमान और भविष्य को देखने वाला' के लिए 'त्रिकालदर्शी', 'सब कुछ जानने वाला' के लिए 'सर्वज्ञ' आदि।

(३) साहचर्यवाले शब्दों का संकलन :

(क) समानप्राय अर्थवाले शब्दों के अर्थ का अंतर समझना, जैसे—शोध, अनुसंधान, गवेषणा; शोक, दुःख, ग्लानि; ईर्ष्या, स्पर्द्धा, द्वेष; स्नेह, प्रेम; उन्नति, उत्कर्ष आदि।

(ख) एक ही वर्ग अथवा प्रसंग के शब्द, जैसे—चौदह रत्न, दश दिशाएँ, षट् ऋतुएँ, त्रिगुण, नवरस आदि के नाम।

(ग) विलोम, जैसे—उत्थान-पतन, अनुराग-विराग, सरल-कुटिल या कठिन, प्रत्यक्ष-परोक्ष, सम्मुख-विमुख आदि।

(घ) समानप्राय उच्चारण किन्तु भिन्न अर्थवाले शब्द, जैसे—लक्ष-लक्ष्य, अनल-अनिल, परिमाण-प्रमाण, परिहार-प्रहार, ग्रह-गृह आदि।

(ङ) एक ही धातु से निकले शब्द, जैसे—आहार-विहार, संहार-प्रहार, स्थान-स्थिति-स्थावर आदि।

(४) शब्दों का वाक्यों में प्रयोग—बहुत-से ऐसे शब्द होते हैं जिनके अर्थ की अभिव्यक्ति वाक्यों के प्रयोग से स्पष्ट होती है, अन्यथा उनका अर्थ बताना सरल नहीं होता। उनके प्रयोग का अभ्यास करना चाहिए। जैसे—पराकाष्ठा, युक्ति, तर्क, अवधि, शिष्टाचार।

(५) शब्दकोश देखना—शब्दकोश देखने से शब्द-भांडार की वृद्धि में बहुत सहायता मिलती है। इससे अभीष्ट अर्थ के अतिरिक्त प्रस्तुत शब्द के अन्य अर्थों का भी पता चलता है और पृष्ठों के उलटने-पलटने से और भी कई शब्द प्रायः हाथ लग जाते हैं। शब्दकोश देखने के विषय में कुछ बातें आगे बताई गई हैं।

(६) शब्द-रचना—संधि, समास, उपसर्ग एवं प्रत्यय की सहायता से हिन्दी में शब्दों की रचना होती है। उपसर्ग, प्रत्यय एवं धातु के आधार पर शब्द-रचना का अभ्यास करना चाहिए। जैसे—'अनु' से अनुसार, अनुकरण, अनुसरण, अनुज, अनुगामी, अनुकूल; 'प्रति' से प्रतिक्रिया, प्रतिनिधि, प्रतिध्वनि आदि। इसी प्रकार 'अनु', 'उत्', 'उप', 'वि' आदि की सहायता से शब्दों की सूची बनानी चाहिए। उपसर्ग लगाने से प्रकृत शब्द के अर्थ में क्या

उत्कर्ष, अपकर्ष, विस्तार या संकोच होता है या किस प्रकार उसका विलोम बन जाता है, इसका भी सामान्य ज्ञान होना चाहिए, जैसे—'ज्ञान' के साथ लगकर 'वि' अर्थ का उत्कर्ष करता है, पर 'देश' के साथ जुड़कर उसका विलोम बना देता है। प्रत्यय लगाकर शब्द के विविध रूप बनाने का अभ्यास भी आवश्यक है। 'क', 'द', 'मात्र', 'प्रद', 'पूर्वक' आदि द्वारा शब्द-रचना का अभ्यास करना चाहिए।

संधि करना, संधि तोड़ना तथा समास-रचना शब्द-भांडार की वृद्धि में सहायक होते हैं; अतः इनका भी अभ्यास आवश्यक है।

(७) शब्द-कोश तैयार करना—पढ़े हुए शब्दों की सूची बनाना और उन्हें अकारादि क्रम से लगाना।

(८) शब्द-युग्म (जोड़े) बनाना, जैसे—अन्न-जल, आकार-प्रकार, ज्ञान-विज्ञान, मान-मर्यादा, ईर्ष्या-द्वेष आदि।

(९) विशेषणों से भाववाचक संज्ञा बनाना तथा भाववाचक संज्ञाओं से विशेषण बनाना।

(१०) विलोमार्थी विशेषण बनाना, जैसे—अधिकार से अनधिकार, अंत से अनंत आदि।

(११) लिंग एवं वचन-विकारसंबंधी अभ्यास करना।

(१२) उपयुक्त विशेषण तथा क्रियाविशेषण ढूंढ़ना और उनका अभ्यास करना, जैसे—घनघोर घटा, प्रचंड पवन, अथाह जल, अतल गहराई, गगनचुंबी अट्टालिका, तीव्र या मंद गति, घनिष्ठ संबंध आदि।

पठन-गति—ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थ-बोध का पठन-गति से घनिष्ठ संबंध है। यह बात सभी प्रकार की सामग्री के लिए सत्य है। फिर भी, कुछ पठन-सामग्री ऐसी होती है, जिसमें अधिक समय लगाना अभीष्ट नहीं होता और उसे तीव्र गति से पढ़ना होता है, जैसे—समाचारपत्र, कथा-कहानी आदि। अतः हमें यह प्रयत्न करना चाहिए कि इन्हें शीघ्रातिशीघ्र पढ़कर अर्थ ज्ञात कर लें।

पठनक्रिया की गति भी बहुत-कुछ पठन-अभ्यास पर निर्भर है। सामग्री की जटिलता अथवा सरलता तथा पूर्वपरिचय के अनुसार पठन-गति न्यूनाधिक होती रहती है। सामान्यतः सरल सामग्री बार-बार पढ़ने से शीघ्र पढ़ने की आदत हो जाती है।

कोश देखना––कोश देखने के संबंध में निम्नलिखित बातें जानना आवश्यक है :

(१) वर्णमाला में स्वर और व्यंजन जिस क्रम से दिए रहते हैं, उसी क्रम में उनके द्वारा बने हुए शब्द कोश में दिए जाते हैं। शब्द के अक्षरों को क्रमानुसार देखते हुए कोश में शब्द ढूँढ़ना चाहिए।

(२) अनुस्वार एवं चंद्रबिन्दुवाले अक्षर पहले रहते हैं, जैसे––'कं' 'क' के पहले और 'कां' 'का' के पहले मिलेंगे। जिन शब्दों में हलंत पंचम अनुनासिक वर्ण के स्थान पर विकल्प से अनुस्वार का प्रयोग होता है वे कोश में केवल अनुस्वार के साथ दिए जाते हैं।

(३) स्वरांत वर्णों के समाप्त होने पर हलंत अर्थात् आधे अक्षर दिए होते हैं, जैसे––'कौ' के बाद 'क्' आएगा।

(४) व्याकरण-संबंधी निर्देश भी कोश में संक्षेप में लिखे रहते हैं और संक्षिप्त संकेतों की सूची भी प्रारंभ में रहती है, जैसे––'वि०'–विशेषण, 'सं०'–संस्कृत, 'फ़ा०'–फ़ारसी आदि। इन्हें देख लेना चाहिए।

(५) बड़े कोशों में शब्दों के प्रयोग भी दिए रहते हैं, उनसे लाभ उठाना चाहिए।

(६) कोश में शब्द के सभी अर्थ लिखे रहते हैं। प्रसंग के अनुसार उपयुक्त अर्थ ढूँढ़ लेना चाहिए।

विषयवस्तु और कला––निबंध के अध्ययन में उसके दोनों तत्त्वों की ओर ध्यान देना आवश्यक है––(१) विषयवस्तु (२) अभिव्यक्ति अथवा शैली। विषयवस्तु की दृष्टि से निबंध कई प्रकार के हो सकते हैं––(क) वर्णनात्मक, जैसे––**'यूरोप-यात्रा'** (ख) विचारात्मक, जैसे––**'भारत की सांस्कृतिक एकता'** (ग) भावात्मक, जैसे––**'फतहपुर सीकरी'**। निबंध की प्रभविष्णुता इस विषयवस्तु के उपयुक्त निर्वाचन, क्रम और गठन पर निर्भर होती है। जिन बातों को लेखक अधिक प्रभावपूर्ण बनाना चाहता है, उन्हें वह दुहराता है, आलंकारिक भाषा में कहता है अथवा मुख्य बातों की ओर 'सारांश यह', 'तात्पर्य यह' आदि शब्दों द्वारा पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। अतः निबंधों का अध्ययन करते समय यह देखना चाहिए कि लेखक विषयवस्तु के निर्वाचन, क्रम-विकास, गठन और प्रतिपादन में किस तरह और कहाँ तक सफल हुआ है।

विषयवस्तु के अतिरिक्त निबंध के शैली-पक्ष की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। लेखक अपनी बात पाठक तक इस रूप में पहुँचाना चाहता है कि उसपर अभीष्ट प्रभाव पड़ सके। इसकी सफलता उसकी वर्णन-शैली और भाषा के प्रयोग पर भी निर्भर है। अतः यह देखना चाहिए कि लेखक का शब्दचयन कैसा

है, यथा--तत्सम, तद्भव, देशज, सरल, कठिन, समासयुक्त आदि; उसका वाक्य-विन्यास कैसा है, यथा--सरल, संक्षिप्त, संयुक्त, जटिल या मिश्रित आदि। शब्द-मैत्री, शब्द-संतुलन, मुहावरों और आलंकारिक प्रयोगों आदि से कथन की शक्ति बढ़ती है।

अर्थ की अभिव्यक्ति, व्याख्या आदि--व्याख्या, केन्द्रीय भाव अथवा सारांश को छात्र बहुधा कंठ कर लेने का प्रयत्न करते हैं। यह ठीक नहीं। उन्हें अपने समझे हुए अर्थ को सरल भाषा में व्यक्त करने का अभ्यास करना चाहिए। यदि ऊपर बताई हुई विधि से वे पठन-कार्य करेंगे तो इसमें कठिनाई नहीं होगी। वर्णित विषय को यथासंभव अन्वितियों या खंडों में बाँट लेना चाहिए और प्रत्येक बात के ऊपर अपने मन में एक प्रश्न-सा बना लेना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यदि छात्र अपनी ओर से लिखेंगे तो प्रायः अभीष्ट व्याख्या अपने आप बन जाएगी। आरंभ में वर्णित विषय का सारांश बता देना अथवा पूर्व-अंश का संक्षेप में उल्लेख व्याख्या की सुसंबद्धता के लिए आवश्यक होता है। केन्द्रीय भाव ढूंढ़ने का अभ्यास भी विषयवस्तु के बोध और रसास्वादन में सहायक होता है।

शिक्षण की दृष्टि से प्रस्तावित क्रम

संकलन के इस भाग में कालक्रम की दृष्टि से पाठों को रखा गया है । पर अध्ययन-अध्यापन के समय इस क्रम का पालन आवश्यक नहीं है। स्थानीय विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अध्यापकों को इस क्रम में परिवर्तन कर लेना चाहिए । उदाहरणार्थ, सरलता एवं रोचकता की दृष्टि से एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक क्रम इस प्रकार हो सकता है :

१. स्मृति	श्रीराम शर्मा
२. यूरोप-यात्रा	राजेन्द्रप्रसाद
३. हिमपात	राहुल सांकृत्यायन
४. सागर-दर्शन	रामदास गौड़
५. भारत की सांस्कृतिक एकता	गुलाबराय
६. फतहपुर सीकरी	रघुबीरसिंह
७. एक कुत्ता और एक मैना	हजारीप्रसाद द्विवेदी
८. साहित्य की महत्ता	महावीरप्रसाद द्विवेदी
९. सत्य और अहिंसा	मोहनदास करमचंद गांधी
१०. दांत	प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र

श्री प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सन् १८५६ ई० में ज़िला उन्नाव (उत्तरप्रदेश) के बैजेगाँव में हुआ था। स्वाध्याय से ही इन्होंने हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इन्होंने अनेक वर्षों तक कालाकाँकर से निकलने वाले **'हिन्दोस्तान'** नामक समाचारपत्र के सहकारी संपादक के रूप में कार्य किया। सन् १८८४ ई० में इन्होंने अपना साहित्यिक पत्र **'ब्राह्मण'** निकाला, जिसका संपादन तथा प्रकाशन वे दस वर्ष तक करते रहे। सन् १८९४ ई० में कानपुर में प्रतापनारायण मिश्र की मृत्यु हुई।

ये भारतेन्दु-मंडल के प्रसिद्ध निबंधकार थे। **'दाँत'**, **'भौं'**, **'द'**, **'त'**, **'ट'**, **'धोखा'** जैसे साधारण विषयों पर भी इन्होंने बड़े रोचक निबंध लिखे हैं। उनमें हास्य और व्यंग्य का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है। ये मुहावरों की झड़ी-सी लगा देते हैं। संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग इन्होंने निःसंकोच किया है; साथ ही स्थानीय प्रयोग भी इनकी भाषा में प्रायः मिलते हैं। मिश्र जी की शैली इतनी विशिष्ट है कि इनके निबंधों को देखते ही हम पहचान लेते हैं।

निबंध के अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र ने कविता तथा नाटक भी लिखे हैं। नाटक पुरानी शैली के हैं, जिनके विषय ऐतिहासिक और सामाजिक हैं। कविताओं का विषय समाज-सुधार है। इनकी रचनाओं में समाज-सेवा एवं राष्ट्रीयता की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

मिश्र जी के निबंधों का संग्रह **'प्रतापनारायण ग्रंथावली'** नाम से नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ है। **'हठी हम्मीर'**, **'कलिकौतुक रूपक'**, **'भारत दुर्दशा'** आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं।

हास्य व्यंग्य का पुट देते हुए **'दाँत'** के माध्यम से मिश्र जी ने जीवन के अनेक व्यावहारिक पक्षों पर प्रकाश डाला है। यहाँ दाँत के संबंध में अनेक मुहावरों—**दाँत दिखाना, दाँतों तले अँगुली दबाना, दाँत लगाना** आदि—का सुंदर प्रयोग मिलता है।

प्रतापनारायण मिश्र

दाँत

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी-सी छोटी-छोटी हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि किसके मुँह में दाँत हैं जो पूरा-पूरा वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक, भ्रू तथा बरुनी आदि की छवि लिखने में बहुत-बहुत रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है। जब दाँतों के बिना पुपला-सा मुँह निकल आता है और चिबुक एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मिट्टी में मिल जाती है। कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है वह बहुत ठीक है; वरंच ये अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं।

यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्य-शास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मज़ा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया भर की चीज़ों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शनमात्र हमसे सुन लीजिए——(१) शृंगार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद ही कोई हो जिसने सुंदरियों की दंतावली के वर्णन में अपनी कलम की कारीगरी न दिखाई हो, (२) हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब तक हँसते-हँसते दाँत न निकल आएँ, (३) करुण और (४) रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दाँत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं, एवं अपनी दीनता दिखाके दूसरे में करुणा उपजाने में दाँत दिखाए जाते हैं। रिस में भी दाँत पीसे जाते हैं, (५) सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु के सैन्य अथवा दुखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दाँत लगा

रहता है, (६) भयानक रस के लिए सिंह-व्याघ्रादि के दाँतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे, (७) बीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी के ऐसे दाँत देख लीजिए, जिनकी छोटी-सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चिपक जाता है, (८) अद्‌भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख-सुन के दाँत बाय, मुँह फैलायके हक्का-बक्का रह जाते हैं, (९) शांत रस के उत्पादनार्थ श्री शंकराचार्य स्वामी का यह पद महामंत्र है—'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम्' आदि। सच है, जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन ? 'दाँत खियाने खुर घिसे पीठ बोझ नहिं लेइ, ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध भुस देइ।' जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दाँत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत्-चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया ? आपकी हड्डियाँ हाथी के दाँत तो हैं नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आएँगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है।

आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दंतावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि हमारी प्रशंसा करते हैं। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने-योग्य हड्डी हो जाते हैं—'मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़'। हम नहीं जानते कि नित्य यह देखके भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिंदू-मुसलमानों का साथ तन, मन, धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते। याद रखिए, 'स्थानभ्रष्टाः न शोभंते दंताः केशाः नखाः नराः'। हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता वरंच एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेशचिन्ता के लिए कुछ काल देशांतर में रह आएँ तो आपकी बड़ाई है। पर हाँ, यदि वहाँ

जाके यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से मुँह के बाहर रह जाते हैं और सारी शोभा खोके भेड़िए के-से दाँत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दाँतों का परदा हैं, जिसके परदा न रहा अर्थात् स्वजातित्व की ग़ैरतदारी न रही, उसकी निर्लज्ज ज़िन्दगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसा ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देशभाई पर सदा हमारे देश, जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं। उनके होने का हमें कौन सुख है? हम तो उनकी जैजैकार मनाएँगे जो अपने देशवासियों से दाँतकाटी रोटी का बर्ताव रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे।

कोई हमारे लेख देख दाँतों तले उँगली दबाके सूझ-बूझ की तारीफ़ करे अथवा दाँत बायके रह जाए या अरसिकतावश यह कह दे कि कहाँ की दाँता-किलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दाँत जिस ओर लगा है वह लगा रहेगा। औरों की दंतकटाकट से हमको क्या! यदि दाँतों के संबंध का वर्णन किया चाहें तो बड़े-बड़े ग्रंथ रँग डालें और पूरा न पड़े। आदिदेव श्री एकदंत गणेश जी को प्रणाम करके श्रीपुष्पदंताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है उन शिव जी की महिमा, दंतवक्त्र शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटि जन्म पार न पाएँ। नाली में गिरी हुई कौड़ी को दाँत से उठानेवाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तो भी लिखते-लिखते थक जाएँ। हाथीदाँत से क्या-क्या वस्तु बन सकती है; कलों के पहियों में कितने दाँत होते हैं और क्या-क्या काम देते हैं; गणित में कौड़ी-कौड़ी के एक-एक दाँत तक का हिसाब कैसे लग जाता है; वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या निषेध है, क्या फल है, क्या हानि है; पद्धति-कारों ने 'दीर्घदंताः क्वचिन्मूर्खाः' आदि क्यों लिखा; किस-किस जानवर के दाँत किस-किस प्रयोजन से किस-किस रूप-गुण से

विशिष्ट बनाए गए हैं; मनुष्यों के दाँत उजले, पीले, नीले, छोट, मोटे, लंबे, चौड़े, घने, खुड़हे कै रीति के होते हैं, इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। वरंच यह भी कहना ठीक है कि ये बड़ी-बड़ी विद्याओं के बड़े-बड़े विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दाँतों फूटने के नहीं। तिसपर भी अकेला आदमी क्या-क्या लिखे? अतः हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए कुछ भी उठा न रक्खें। तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वासयोग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

प्रश्न और अभ्यास

१. नौ रसों के नाम लिखिए तथा बताइए कि लेखक ने इन रसों के साथ दाँत का क्या संबंध माना है?

२. लेखक ने दाँत का महत्त्व किन युक्तियों एवं प्रमाणों से सिद्ध किया है?

३. इस पाठ में **'बाल की खाल निकालना'**, **'दाँत पीसना'** आदि अनेक मुहावरों एवं **यावत्**, **चिबुक** आदि अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। अन्य मुहावरों तथा तत्सम शब्दों को चुनकर लेखक की भाषा की विशेषताएँ बताइए।

४. निम्नलिखित मुहावरों का प्रयोग अपने वाक्यों में कीजिए:
दाँतों तले अँगुली दबाना, दाँत लगाना, दाँत काटी रोटी होना, दाँत दिखाना।

५. 'वरन्', 'पर', 'एवं' और 'तथापि' संयोजकों की सहायता से नीचे लिखे वाक्यांशों को जोड़कर पूर्ण वाक्य बनाइए। वाक्य बनाते समय बाईं ओर के वाक्यांशों का संयोजन दाईं ओर के **उपयुक्त** वाक्यांशों से कीजिए:

क. माँ के लिए बेटे से बढ़कर कुछ नहीं है	**क. एक प्रकार की शोभा होती है**
ख. मनुष्य के भीतर विद्यमान पशुत्व का लक्षण है घृणा	**ख. उन्होंने हिम्मत नहीं हारी**
ग. हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता	**ग. देश के लिए वह उसे भी बलिदान कर देती है**
घ. यद्यपि राणा प्रताप संकटों से घिरे थे	**घ. हँसते समय उनका दिखाई पड़ जाना शोभा मानी जाती है**
ङ. दाँतों का हर समय बाहर निकले रहना कुरूपता मानी जाती है	**ङ. आत्मसंयम तथा सौहार्द मनुष्यता के प्रतीक हैं**

—

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन्, १८६४ ई० में ज़िला रायबरेली (उत्तरप्रदेश) के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर इन्होंने रेल-विभाग में नौकरी कर ली। उस समय भी इनका स्वाध्याय बराबर चलता रहा और इन्होंने हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती तथा मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। कुछ समय बाद रेलवे की नौकरी छोड़ कर सन् १९०३ ई० से ये **'सरस्वती'** नामक मासिक पत्रिका का संपादन करने लगे। सत्रह वर्ष के संपादन-काल में इन्होंने हिन्दी को नई गति तथा नई शक्ति दी। अनेक कवियों एवं लेखकों को इनसे प्रोत्साहन मिला। सन् १९३८ ई० में द्विवेदी जी की मृत्यु हुई।

द्विवेदीजी मुख्यतः निबंधकार और समालोचक थे। इन्होंने साहित्यिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक आदि अनेक विषयों पर निबंध लिखे। ये कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल बना देते थे। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अरबी और फ़ारसी के शान-शौकत, असर, फ़ीस जैसे प्रचलित शब्दों का प्रयोग इन्होंने बिना किसी संकोच के किया है। मुहावरों के प्रयोग की ओर भी इनकी रुचि थी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में युगप्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने गद्य की भाषा का परिष्कार किया और लेखकों की सुविधा के लिए व्याकरण और वर्तनी के नियम स्थिर किए। कविता में उस समय ब्रज-भाषा का ही प्रायः प्रयोग होता था। द्विवेदीजी ने गद्य की भाँति कविता में भी खड़ीबोली का प्रयोग किया और अन्य कवियों को खड़ीबोली में ही कविता करने की प्रेरणा दी। इन्हीं साहित्यिक सेवाओं के फलस्वरूप विद्वानों ने द्विवेदीजी को आचार्य-पद से सम्मानित किया।

'रसज्ञ रंजन', **'साहित्य-सीकर'**, **'साहित्य-संदर्भ'**, **'अद्भुत आलाप'**, **'संचयन'** इनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं। **'द्विवेदी-काव्यमाला'** में कविताएँ संगृहीत हैं।

'साहित्य की महत्ता' नामक इस लेख में द्विवेदीजी ने साहित्य की शक्ति, महत्त्व तथा उपयोगिता का बड़े ही सशक्त शब्दों में वर्णन किया है। इसी संदर्भ में इन्होंने मातृभाषा के महत्त्व का भी व्याख्यान किया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

साहित्य की महत्ता

ज्ञानराशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिन की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसंपन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलंबित रहती है।

जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसकी ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है।

जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है, तो उनके साहित्य-रूपी आइने ही में मिल सकती है। इस आइने के सामने जाते ही हमें तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवन-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बंद कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जाएगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जाएगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाए

तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोज्य पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान और शक्ति-संपन्न होना अच्छे साहित्य पर ही अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करनी है तो हमें श्रमपूर्वक बड़े उत्साह से सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है, शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं, यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोले में भी नहीं पाई जाती। यूरोप में हानि-कारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ने ही किया है, जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसीने बोए हैं, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसीने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसीने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िन्दा करनेवाली संजीवनी ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को

उन्नत करनेवाला है, उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती, वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है, अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेज़ी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनीतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मंद ज़रूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंग्लैण्ड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के माया-जाल में फँसे रहे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथरचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथरचना करने पर भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य व आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही

न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं अनेक भाषाएँ सीख कर ज्ञानार्जन करना चाहिए। द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परंतु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।

प्रश्न और अभ्यास

१. साहित्य किसे कहते हैं? साहित्यविहीन भाषा की क्या स्थिति होती है?

२. प्रस्तुत पाठ के आधार पर निम्नांकित वक्तव्यों की सार्थकता सिद्ध कीजिए :

(क) **जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी वैसा ही होता है।**

(ख) **साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती।**

(ग) **शरीर का खाद्य भोज्य पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य।**

(घ) **ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा होनी चाहिए।**

३. **मान-मर्यादा, घर-द्वार, ईर्ष्या-द्वेष** जैसे समानार्थी एवं **ऊँच-नीच, उत्कर्षापकर्ष** जैसे विलोमार्थी शब्द-युग्मों के पाँच-पाँच उदाहरण लिखिए।

४. नीचे लिखे शब्दों से विशेषण बनाइए :

समाज, नीति, राष्ट्र, भूगोल, उद्योग, व्यवसाय, मानस, भारत।

५. संधि-विच्छेद कीजिए :

नाशोन्मुख, पुनरुत्थान, निराश्रय, गमनागमन, इत्यादि, रसास्वादन।

६. नीचे प्रत्येक शब्द के दो रूप लिखे गए हैं, जिनमें से एक शुद्ध है और दूसरा अशुद्ध। शुद्ध रूप पर सही (✓) का चिह्न लगाइए।

निर्जीव	**निर्जिव**	**शक्ती**	**शक्ति**
वादाविवाद	**वादविवाद**	**आवश्यकता**	**अवश्यकता**
आदरणीय	**आदर्णीय**	**विषेश**	**विशेष**

—

मोहनदास करमचंद गांधी

श्री मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म सन् १८६९ ई० में गुजरात के पोरबंदर अथवा सुदामापुरी में हुआ था। भारत में अध्ययन करने के पश्चात् इन्होंने इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। वहाँ से लौटने पर ये दक्षिण अफ्रीका में बहुत दिनों तक वकालत करते रहे। वहाँ भारतीयों की दुर्दशा देखकर इन्होंने उनके उद्धार के लिए आंदोलन चलाया। यह आंदोलन बिल्कुल नए ढंग का था। इसका उद्देश्य विपक्षी को हानि पहुँचाना न था, बल्कि उसका हृदय परिवर्तित कर अपना अधिकार प्राप्त कर लेना था। सत्य और अहिंसा ही उसका आधार था। इस आंदोलन का नाम इन्होंने **'सत्याग्रह'** रखा। लोकमान्य तिलक के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में आया और इन्हीं के निर्देश में अहिंसात्मक संघर्ष करते हुए भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की। ३० जनवरी १९४८ ई० को हमारे इन राष्ट्रपिता की हत्या कर दी गई।

गांधी जी की मातृभाषा गुजराती थी, परंतु इन्होंने हिन्दी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वे सार्वजनिक सभाओं में हिन्दी में ही व्याख्यान देते थे। ये हिन्दी-प्रचार को देश के उत्थान के लिए अनिवार्य तथा राष्ट्रीय संघर्ष का एक आवश्यक अंग मानते थे। ये **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन** के सभापति भी रहे थे। इन्होंने ही **दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा** की स्थापना की और इनके निर्देशन में इस सभा ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार का बहुत कार्य किया।

गांधी जी ने अंग्रेजी साप्ताहिक **'यंग इंडिया'** तथा उसके हिन्दी-संस्करण **'नवजीवन'** का संपादन किया। बाद में इन्होंने **'हरिजन'** पत्र निकाला, जो हिन्दी के अतिरिक्त अन्य कई भाषाओं में भी निकलता था। इनके व्याख्यानों का संकलन कई भागों में **सस्ता साहित्य मंडल** ने प्रकाशित किया है। **'संपूर्ण गांधी वाङ्मय'** के नाम से भारत-सरकार इनके समस्त लेखों, भाषणों एवं पत्रों का संकलन प्रकाशित कर रही है। गांधी जी की **'आत्मकथा'** अथवा **'सत्य के प्रयोग'** से हमें इनके सिद्धांतों और विचारों का परिचय मिलता है और इनकी चारित्रिक दृढ़ता एवं अध्यवसाय का हमारे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। गांधी जी की भाषा बहुत सरल और हृदय को स्पर्श करनेवाली होती है। गहरी से गहरी दार्शनिक बात को भी वे सीधी-सादी शब्दावली में व्यक्त कर देते हैं।

प्रस्तुत लेख में सत्य और अहिंसा की तात्त्विक विवेचना की गई है। गांधी जी सत्य की आराधना को भक्ति मानते हैं तथा अहिंसा को जीवन के सभी व्यवहारों की आधार-शिला। इनके अनुसार अहिंसा और सत्य एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं।

मोहनदास करमचंद गांधी

सत्य और अहिंसा

(गांधी जी अपनी प्रार्थना-सभाओं में विविध विषयों पर प्रवचन किया करते थे। सत्य और अहिंसा से संबद्ध ये विचार भी इन्होंने २२ और २९ जुलाई १९३० ई० को प्रातःकालीन दो प्रार्थना-सभाओं में व्यक्त किए थे। इन्हीं व्याख्यानों के कुछ अंशों को चुनकर यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है।)

हमारी संस्था का मूल ही 'सत्य का आग्रह' है, इसलिए पहले सत्य को ही लेता हूँ।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को संपूर्णतः समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। उसमें जो न समाए वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनंद तो हो ही कहाँ से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जाएँ तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य, क्या देखने योग्य है, क्या नहीं; क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाए? इसका जवाब भगवान ने दिया है—अभ्यास और वैराग्य से। फिर भी हम पाएँगे कि एक के लिए जो सत्य है दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबराने की बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न

दिखाई देनेवाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य लगे तद-नुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जाएगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट-सहन की बात होती है। उसके पीछे मर मिटना होता है, अतः उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंतपर्यन्त ग़लत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

'सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है, जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है। सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाए रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो। यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिन्तामणि सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हो।'

' सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खाँड़े की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नज़र रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। ज़रा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।'

लेकिन सत्य के संपूर्ण दर्शन तो इस देह से असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अंत में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है। इसी से अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने-वाले संकटों को सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता

जाए और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर आगे तो बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे दंड दिया। उस वक्त के लिए तो वह भाग गया ज़रूर, लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आएगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सज़ा देने की ज़रूरत नहीं है; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाए तो अंत में चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं; ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं। संकट सहते हुए भी शांति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं। हमें कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अंदर भरा हुआ मैल रोज़-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना, इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी

का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर कब्ज़ा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वह जगत के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिन्ता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आएँ, बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए––सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

(नवजीवन ट्रस्ट से साभार)

प्रश्न और अभ्यास

१. इस पाठ के आधार पर सत्य और अहिंसा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

२. निम्नांकित शब्दों का प्रयोग अपने वाक्यों में कीजिए :

साक्षात्कार, ओतप्रोत, शाश्वत, त्याज्य, आराधना, जिज्ञासु, विवेक।

३. निम्नलिखित मुहावरों का अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए :

सिर हथेली पर लेकर चलना, मरकर जीना, खाँड़े की धार पर चलना, जग जीत लेना।

४. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए :

(क) विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है।

(ख) जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देनेवाले पत्तों के समान हैं।

(ग) सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं।

(घ) अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए।

५. नीचे कुछ शब्द लिखे गए हैं। इनमें से सर्वाधिक उपयुक्त शब्द चुनकर निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

श्रद्धा, भक्ति, संकोच, लज्जा, ग्लानि।

(क) गांधी जी की सत्यनिष्ठा पर सबके हृदय में········की भावना उत्पन्न होती है।

(ख) भरत को यह······थी कि राम को मेरे कारण वन जाना पड़ा।

(ग) संत कवि भगवान की अनन्य······में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे।

(घ) मुझे अपने मित्र से रुपया माँगने में······हो रहा है।

(ङ) चित्रकूट में राम से मिलने पर कैकेयी को········हुई।

—

रामदास गौड़

श्री रामदास गौड़ का जन्म सन् १८८१ ई० में जौनपुर (उत्तरप्रदेश) में हुआ था। जौनपुर हाईस्कूल एवं म्योर सैण्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। सन् १९०४ से १९०६ ई० तक इन्होंने कायस्थ पाठशाला, इलाहाबाद में रसायनशास्त्र का अध्यापन किया, इसके बाद कुछ समय तक म्योर सैण्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में रसायनशास्त्र के डिमांस्ट्रेटर के पद पर कार्य किया। उसी बीच इन्होंने रसायनशास्त्र में एम० एस-सी० की उपाधि भी प्राप्त की तथा सन् १९१८ ई० से १९२० ई० तक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के 'प्राच्य विभाग' में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक रहे। सन् १९२० ई० में असहयोग आंदोलन के समय गांधीजी के आह्वान पर इन्होंने हिन्दू विश्व-विद्यालय से त्यागपत्र दे दिया और मिर्ज़ापुर के राष्ट्रीय विद्यालय में काम करने लगे। रामदास गौड़ प्रयाग की **विज्ञान-परिषद्** के संस्थापकों में से थे तथा **'विज्ञान'** शीर्षक पत्रिका के संपादन-प्रकाशन में भी इन्होंने सक्रिय योगदान किया था। गौड़ जी की मृत्यु सन् १९३७ ई० में हुई।

रामदास गौड़ का मुख्य क्षेत्र विज्ञान था। ये **'विज्ञान'** पत्रिका में नियमित रूप से लिखा करते थे। **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन** से प्रकाशित **'हिन्दी भाषासार'** के प्रथम भाग का संपादन भी इन्होंने किया था। राष्ट्रीय विद्यालयों के लिए हिन्दी की सात पाठ्यपुस्तकें भी गौड़ जी ने तैयार कीं। **'विज्ञान हस्तामलक'** शीर्षक पुस्तक पर इन्हें **मंगलाप्रसाद पारितोषिक** प्राप्त हुआ। प्रस्तुत पाठ इसी पुस्तक का एक अंश है।

इस लेख में इन्होंने समुद्र के तल, गहराई, दबाव, उसके जल के तापमान, धाराओं, तूफ़ानों, जीवों आदि के वैज्ञानिक विवरण दिए हैं। लेखक की वर्णन शैली रोचक एवं सुबोध है। वह विज्ञान के शुष्क तथ्यों को भी प्रीतिकर रूप में उपस्थित करती है।

रामदास गौड़

सागर-दर्शन

इस पृथ्वी के संपूर्ण ऊपरी तल का क्षेत्रफल लगभग उन्नीस करोड़ सत्तर लाख वर्गमील है। इसमें से तीन-चौथाई से कुछ कम और दो-तिहाई से उतना ही अधिक अर्थात् चौदह करोड़ वर्गमील सागरों, समुद्रों और झीलों का तल है। स्थलचर मनुष्य समझता है कि सागर का जलतल सीधा-सपाट दर्पण-सा होगा, न कहीं ऊँचा न कहीं नीचा, परंतु वास्तविक तथ्य यह नहीं है। अनेक कारणों से जलतल जगह-जगह ऊँचा-नीचा है। महाद्वीपों के और उनमें के पहाड़ों के खिंचाव से कहिए, या देशमात्र की वक्रता के कारण कहिए, सागरों का जलतल मध्य में गहरा होता है जिससे किसी महासागर का एक छिछले प्याले के अनुरूप अनुमान किया जा सकता है। हिमालय के कारण हिन्द महासागर का मध्य जलतल बहुत धँसा हुआ है। यह ऊपरी जलतल की चर्चा है। जल की गहराई के भीतर नीचे की तली की बात नहीं है। तली की गहराई जानने के लिए तो हज़ारों परीक्षाएँ की गई हैं। हिसाब लगाया गया है कि समुद्र की गहराई ढाई मील के औसत में है। महासागर की तली के छठे अंश के लगभग तो किनारे से लेकर एक हज़ार पुरसों तक की गहराई का होगा। आधे के लगभग दो हज़ार से लेकर तीन हज़ार पुरसों तक होगा। सागरों और समुद्रों में बहुत से ऐसे गड्ढे, नालियाँ, बिल और सुरंगें भी हैं, जो तीन हज़ार पुरसों से भी अधिक गहराई की हैं। प्रशांत महासागर के वायव्य कोण पर सवा पाँच हज़ार पुरसों से भी अधिक गहरे गर्त्त हैं अर्थात् छह मील से भी अधिक गहरे। कहीं हिमालय का एवरेस्ट शिखर, जो संसार की सबसे ऊँची चोटी है, इन गर्त्तों में डाल दिया जा सके तो ऐसा डूबे कि उसके ऊपर आधे मील से अधिक ऊँचाई तक जल रहे। इस प्रकार एवरेस्ट शिखर की ऊँचाई से लेकर प्रशांत महासागर की अधिकतम गहराई तक इस धरती की ऊँचाई-नीचाई की हद है। यह हद कुल साढ़े ग्यारह मील

है। इसी हद के भीतर अंडज, पिण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणी इस संसार में रहते हैं।

जल की ऐसी प्रचंड गहराई के भीतर सूर्य के ताप की पहुँच बहुत थोड़ी दूर तक है। इस कारण जल का अधिक भाग ठंडा ही रहता है। जो गरमी ऊपरी तल पर बढ़ती है वह भाफ बन कर पानी के उड़ते रहने से ऊपरी तल पर ही खर्च होती रहती है। उसके नीचे जाने की नौबत नहीं आती। यदि ऊपरी तल अधिक ठंडा हो जाए तो भाफ का एक आवरण बनकर उसकी बिखरनेवाली गरमी को रोक रखता है। यद्यपि ऊपरी तल पर कहीं कम और कहीं अधिक गरमी होती है तो भी यह तारतम्य बहुत थोड़ी गहराई पर जाकर समाप्त हो जाता है, क्योंकि जल गरमी का बुरा चालक है। सागर-विज्ञान के विशेषज्ञ सर जॉन मरे ने हिसाब लगाया है कि पाँच सौ पुरसों के नीचे तापक्रम प्रायः ४०° फा० से कुछ कम ही रहता है। इस तापांश पर पानी सबसे अधिक घनी दशा में होता है इसलिए दक्षिणी ध्रुव की ओर से हिमसागर का अत्यंत ठंडा जल अपने भार के कारण तली में से ही धीरे-धीरे रेंगता हुआ सारे सागर में फैल जाता है। यह जल बर्फ़ के समान शीतल होता है। इसके गरम होने की कभी नौबत नहीं आ सकती। निदान गहरे समुद्र में शाश्वत शीत का साम्राज्य है।

जब एक लकड़ी के टुकड़े में बोझ बाँध कर समुद्र में गहराई में पहुँचाते हैं और फिर उसे ऊपर खींच लेते हैं, तो बोझ से अलग कर लेने पर वह लकड़ी अब पानी पर नहीं तैरती। कारण यह है कि लकड़ी के सूक्ष्म रंध्रों में से वायु निकल भागती है और दबाव पाकर पानी भर जाता है। लकड़ी भारी हो जाती है और तैर नहीं सकती। इससे यह पता लगता है कि गहराई के भीतर पानी का दबाव बहुत है। हिसाब से पता चलता है कि ढाई हज़ार पुरसों के नीचे की गहराई में प्रत्येक वर्ग इंच पर अठहत्तर मन के लगभग दबाव है। इतने भयंकर चाप पर भी ऐसी गहराई में अत्यंत कोमल और निर्बल शरीरवाले पदार्थ सहज में ही पनपते हैं और रहते हैं। यह बड़ी विचित्र बात मालूम होती है, परंतु अचरज का कोई कारण नहीं

है। पानी का भारी दबाव चारों ओर से अणुओं को अत्यंत अधिक सटा देता है। खुला बरतन अगर बहुत गहराई में डाल दिया जाए तो वह तुरंत पानी से भर जाता है और गहराई का उस पर कोई असर नहीं दीखता। अब एक बोतल लीजिए जो बिल्कुल भरी नहीं है, मगर काग कसा हुआ है। उसे गहराई में डालिए तो या तो काग उसके भीतर घुस जाएगा या बोतल दब कर चकनाचूर हो जाएगी। भौतिक विज्ञानी श्री बुकानन् ने सन् १८७३ ई० में चैलेंजर नामक जहाज़ से पौने अड़तीस सौ पुरसों की गहराई में दो तापमापक यंत्र उतारे थे। वे बिल्कुल पिचके हुए वापस आए। तब उन्होंने एक काँच की नली ली, जो दोनों ओर बंद थी। उसे कपड़े में लपेटा और फिर बेलन के आकार के ताँबे के पात्र में बंद कर दिया। इसके दोनों सिरों पर पानी जाने के लिए छेद बने हुए थे। यह डब्बा तीन हज़ार पुरसों के नीचे डाला गया और फिर निकाल लिया गया। जान पड़ता था कि इस डब्बे पर जहाँ काँच की बंद नलिका रखी हुई थी वहाँ घन से पीटा गया है। काँच की नलिका तो भीतर-ही-भीतर ऐसा चूर्ण बन गई थी कि बारीक बर्फ़ की धूल की तरह लगती थी। सर जॉन मरे ने इस घटना की व्याख्या इस तरह की कि जान पड़ता है कि भीतरी नली डूबते समय बहुत देर तक दबाव का मुकाबला करती रही, परंतु अंत में उसे हारना पड़ा। इतनी जल्दी यह डब्बा पिचक गया कि पानी को समय नहीं मिला कि घेरों के भीतर से आर-पार जा सके। यदि जा सकता तो पिचकने की नौबत न आती। यही बात अत्यंत गहरे प्रदेश में बहुत नाज़ुक चीज़ों के सही सलामत रहने का भी कारण बताती है। रंध्रों में से होकर चारों ओर समान भाव से जल पहुँचकर व्याप जाता है और दबाव समान हो जाता है। इसलिए इतने भयंकर दबाव का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। जब कोई चीज़ बहुत गहराई तक डूबने लगती है तो उसके छिद्र भरने लगते हैं। जल्दी भरने के कारण जो जगह भर नहीं सकती तुरंत पिचक जाती है, इसीसे आकृति बिगड़ जाती है। परंतु जो वस्तुएँ उस दबाव के भीतर ही उत्पन्न होती हैं उनमें तो वहाँ का जल ओत-प्रोत भाव से आरंभ से ही व्यापा रहता है। उसमें पिचकने का तो

कोई प्रश्न ही नहीं है। समुद्र के माँझियों का साधारण विचार यह है कि जो चीजें समुद्र में डूबती हैं वे कहीं सुभीते की जगह पर पहुँचकर तैरती रह जाती हैं। परंतु यह भ्रम है। ज्यों-ज्यों जल डूबनेवाली चीज़ में व्यापता जाता है, या पिचकाकर ठोस कर देता है त्यों-त्यों डूबनेवाली चीज़ नीचे की ओर चलती जाती है और अंत में तली तक पहुँच जाती है। इसके विपरीत अपने शिकार का पीछा करते हुए जब कोई जलजंतु अपने शरीर के अनुकूल दबाववाले प्रदेश से ज्यादा ऊपर को उठ जाता है तब दबाव की कमी के कारण उसका शरीर फूलकर हलका हो जाता है और उसके लाख जतन करने पर भी वह ऊपर की तरफ लुढ़के बिना रह नहीं सकता। दबाव के कारण पानी उसे ऊपर को फेंक देता है और जब वह बिलकुल ऊपर को आने लगता है तभी उसका शरीर फैलकर फूट जाता है और प्रत्येक अवयव के फटने से वह बिलकुल चिथड़े-चिथड़े हो जाता है।

समुद्र निरंतर चंचल रहता है। पृथ्वी के बराबर घूमते रहने से और ग्रहों के खिचाव से ज्वार-भाटा उठता ही रहता है। परंतु जब और जहाँ कहीं तूफ़ान आता है वहाँ तूफ़ान के बीत जाने पर भी कई घंटे तक बराबर जल में थर्राहट बनी रहती है, क्योंकि जल बड़ा ही स्थितिस्थापक है। तूफ़ान का कंपन बड़ी देर में मिटता है और बहुत दूर तक जाता है। वायु के कारण तो लहरें उठती ही रहती हैं। कहीं-कहीं तो, जैसे फराडी की खाड़ी में, सैंतालीस-अड़तालीस हाथ ऊँची मेड़ें उठती हैं और कन्याकुमारी के घाट की तरह कहीं-कहीं जल शांत होता है, जैसा कि साधारणतः तालाबों में हुआ करता है। समुद्र की गति में सब से भयानक चीज़ भँवर या भ्रमरावर्त्त है जो लहरोंवाली धारा के दो भागों में बँट जाने से बनता है। यह चूसने की विचित्र शक्ति रखता है और इसके चक्कर में पड़कर कोई चीज़ बच नहीं सकती।

सूर्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों से सागर के ऊपरी तल के ताप-क्रम, घनता और वायुवेग में देश-देश में बराबर अंतर पड़ता रहता है। इन कारणों से जल के नीचे-ऊपर की गति तो बहुत मंद हुआ

करती है, परंतु सीधी दिशाओं में वेग से धारा चलती रहती है। संपूर्ण सागर में सर्वत्र धाराओं की-सी गति नहीं है। महाद्वीपों को घेरते हुए सागर के भागों में नदियों की धारा की तरह पचासों मील के पाट में सागर की धाराएँ बहती हैं। विशाल विस्तृत जल के फैलाव के भीतर ऐसी धारा भी दीखती है और उसके दोनों किनारे भी साफ़ अलग मालूम पड़ते हैं। खाड़ी धारा (गल्फ स्ट्रीम) के नाम से प्रसिद्ध धारा कई सौ मील की चौड़ाई में पाँच मील प्रति घंटे के वेग से बहती है। इसका नाम खाड़ी धारा (गल्फ स्ट्रीम) इसलिए पड़ा कि यह मेक्सिको की खाड़ी से चलती है और अत्यंत नमकीन गरम पानी की नदी के रूप में फ़्लोरिडा के डमरूमध्य से होकर निकलती है और हटेरा के अंतरीप को छोड़कर पूरब की तरफ को बल खाती हुई अतलांतक महासागर में फैल जाती है। इससे कई शाखाएँ निकलती हैं। उत्तर को जानेवाली शाखाएँ ब्रिटेन और नार्वे के समुद्र-तट के पास से होकर जाती हैं। परंतु मुख्य धारा दक्षिण की ओर जाती है और कनारी द्वीपों से दूर पर उत्तरी भूमध्यरेखावाली धारा में मिल जाती है। और, उत्तरी भूमध्यरेखावाली धारा अनुकूल वायु की उस धारा से उठती है जो अफ्रीका के समुद्र-तट से बहा करती है। सागर में ऐसी धाराएँ नियम से बहती रहती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र का मंथन हो रहा है, जिसमें परमेश्वरी मथानी उत्तर की ओर तो घड़ी की सुइयों की दिशा में चलती है और दक्षिण की ओर उलटी दिशा में। जब यह मंथन है तो बीच की शांत जगह भी कोई होनी चाहिए। ऐसी पाँच जगहें सागरों में पाई जाती हैं जिनमें से मुख्य सर्गास्सा समुद्र है जो अतलांतक महासागर में उत्तरी भाग में स्थित है और जिसके किनारे से होते हुए कोलंबस ने अपनी पहली यात्रा की थी। यहाँ का जल प्रशांत होने के कारण आस-पास से बहती हुई चीज़ें आकर यहाँ इकट्ठी हो जाती हैं। लाखों बरस से टूटे हुए जहाज़, बहते हुए पेड़ आदि के सिवाय सामुद्रिक सेवार यहाँ इकट्ठा होता रहा है। लैटिन भाषा में शैवाल या सेवार को सर्गास्सा कहते हैं। इसलिए इसका नाम 'सर्गास्सा' समुद्र पड़ा। बहुत काल पीछे यही समुद्र का विस्तार पटते-पटते एक महाद्वीप बन जा सकता है और
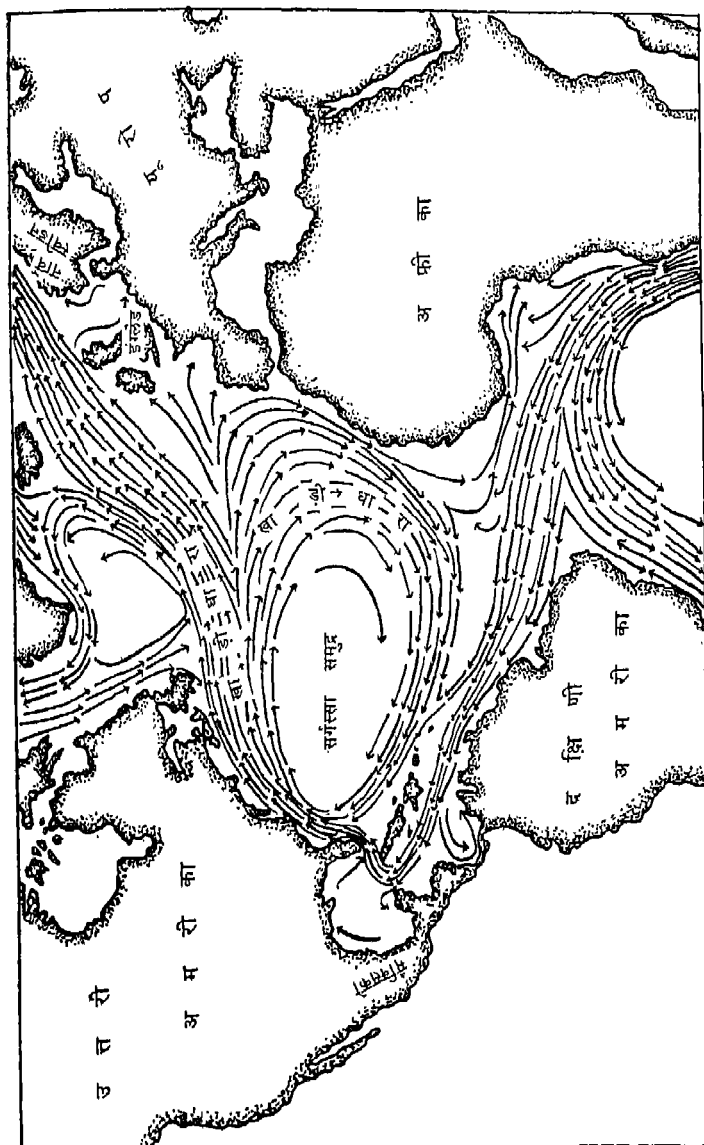
खाड़ी धारा

काल पाकर प्राचीन संसार की सभ्यता अपने प्राचीन स्थान को छोड़कर यहाँ नवीन रूप धारण कर सकती है।

ऊपर से नीचे की ओर वेग से बहती हुई वायु के प्रबल धक्कों से जलतल दबकर गहरा हो जाता है, परंतु जिधर धक्के की गति होती है उसी ओर को दबा हुआ जल ऊँची लहर का रूप ग्रहण करता है और धक्के के कारण आगे बढ़ता है। तुंग तरंगमाला का यही कारण होता है। लहर का शिखर जितना ही आगे बढ़ता है उतना ही उसका खंड पीछे को हटता है। जब यही तरंगमाला छिछले जल में पहुँचती है तो खंड की गति धरती से लगकर शिथिल हो जाती है और शिखर का भाग टूटकर बिन्दु-सीकरमाला का रूप ग्रहण कर लेता है। ये टूटनेवाली लहरें ऐसे धक्के देती हैं कि चट्टानें चिरकर चूर-चूर हो जाती हैं। लहर के एक शिखर से दूसरे की दूरी पाव मील तक हो सकती है और शिखर की ऊँचाई पचास फुट से भी अधिक हो सकती है। कुछ भी हो, कितनी ही अधिक वेग और बलवाली लहर हो, उसका प्रभाव गहराई में सौ पुरसों से अधिक नहीं होता। अधिक वेग से चलनेवाली वायु बड़ी-बड़ी विशाल लहरें उठाकर इसी तरह तूफ़ान पैदा करती हैं। कभी-कभी छिछले चलनेवाली आँधी जल की एक पतली तह को वेग से अपने आगे उठाकर बहा ले जाती है, जो या तो स्थल पर एकाएकी बाढ़ लाती है अथवा जल को समुद्र की ओर खींच ले जाकर किनारे को खाली छोड़ देती है। भूकंप और बड़वानल से भी विशाल मेड़ें उठती हैं। दो विरोधी दिशाओं में जानेवाली वायुधारा के वेग से मिलने पर बवंडर या वायु का भ्रमरावर्त्त बनता है और समुद्र में वायु के भ्रमरावर्त्त से जल का फौवारा उठता है, परंतु जल में इससे बहुत वेग का भ्रमरावर्त्त नहीं बनता।

भूपिण्ड के सारे धरातल पर विचार करें तो हम धरातल को तीन प्रकारों में बाँट सकते हैं। एक तो महाद्वीपीय धरातल हैं, जिनमें समुद्र तट से सवा दो हज़ार फुट की औसत ऊँचाई की धरती, महाद्वीपों के चारों ओर के छिछले पानीवाले धरातल और महाद्वीपीय टापू जो महाद्वीप से छिछले जलाशयों द्वारा ही

अलग हुए हैं, ये तीन शामिल हैं। दूसरे, महाद्वीपीय ढाल है जो छिछले पानीवाले धरातल से आरंभ होकर समुद्र की गहराई तक पहुँचा हुआ है, जो कि धरती के संपूर्ण धरातल के षष्ठांश के लगभग घेरे हुए है। तीसरे, समुद्र की प्रकृत गहराई के नीचे का विस्तीर्ण धरातल है, जो सब मिलाकर लगभग एक अरब वर्ग मील के विस्तार में फैला हुआ है। इतने विस्तीर्ण क्षेत्र में कहीं-कहीं ऊँची-नीची लहरीले तल की धरती भी है और कहीं-कहीं अत्यंत ऊँचे शिखर और बड़वानल के बनाए द्वीप हैं जो जल से ऊपर गए हैं। परंतु, यह सब इस विशाल विस्तार में बिन्दु के समान हैं। कहीं-कहीं भयानक गहराई के गर्त्त भी इसी क्षेत्र में हैं। मरे महोदय का विश्वास है कि विस्तीर्ण क्षेत्र बड़े-बड़े भयानक बड़वानलीय चिरावों के द्वारा विशाल भागों में विभक्त हैं और इन्हीं चिरावों में से धरती अपनी भीतरी ज्वाला उगलती और धरातल में परिवर्तन करती रहती है। जान पड़ता है कि सामुद्रिक बड़वानल से धरती धँसती है और स्थलीय ज्वालामुखी से धरती उभरती है। लगभग साढ़े पाँच करोड़ वर्ग मील के फैलाव में लाल मिट्टी की जमती हुई तह है जो विलक्षण है और जिसके कारण का पता भी नहीं लगा है।

स्थलचरों और नभचरों, स्वेदजों और उद्भिज्जों आदि सबको मिलाकर भी देखा जाए तो वे गिनती में जल के प्राणियों की अपेक्षा कम ही ठहरेंगे। जल का एक नाम 'जीवन' भी है। जल का अनंत पारावार वास्तव में सभी अर्थों में जीवन का अनंत पारावार है। सूर्य की प्रत्यक्ष किरणें पाँच सौ पुरसों तक पहुँच जाती हैं और अप्रत्यक्ष रासायनिक किरणें और अधिक गहराई तक पहुँचती हैं। इस प्रकार सूर्य का उत्पादक प्रभाव बहुत बड़े क्षेत्र तक पहुँचता रहता है। शैवाल आदि जलोद्भिज्जों के बहते बागों से लेकर पारमाणविक जलोद्भिज्ज तक इन्हीं किरणों के आश्रित हैं। इनमें निरंतर प्रकाश द्वारा रासायनिक क्रिया से असंख्य प्रकार के यौगिक बनते रहते हैं। कार्बन डाइआक्साइड के टूटने से और जल में वायवीय ओषजन (ऑक्सीजन) के घुलते रहने से ऊपरी तल में अनंत प्रकार के प्राणी एवं मछलियाँ ओषजन (ऑक्सीजन) पाकर जीवन-रक्षा

करती हैं। एक-एक जलबिन्दु में कोटि-कोटि की संख्या में रहनेवाले ऐसे प्राणी समुद्र में अनंत हैं जिन्हें अत्यंत सूक्ष्म अणुवीक्षण यंत्र से भी देखना कठिन है।

समुद्र का जल कहीं आसमानी, कहीं नीला, कहीं गाढ़ा नीला, कहीं काला, घोर काला और ध्रुव-प्रदेश आदि में बिल्कुल हरा दीख पड़ता है। शुद्ध स्वच्छ जल का वास्तविक रंग आसमानी है, जो खाड़ी-धारा (गल्फ़ स्ट्रीम) का भी रंग है। जान पड़ता है कि खाड़ी-धारा (गल्फ़ स्ट्रीम) में शुद्ध जल बहता है। ध्रुव-प्रदेश में जलोद्भिज्ज, घुलित लवण, प्रकाश की किरणों आदि अनेक कारणों से हरा रंग दीखता है। आकाश के रंग के प्रतिफलित होने से ही समुद्र के जल का रंग नीला, काला आदि दीखता है।

समुद्र अत्यंत उत्तर खंड में जाड़ों में बर्फ़ की चट्टानों से पटा रहता है। समुद्र के नमक से लदे जल की बर्फ़ शुद्ध जल की बर्फ़ से भारी होती है, पर तो भी उस पर एस्किमो जाति के लोग अपनी बेपहिया की फिसलनेवाली गाड़ी पर निर्भय चढ़े दौड़ते रहते हैं। बर्फ़ की चट्टानें स्थिर धरती-सी हो जाती हैं।

जहाँ दिन-रात साल-के-साल बर्फ़ जमी रहती है वहाँ भी भीतर गहराई में जल रहता है। उत्तरी और दक्षिणी मेरु (ध्रुव) प्रदेशों में यही हाल है। जल में धीरे-धीरे बहते हुए जो बर्फ़ के पहाड़ देख पड़ते हैं, उनके नौ भाग से अधिक जल के भीतर रहते हैं, केवल एक भाग जल के ऊपर रहता है। ये पहाड़ बह-बहकर गरम प्रदेशों में भी पहुँच जाया करते हैं और भयंकर उपद्रव के कारण हुआ करते हैं। समुद्र के पानी के ठंडे रहने के कारण ये बड़ी देर में गलते हैं। सौर संवत् १९६९ वि० के पहले दिन टाइटनिक नाम का जहाज़ एक ऐसे ही चल हिम-शैल से टकराकर नष्ट हो गया और उसने १५१७ मनुष्यों के प्राण लिए। ये हिम-शैल लंबे-चौड़े टापुओं की तरह होते हैं। इनके साथ बहुत-कुछ विजातीय पदार्थ और लवण आदि भी रहते हैं और इनके गलने से समुद्र के ताप और लवणता दोनों में कमी-बेशी पड़ जाती है।

समुद्र जैसे जीवन से भरा हुआ है उसी तरह सांसारिक जीवन

की रक्षा में इससे बहुत सहायता भी मिलती है। समुद्र से उष्ण कटि-बंधवाली सूर्य की भयानक गरमी का शोषण हो जाता है और वह उन जगहों पर पहुँचाई जाती है जहाँ शीत अधिक है। जहाँ अत्यंत गरमी है वहाँ बहाव से मेरु (ध्रुव) प्रदेशों की जलधारा आकर ठंडक पैदा करके गरमी की तेजी को घटा देती है। समुद्र के जल की ही गरमी-सरदी से सब तरह की हवा उठती है, जिससे भलाई-बुराई दोनों होती हैं। समुद्र के ही कारखाने से संसार को जल मिलता है। समुद्र नदी का आदि और अंत दोनों है। वायुमंडल के वायव्यों (गैसों) के शोषण और विसर्जन से यह वायुमंडल को एकरस बनाता रहता है। समुद्र रत्नाकर है। इससे मनुष्य अनेक रत्न पाते हैं।

जल का आरंभ भी चट्टानों से हुआ है। उन्हींमें से अत्यंत उत्तप्त दशा में उज्जन (हाइड्रोजन) और ओषजन (ऑक्सीजन) अलग हुए। फिर ताप के कुछ कम होने पर दोनों ने मिलकर जल का रूप ग्रहण किया था। सुदूर भविष्य में जब सूर्य शीतल हो जाएगा और धरती पर अत्यंत शीत का साम्राज्य हो जाएगा तब सारा समुद्र जमकर चट्टान का धरातल हो जाएगा और उसके ऊपर लगभग चालीस फुट औसत गहराई का द्रवीभूत वायुमंडल का समुद्र बहने लगेगा।

प्रश्न और अभ्यास

१. सागर के तल और गहराई का विवरण दीजिए।

२. समुद्र-जल के तापमान पर सूर्य का क्या प्रभाव पड़ता है? समुद्र की तलहटी में तापमान कैसा रहता है?

३. सागर के भीतर पानी के दबाव की क्या स्थिति है? कोमल जीवजंतु इतने प्रचंड दबाव के भीतर कैसे जीवित रहते हैं तथा समुद्र की निचली सतह से ऊपर आ जाने पर क्यों मर जाते हैं?

४. समुद्र में धाराएँ क्यों चलती हैं? विभिन्न जलधाराओं का वर्णन कीजिए।

५. पृथ्वी के धरातल कितने प्रकार के हैं?

६. समुद्र में ऊँची-ऊँची लहरें क्यों उठती हैं? धाराओं से उनका अंतर बताइए।

—

राजेन्द्रप्रसाद

डा० राजेन्द्रप्रसाद का जन्म जिला छपरा (बिहार) के जीरादेई ग्राम में सन् १८८४ ई० में हुआ था। कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कालेज से इन्होंने एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। ये बड़े मेधावी छात्र थे और प्रायः सभी परीक्षाओं में इन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया।

मुज़फ्फरपुर के एक कालेज में कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् सन् १९११ ई० में राजेन्द्र बाबू ने कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत प्रारंभ की। पटना में हाईकोर्ट स्थापित होने पर सन् १९१६ ई० में ये वहाँ चले आए। थोड़े ही दिनों में इनकी गणना प्रथम श्रेणी के वकीलों में होने लगी। चंपारन के **नील-सत्याग्रह** के प्रसंग में ये गांधीजी के संपर्क में आए। सन् १९२० ई० में इन्होंने वकालत छोड़ दी और कांग्रेस में सम्मिलित होकर पूर्णरूप से देशसेवा के कार्य में लग गए। **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस** के ये तीन बार सभापति चुने गए और सन् १९५० से १९६२ ई० तक भारत गणराज्य के राष्ट्रपति रहे। राजेन्द्र बाबू की मृत्यु सन् १९६३ ई० में हुई।

सामाजिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर राजेन्द्रप्रसाद के लेख पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निकलते रहते थे। इन्होंने **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन** के सभापति-पद को भी सुशोभित किया था। **'भारतीय शिक्षा'**, **'गांधीजी की देन'**, **'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'**, **'आत्मकथा'** आदि इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। हिन्दी के अतिरिक्त ये अंग्रेज़ी में भी लिखते थे।

प्रस्तुत पाठ राजेन्द्र बाबू की **'आत्मकथा'** से लिया गया है। इसमें इन्होंने वकालत के सिलसिले में अपनी यूरोप-यात्रा का रोचक विवरण दिया है। व्यक्तित्व की ही भाँति इनकी भाषा भी अत्यंत सरल और स्वाभाविक है, जिसमें सामान्य प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है।

राजेन्द्रप्रसाद

यूरोप-यात्रा

यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मैं यहाँ भी उन लोगों के संसर्ग में बहुत नहीं आया था जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने के पहले एक दिन श्री सच्चिदानंदसिंह ने मुझे अपने यहाँ अंग्रेज़ी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। मैंने काँटे-चमचे का इस्तेमाल देख लिया था। इत्तिफ़ाक़ से जहाज़ पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे। वे विदेश में सैर करने के लिए ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गई, पर दूसरे कोई मुलाक़ाती भाई या बहिन उस जहाज़ में नहीं थे। मेरी आदत भी कुछ ऐसी है कि मैं किसीसे स्वतः मुलाक़ात या जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूँ। इस-लिए जहाज़ पर किसी-भी देशी या विदेशी यात्री से एक-दो दिनों तक मुलाक़ात या बातचीत नहीं हुई। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतेरों की आँखें जाती थीं। मैं डेक पर अपनी कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र बहुत शांत था। इसलिए किसी किस्म की मतली, चक्कर वगैरह मुझे नहीं आया।

दो दिनों के बाद एक अंग्रेज़ सज्जन, जो आई० एम० एस० (इंडियन मेडिकल सर्विस) के पेन्शन पाए हुए अफ़सर थे, मेरे नज़दीक आए। मुझसे वे बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़े और एकांत में चुप बैठे रहने से उनका और उनकी स्त्री का ध्यान आकर्षित हुआ था। पेन्शन पाने के बाद वे किसी कमीशन के मेम्बर होकर फिर हिन्दुस्तान आए थे। अपना काम पूरा करके वे वापस जा रहे थे। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिज़ाज के थे। वे गांधीजी के संबंध में कुछ जानते थे। खद्दर के संबंध में भी अखबारों में कुछ पढ़ा था। उनकी इच्छा थी कि हिन्दुस्तान में गांधीजी को देखले, पर इसका सुअवसर न मिल सका। जब बातचीत से उनको मालूम हो गया कि गांधीजी के साथ मेरा कैसा संबंध है, तो उनकी दिलचस्पी और भी

बढ़ गई। हमसे वे बराबर बातचीत किया करते। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मैं मांसाहारी नहीं हूँ। वे स्वयं भी मांसाहारी न थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि इंग्लैण्ड और तमाम यूरोप में ऐसे बहुतेरे रेस्तराँ हैं, जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहाँ सब्ज़ी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहाँ के लोग अंडे को भी शाकाहार में ही दाखिल करते हैं। शाकाहारी खूब अंडे खाते हैं। जो लोग पक्के शाकाहारी हैं, वे दूध और दूध के बने पदार्थ भी नहीं खाते; क्योंकि वे दूध को भी जानवर के खून का एक परिवर्तित रूप ही मानते हैं। इसलिए उन्होंने मुझे चेता दिया कि इंग्लैण्ड में यदि मुझे किसी रेस्तराँ में खाना पड़े तो खासतौर से मुझे कह देना होगा कि मुझे अंडे से भी परहेज़ है, तभी बिना अंडे के भोजन देंगे, अन्यथा प्रायः सभी चीज़ों में किसी-न-किसी रूप में अंडे का अंश रहेगा ही। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि बिना अंडे के बिस्कुट इत्यादि भी सब जगह नहीं मिलते, पर यदि कोई दुकानदार कहे कि बिस्कुट या खाने की अन्य वस्तु बिना अंडे के बनी है, तो मुझे उसकी बात मान लेनी चाहिए, क्योंकि उसका स्वार्थ सच बोलने में ही है। अंडा महँगा पड़ता है। ये सब बातें मेरे लिए नई थीं। पर उस दंपति की मुलाक़ात ने मेरे लिए इस प्रकार की बहुत-सी जानने लायक बातें बता दीं। प्रतिदिन के जीवन के काम में आनेवाले नुस्खे उन्होंने बता दिए। मैं अपने नियम के अनुसार वहाँ भी रह सका।

रास्ते में मुझे मालूम हुआ कि जब तक जहाज़ स्वेज़ नहर में गुज़रता है तब तक टामस कुक कंपनी की ओर से ऐसा प्रबंध रहता है कि जो मुसाफ़िर चाहे, मोटर द्वारा जाकर काहिरा नगर और उससे थोड़ी दूर पर स्फिक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख लेना अच्छा समझा। मेरे ही जैसे कुछ और मुसाफ़िर भी थे जिन्होंने टामस कुक के साथ वहाँ जाने का प्रबंध कर लिया। हम लोग बहुत सबेरे ही, क़रीब पाँच बजे, जहाज़ से उतरकर मोटर पर काहिरा चले गए। काहिरा पहुँचने पर, मुँह-हाथ धोने और कुछ हल्का नाश्ता कर लेने के लिए एक होटल में हम लोग [illegible] काहिरा

National Institute of Education LIBRARY

का अजायबघर देखने गए। वहीं पिरामिडों की खुदाई से निकली हुई चीज़ें सुरक्षित रखी गई हैं। यह बड़ा सुंदर संग्रह है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहाँ सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गए हैं, पर मनुष्य का चेहरा और हाथ-पैर तो ज्यों-के-त्यों हैं। वे जिस महीन कपड़े में लपेटकर गाड़े गए थे, वह कपड़ा भी अभी तक वैसे ही लिपटा हुआ है। यह कपड़ा बहुत-ही बारीक हुआ करता था। सुना जाता है कि यह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों के वहाँ के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिए जाएँ तो परलोक में भी उनसे वह आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार पिरामिडों के अंदर शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुएँ गाड़ी जाती थीं——पहनने के कपड़े और गहने, बैठने के लिए चौकी इत्यादि, खाने के लिए अन्न, शृंगार के सामान, सवारी के लिए रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक-से-एक अच्छी बनी हैं। उनसे जान पड़ता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

उस म्यूज़ियम को देखने के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारतें और दूसरी मशहूर जगहें दिखलाई गईं, जिनमें एक बड़ी और सुंदर मस्जिद भी है। मिस्र में मुसलमान पूरब रुख़ मुँह करके नमाज़ पढ़ते हैं, क्योंकि वहाँ से क़ाबा पूरब में पड़ता है। यह हिन्दुस्तानी के लिए कुछ अजीब-सा मालूम पड़ता है। वहाँ की मस्जिद भी इसी कारण से हिन्दुस्तान की मस्जिदों जैसी पूरब रुख़ की न होकर पश्चिम रुख़ की होती है। यह बड़ी मस्जिद भी वैसे ही थी। वहाँ की भाषा अरबी है, पर यूरोपीय भाषाओं में से अधिक प्रचार वहाँ फ्रेंच का है। लोग साफ़ मालूम पड़ते थे। पुलिसवाले तुर्की फेज़ पहने हुए थे। काहिरा यद्यपि पुराना शहर है, तथापि जिस हिस्से को हमने देखा वह बहुत-कुछ आजकल के शहरों-जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हम लोग पिरामिड देखने कुछ दूर तक मोटर पर गए। एक स्थान पर पहुँचकर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊँटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिए ऊँट की
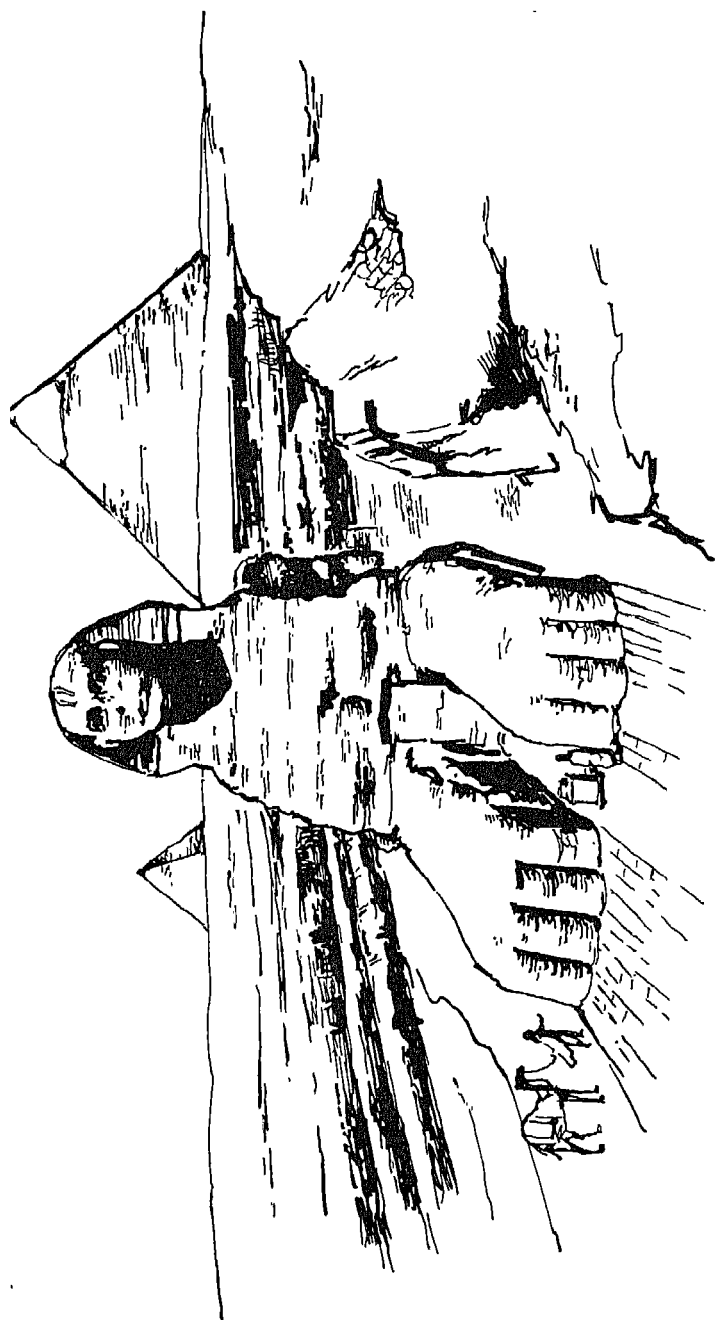
स्फिंक्स और पिरामिड

सवारी बिल्कुल नई थी, क्योंकि मैं कभी हिन्दुस्तान में ऊँट पर न चढ़ा था। पर एक बार चढ़ जाने पर कोई विशेष बात न हुई। पिरामिडों को नज़दीक जाकर देखा। ये बहुत ऊँची चौखूँटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटों का पजावा जैसे बनता है वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस किए हुए टुकड़ों से बने हैं। पजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज़्यादा है, जो ऊपर की ओर कम होती गई है। ईंटों का पजावा तो छोटा होता है, ये बहुत बड़े और बहुत ऊँचे हैं। जिस परिमाण में ये ऊँचे और चौड़े हैं, उसी परिमाण में इनमें लगी हुई पत्थर की ईंटें भी पजावे की ईंटों से लंबाई-चौड़ाई और मोटाई में अधिक हैं। मेरा अनुमान है कि एक-एक ईंट शायद चार-पाँच हाथ लंबी होगी। इसीके अनुसार उसकी चौड़ाई और मोटाई भी होगी। न मालूम कितने दिनों में एक-एक ईंट काटकर इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी? इसमें कितने गरीबों ने अपनी ज़िन्दगी का कितना हिस्सा लगाया होगा? यह सब किसी एक राजा के नाम को उसके मरने के बाद भी क़ायम रखने के लिए किया गया था। नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है। ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी, हज़ारों बरसों के बाद ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। इनमें से अनेकों के अंदर की खुदाई हुई है। उन्हींमें से निकले हुए सामान का संग्रह काहिरा के अजायबघर में है।

स्फिंक्स एक अजीब चीज़ है। मनुष्य का मुँह और शरीर जानवर का है। एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शक़्ल की बनी पड़ी है। सुनते हैं कि प्राचीन काल में इससे प्रश्न किए जाते थे और यह भविष्य की बातें बता देता था। पर यह जो कुछ कहता था उसका समझना बहुत कठिन था। अब ये बातें तो नहीं हैं, पर यह मूर्ति यों ही खड़ी उस प्राचीन समय का स्मरण कराती रहती है।

यह सब देखकर हम लोग संध्या तक वापस आकर रेल पर सवार हुए। पोर्ट-सईद में ११ बजे रात के करीब पहुँचे। वहाँ जहाज़ पहुँच गया था। हम सब अपने-अपने कमरे में जाकर सो रहे। खाना-पीना रास्ते में रेल में ही हो चुका था।

भूमध्यसागर में पहुँचने पर कुछ सर्दी लगने लगी। लाल समुद्र तो बहुत गर्म था––अरब-सागर से भी अधिक। भूमध्यसागर में हवा भी ज़ोर से चलती थी, इसलिए जहाज़ कुछ हिलता था। मुझे एक दिन कुछ मतली-सी आई, पर अधिक नहीं। रास्ते में जो देखने को मिला, मैं सब कुछ देखता गया। इटली के नज़दीक सिसली टापू के पास होकर ही जहाज़ गुज़रा। वहाँ का शहर कुछ दूर पर देखने में आया। पहाड़ तो साफ़ नज़र आता था। कई दिनों के बाद हम लोग मार्सेल्स (फ्रांस) पहुँच गए। रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई। कभी-कभी कोई टापू नज़र आ जाता था तो सब लोग उसे देखने लगते थे। समुद्र-यात्रा में चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता है। इससे रात-दिन पानी देखते-देखते एक-दो दिनों के बाद ही जी ऊब जाता है। अगर कहीं कोई दूसरा गुज़रता हुआ जहाज़ नज़र आ गया या ज़मीन देखने में आ गई, तो बहुत आनंद होता है। सभी मुसाफ़िर उसे इस तरह से देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी ज़मीन देखी ही नहीं है।

हम लोग मार्सेल्स में सवेरे ही उतरे। वहाँ एक होटल में ठहर गए। वहाँ भी कुक कंपनी की कृपा से शहर के सभी देखने योग्य स्थानों को देख लिया। टामस कुक का प्रबंध बहुत अच्छा होता है। यात्रियों को उनका दुभाषिया मुख्य-मुख्य स्थान दिखला देता है। उनकी अपनी मोटरगाड़ी रहती है। ऐसा अच्छा प्रबंध रखते हैं कि निश्चित समय के अंदर सब कुछ आदमी देख लेता है। सवेरे जहाज़ से उतरते ही, रात में रवाना होनेवाली गाड़ी में अपने लिए जगह मैंने ठीक करा ली थी। दिन भर घूमघाम कर रात की गाड़ी से पेरिस के लिए रवाना हो गया। पेरिस में गाड़ी बदलकर कैले पहुँचा। वहाँ फिर जहाज़ पर चढ़कर संध्या होते-होते डोवर में उतर गया। डोवर से रेल पर चलकर रात के प्रायः ९ बजे लंदन पहुँच गया। वहाँ मैं मार्च के तीसरे सप्ताह में पहुँचा था, पर अभी तक काफ़ी सर्दी थी। स्टेशन पर वहाँ पहले पहुँचे हुए मित्र मिल गए। मैं सीधे उस मकान में चला गया जो पहले से किराए पर लिया गया था। वह गोल्डर्सग्रीन में था। हम लोग कुछ दिनों तक वहीं ठहरे रहे।

प्रश्न और अभ्यास

१. यूरोपीय और भारतीय शाकाहारी भोजन-संबंधी धारणाओं में मुख्य अंतर क्या है ?

२. **पिरामिड, स्फिक्स** और **ममी** किन्हें कहते हैं ? इनका संक्षिप्त विवरण लिखिए।

३. इस पाठ के आधार पर बताइए कि भारत से यूरोप की समुद्र-यात्रा किस मार्ग से होती है।

४. निम्नलिखित शब्दों के हिन्दी पर्याय दीजिए :
मुलाक़ात, मिज़ाज, दिलचस्पी, पोशाक, बारीक, मशहूर, कमीशन, मेम्बर, म्यूज़ियम।

५. **'डा० राजेन्द्रप्रसाद के व्यक्तित्व की भाँति ही उनकी भाषा भी सरल और स्वाभाविक होती है।'** प्रस्तुत पाठ से कुछ उदाहरण चुनकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

गुलाबराय

बाबू गुलाबराय का जन्म सन् १८८८ ई० में इटावा (उत्तरप्रदेश) में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा मैनपुरी में हुई। आगरा से इन्होंने एम० ए० और एल-एल० बी० परीक्षाएँ पास कीं।

गुलाबराय जी आरंभ में छतरपुर-नरेश के निजी सचिव नियुक्त हुए और बाद में इन्होंने बहुत दिनों तक वहाँ कई उच्च पदों पर कार्य किया। छतरपुर से सेवामुक्त होकर ये आगरा में बस गए और जीवन-पर्यन्त साहित्य-साधना करते रहे। **'साहित्य-संदेश'** नामक आलोचना-पत्रिका का विकास इन्हीं के संपादन में हुआ। साहित्यिक सेवाओं के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया था। बाबू गुलाबराय की मृत्यु १९६३ ई० में हुई।

गुलाबराय जी ने साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, नीति, मनोविज्ञान आदि विषयों पर भी लिखा है। साहित्यिक क्षेत्र में **'नवरस'**, **'सिद्धांत और अध्ययन'**, **'काव्य के रूप'**, **'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास'**, **'अध्ययन और आस्वाद'**, इनके प्रसिद्ध आलोचना-ग्रंथ हैं। **'ठलुआ क्लब'**, **'मेरी असफलताएँ'** और **'मेरे निबंध'**, व्यक्तिपरक निबंधों के संग्रह हैं। इन निबंधों में हास्य एवं व्यंग्य का पुट विशेष रूप से मिलता है। वे अपनी बात एक सफल अध्यापक की भाँति स्पष्ट करते चलते हैं और बीच-बीच में आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त उदाहरण भी देते हैं।

प्रस्तुत निबंध इनके निबंध-संग्रह **'प्रबंध प्रभाकर'** से लिया गया है। इसमें इन्होंने अत्यंत सरल और सुबोध शैली में यह बताया है कि ऊपरी मतभेद और विभिन्नता के रहते हुए भी वास्तव में सारा भारतवर्ष एक है।

गुलाबराय

भारत की सांस्कृतिक एकता

देश राष्ट्रीयता का एक आवश्यक उपकरण है। भारत-भूमि की नदियों के प्रवाह को प्राकृतिक विभाजन-रेखाएँ बतलाकर तथा भाषा और धर्मों एवं रीतिरिवाज़ों के भेद को आधार बनाकर हमारी राष्ट्रीयता के विचार को खंडित करने के अर्थ हमारे कुछ हित-चिन्तक इस देश को देश न कहकर एक उपमहाद्वीप कहते हैं। हमारी राष्ट्रीयता को चुनौती देने के निमित्त उत्तर-दक्षिण, अवर्ण-सवर्ण, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन के भेद खड़े करके हमारी संगठित इकाई को क्षति पहुँचाई गई। भाषा का भी बवंडर उठाया गया ताकि आपसी झगड़ों और भेद-भाव में हमारी शक्ति का ह्रास हो और विदेशी शासकों का राज्य अटल बना रहे।

पहले तो प्रायः सभी देशों में जाति, भाषा और धर्मगत भेद हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ही कई जातियाँ हैं। वहाँ भाषाएँ भी कई बोली जाती हैं, किन्तु एक केन्द्रीय भाषा सबको मिलाए हुए है। स्विटज़रलैण्ड में जर्मन, फ्रांसीसी तथा इतालवी तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। फिर भी वह एक सुसंगठित राष्ट्र है। इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया एकभाषाभाषी होते हुए भी भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं। जिस देश में भेद नहीं, उसकी इकाई शून्य या गणितशास्त्र की इकाई की भाँति दरिद्र इकाई है। संपन्नता भेदों में ही है, किन्तु भेद इतने न होने चाहिएँ कि उनमें सामंजस्य न रहे।

वैसे तो केंचुआ भी एक इकाई है, उसमें आँख, कान, नाक और हाथ-पैर का भेद नहीं; केवल एक ही स्पर्शेन्द्रिय सारी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है; किन्तु क्या उसका जीवन संपन्न कहा जाएगा ? मनुष्य अपने अवयवों के बाहुल्य और उनके समायोजन और संगठन के कारण जीवधारियों में सबसे अधिक विकसित और श्रेष्ठ गिना जाता है।

भेदों के अस्तित्व से इन्कार करना मूर्खता होगी और उनकी

उपेक्षा करना अपने को धोखा देना होगा। हमारे समाज में भेद और अभेद दोनों ही हैं। हमारे पूर्व शासकों ने अपने स्वार्थवश हमारे भेदों को अधिक विस्तार दिया जिससे हमारे देश में फूट की बेल पनपे और इस भेद-नीति से उनका उल्लू सीधा हो। हमारे अभेदों की उपेक्षा की गई या उनको नगण्य समझा गया। हममें हीनता की मनोवृत्ति पैदा की गई। देश की नदियाँ, जिनको विभाजन-रेखाएँ कहा जाता है, हमारी भूमि को उर्वरा और शस्य-श्यामला बनाती हैं। हमारी भौगोलिक इकाई हिमालय पर्वत और सागर से है। उसे छिन्न-भिन्न किया गया है। इसमें कुछ राजनीतिक स्वार्थ भी सहायक हुए। प्राचीन काल में राष्ट्रीयता की धारा अबाधित तो नहीं रही है: आंतरिक द्वेष कभी-कभी प्रबल हो उठे हैं, किन्तु भारतवासी एकच्छत्र सार्वभौम राज्य से अपरिचित न थे। राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ ऐसे ही राज्य की स्थापना के ध्येय से किए जाते थे। इनके द्वारा टूटी हुई राष्ट्रीय एकता जुड़कर अविरल धारा का रूप धारण कर लेती थी।

राजनीति की अपेक्षा धर्म और संस्कृति मनुष्य के हृदय के अधिक निकट हैं। यद्यपि राजनीति का संबंध भौतिक सुख-सुविधाओं से है फिर भी जन-साधारण जितना धर्म से प्रभावित होता है उतना राजनीति से नहीं। हमारे भारतीय धर्मों में भेद होते हुए भी उनमें एक सांस्कृतिक एकता है, जो उनके अविरोध की परिचायक है। वही त्याग और तप एवं मध्यम मार्ग की संयममयी भावना हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख संप्रदायों में समान रूप से वर्तमान है। एक धर्म के आराध्य दूसरे धर्म में महापुरुष के रूप में स्वीकार किए गए हैं। भगवान बुद्ध तो अवतार ही माने गए हैं। 'कलियुगे कलिप्रथम-चरणे बुद्धावतारे' कह कर प्रत्येक धार्मिक संकल्प में हम उनका पुण्य स्मरण कर लेते हैं। भगवान ऋषभदेव का श्रीमद्भागवत में परम आदर के साथ उल्लेख हुआ है। जैन धर्म-ग्रंथों में भगवान राम और कृष्ण को तीर्थंकर नहीं तो उनसे एक श्रेणी नीचे का स्थान मिला है। अन्य हिन्दू देवी-देवताओं को भी उनके देवमंडल में स्थान मिला है। भारत में उद्भूत प्रायः सभी धर्म आवागमन में विश्वास करते हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की शिक्षा हिन्दू, जैन और

बौद्ध धर्मों में समान रूप से प्रतिष्ठित है। स्वस्तिक चिह्न और ओंकार मंत्र हिन्दुओं और जैनों में समान रूप से मान्य हैं। कमल और हाथी तथा अश्वत्थ वृक्ष (पीपल) बौद्धों और हिन्दुओं में एक रूप से पूजनीय माने जाते हैं। जैनों के अणुव्रत, हिन्दू-धर्म के योग-शास्त्र में 'यम' और बौद्धों के पंचशील प्रायः एक ही हैं। पारसियों और हिन्दुओं में अग्नि की पूजा समान रूप से होती है। जेन्दावेस्ता की गाथाओं और वैदिक ऋचाओं में भाषागत समानता है। पारसी लोग गोमांस नहीं खाते।

सिख-गुरुओं ने हिन्दू-धर्म की रक्षा में योग ही नहीं दिया वरन् उसके लिए कष्ट और अत्याचार भी सहे। उन्होंने, विशेषकर गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह ने, हिन्दी में कविता की है। उनके धर्म-ग्रंथों में राम-नाम की महिमा गाई गई है। गुरु गोविन्दसिंह ने चंडी (दुर्गा देवी) का भी स्तवन किया है। 'गुरु ग्रंथ साहब' में कबीर आदि महात्माओं की वाणी आदर के साथ सुरक्षित है, उनका नित्य पाठ होता है। सिखों के गुरु लोग हमारे संतों में अग्रगण्य समझे जाते हैं और उनका आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

मुसलमान और ईसाई धर्म एशियाई धर्म होने के कारण भारतीय धर्मों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। यूरोप से भी पहले ईसाई धर्म को दक्षिण भारत में स्थान मिला है। कुछ लोगों का तो कहना है कि स्वयं ईसा ने भारत में ही शिक्षा पाई थी। 'दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो'—ईसामसीह का यह कथन महाभारत के 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का ही पर्याय है। ईसाइयों की क्षमा और दया बौद्ध धर्म से मिलती-जुलती है। मैं यह नहीं कहता कि किसने किससे लिया, परंतु इन मौलिक सिद्धांतों में हिन्दू, बौद्ध और ईसाई धर्मों में समानता है। रोमन कैथोलिकों की पूजा-अर्चा, धूप-दीप, व्रत-उपवास आदि हिन्दुओं के-से हैं।

मुसलमानों और ईसाइयों ने यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया है, और वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। भारतीय सूफ़ी कवियों ने वेदांत की भावभूमि को अपनाया है और उनके ग्रंथों में

हिन्दू-परंपराओं, कथाओं, विचारों, देवी-देवताओं और प्रतीकों के समावेश हुए हैं। तानसेन और ताज पर हिन्दू-मुसलमान समान रूप से गर्व करते हैं। जायसी, रहीम, रसखान, रसलीन आदि अनेक मुसलमान कवियों ने अपनी वाणी से हिन्दी की रसमयता बढ़ाई है। रसखान के सवैये तो सचमुच रस की खान हैं।

प्राचीन काल से भारतीय धर्म और साहित्य ने राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाया है। सभी काव्य-ग्रंथ, चाहे वे उत्तर के हों चाहे दक्षिण के, रामायण और महाभारत को अपना प्रेरणास्रोत बनाते रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के आम्नाय और काव्य-ग्रंथ उत्तर-दक्षिण में समान रूप से मान्य हैं। कालिदास के 'रघुवंश' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' में उत्तर और दक्षिण के प्राकृतिक दृश्यों का बड़ी रसमयता के साथ वर्णन आया है।

हिन्दू-तीर्थाटन में धार्मिक भावना के साथ राष्ट्रीय भावना भी निहित है। शिवभक्त ठेठ उत्तर की गंगोत्री से जाह्नवी-जल लाकर दक्षिणी सीमा के रामेश्वरम् महादेव का अभिषेक करते हैं। उत्तर में बदरी-केदार, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ और पश्चिम में द्वारकापुरी के तीर्थाटन में भारत की चारों दिशाओं की पूजा हो जाती है।

भारत की सात पुरियाँ पवित्र और मोक्षप्रद मानी गई हैं। इनकी भी यात्रा की जाती है और प्रातः स्मरण भी किया जाता है। इनके नाम हैं— अयोध्या, मथुरा, माया (हरद्वार,) काशी, कांची, अवंतिका (उज्जयिनी), द्वारावती (द्वारका)। पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

स्वामी शंकराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में अपने मठ स्थापित किए थे। उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, पूर्व में गोवर्धन मठ और पश्चिम में शारदा मठ। ये भगवान शंकराचार्य की दिग्विजय के कीर्तिस्तंभ ही नहीं वरन् भारत की एकता के भी परिचायक चिह्न हैं। दक्षिण के अन्य आचार्यों के संप्रदाय अविरोध

भाव से उत्तर में फूले-फले और विकसित हुए। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय ने भी मथुरा-वृंदावन में अपनी शिष्य-परंपरा स्थापित की। इन संप्रदायों के मंदिर बने और इनकी पूजा-अर्चा ने उत्तरप्रदेश के जीवन और साहित्य को प्रभावित किया। हिन्दी-साहित्य-गगन के सूर्य और शशि-स्वरूप सूर और तुलसी दक्षिण के संप्रदायों से ही प्रभावित थे। ये सब एकता के सूत्र प्राचीन ही थे (पश्चिम की सौगात न थे), किन्तु उनकी उपेक्षा की गई।

अब भाषा का प्रश्न आता है। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उन सभी के शब्दों में पारिवारिक समानता है। दक्षिण की भाषाएँ भी संस्कृत से प्रभावित हुई हैं। उन्होंने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में संस्कृत की शब्दावली ग्रहण की, किसी ने थोड़ी तो किसी ने बहुत। उर्दू को छोड़कर प्रायः सभी भाषाओं की वर्णमाला एक नहीं तो एक-सी है। केवल लिपि का भेद है। मराठी और देवनागरी की लिपि भी समान है। संस्कृत की परिनिष्ठित लिपि होने के कारण देवनागरी प्रायः सभी प्रांतों में पहचानी जाती है। उर्दू का लिपिभेद होते हुए भी हिन्दी के साथ भाषा में साम्य है। भाषा की ज़मीन और व्याकरण प्रायः एक-से हैं। बेल-बूटे फारसी अरबी के हैं। प्रेमचंद, अश्क, सुदर्शन, कृष्णचंद्र ने हिन्दी में भी लिखा और उर्दू में भी। भारत की प्रायः सभी भाषाओं का साहित्य भगवान राम और कृष्ण की पावन गाथाओं से आप्लावित रहा है, सभी ने संतों और वीरों का स्तवन किया है, सभी भाषाओं के साहित्य ने स्वतंत्रता की लड़ाई में योगदान किया है। भाषाओं का भेद होते हुए भी विचारों की एकध्येयता रही है।

भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य का धूमिल इतिहास घुला-मिला-सा प्रतीत होता है। उनके बीच कोई अभेद्य दीवार न थी। मीरा गुजराती और हिन्दी में समान रूप से कवयित्री मानी जाती हैं। मीरा के गीतों से बंगाल भी प्रभावित हुआ है। भूषण की वाणी का महाराष्ट्र में भी आदर हुआ था। संत तुकाराम आदि महाराष्ट्र-संतों ने अपनी कविता में हिन्दी को भी अपनाया। विद्यापति समान रूप से हिन्दी, मैथिली और बंगला में कवि माने

जाते हैं। कबीर, दादू आदि संतों का व्यापक प्रभाव रहा है। उन्होंने अपने एकतारे की तान में सारे भारत को बाँध दिया। तुलसीकृत रामायण का मराठी और बंगला में भी अनुवाद हुआ। सूरदास क भजनों को प्रायः सभी प्रांतों के गवैयों ने अपनाया। बंगला के 'वंदे-मातरम्' और 'जन-गण-मन' राष्ट्रीय गीत बने। वेश-भूषा, रहन-सहन और शक़्ल-सूरत में भेद होते हुए भी भारतवासी अपने जातीय व्यक्तित्व से पहचान लिए जाते हैं।

हमारा एक जातीय व्यक्तित्व है। वह हमारी जातीय मनो-वृत्ति, जीवन-मीमांसा, रहन-सहन, रीति-रिवाज़, उठने-बैठने के ढंग, चाल-ढाल, वेश-भूषा, साहित्य, संगीत और कला में अभिव्यक्त होता है। विदेशी प्रभाव पड़ने पर भी वह बहुत अंशों में अक्षुण्ण बना हुआ है। वही हमारी एकता का मूल सूत्र है।

प्रश्न और अभ्यास

१. भारतीय जीवन में भेद ही नहीं अभेद की भी गहरी भावना विद्यमान है। धर्म, साहित्य और संस्कृति से उदाहरण देते हुए अभेदसूचक तत्त्वों का वर्णन कीजिए।

२. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए :

(क) **जिस देश में भेद नहीं, उसकी इकाई शून्य या गणित-शास्त्र की इकाई की भाँति दरिद्र इकाई है। संपन्नता भेदों में ही है। किन्तु भेद इतने न होने चाहिएँ कि उनमें सामंजस्य न रहे।**

(ख) **हमारा एक जातीय व्यक्तित्व है। वह हमारी जातीय मनोवृत्ति, जीवन-मीमांसा, रहन-सहन, रीति-रिवाज़, उठने-बैठने के ढंग, चाल-ढाल, वेश-भूषा, साहित्य, संगीत और कला में अभिव्यक्त होता है। विदेशी प्रभाव पड़ने पर भी वह बहुत अंशों में अक्षुण्ण बना हुआ है। वही हमारी एकता का मूल सूत्र है।**

३. संधि-विच्छेद कीजिए :

समायोजन, ज्ञानेन्द्रिय, दिग्विजय।

४. **अविरल, अविरोध** आदि शब्दोंमें 'अ' उपसर्ग मूल अर्थ के विपरीत अर्थ देता है। इसी प्रकार के पाँच शब्द और बना कर उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए।

५. अर्थ स्पष्ट कीजिए :

उपकरण, क्षति, ह्रास, समायोजन, अस्तित्व, सार्वभौम, ऋचा, परिनिष्ठित, धूमिल इतिहास, अभेद्य दीवार, अक्षुण्ण।

राहुल सांकृत्यायन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का जन्म सन् १८९३ ई० में जिला आजमगढ़ (उत्तरप्रदेश) के पंदहा नामक गाँव में हुआ था। सन् १९६३ ई० में लंबी बीमारी के बाद इनका देहांत हो गया। इनका बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पांडेय था। प्रारंभ से ही इनकी प्रकृति स्वच्छंद थी। किशोरावस्था में ही घर से निकल पड़े और एक मठ के वैरागी साधु हो गए। वहाँ भी अधिक न रह सके और वाराणसी जा पहुँचे। वहाँ इन्होंने अनेक वर्षों तक व्याकरण, साहित्य और दर्शन का विस्तृत अध्ययन किया। बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद इन्होंने लंका, बर्मा, तिब्बत, चीन, यूरोप तथा मध्यएशिया का पर्यटन किया। रूस में ये अनेक वर्षों तक भारतीय दर्शन के अध्यापक रहे। राहुल जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, भोट (तिब्बती), चीनी, रूसी, आदि अनेक भाषाओं के विद्वान थे। बौद्ध दर्शन के ये प्रख्यात पंडित और व्याख्याता थे। बौद्धधर्म के अनेक ग्रंथों का इन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया है, जिनमें '**मज्झिमनिकाय**', '**दीर्घनिकाय**', और '**विनयपिटक**' विशेष उल्लेखनीय हैं।

राहुल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वाङमय के अनेक क्षेत्रों में इन्होंने कार्य किया और अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे जिनकी संख्या सौ से ऊपर है। तिब्बत और चीन के पर्यटन-काल में इन्होंने सहस्रों प्राचीन ग्रंथों का उद्धार किया और उनके संपादन तथा प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया। यह ग्रंथ-राशि पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।

भाषा पर राहुल जी का व्यापक अधिकार था और इनमें विषय एवं भाव के अनुरूप भाषा-प्रयोग की अद्भुत क्षमता थी। इनका शब्द-भांडार अत्यंत समृद्ध था, परंतु ये सदा सरल, स्वाभाविक और परिचित पदावली का प्रयोग करना ही पसंद करते थे।

अपने जीवन के उत्तरार्ध में राहुल जी कुछ वर्ष मसूरी रहे थे। प्रस्तुत पाठ में उसी समय के हिमपात का वर्णन है। इसमें लेखक ने प्रकृति-सौन्दर्य के एक अद्भुत रूप की ओर ध्यान खींचा है जिसकी कल्पना मैदान में रहनेवाले लोग नहीं कर पाते।

राहुल सांकृत्यायन

हिमपात

सन् १९५७ के प्रथम दिन ही रात को मसूरी में बर्फ़ पड़ी, लेकिन वह इतनी नहीं थी कि अधिक दिनों तक टिक सकती। ७ जनवरी को ८ इंच बर्फ़ की बारिश हुई और ९ जनवरी को सारा दिन उससे भी अधिक बर्फ़ गिरी। १० जनवरी को सवेरे आकाश बिल्कुल निरभ्र था। हलका नीला रंग, जिसमें सूर्य और भी अधिक चमक रहा था। ज़मीन पर दो फुट बर्फ़ बिछी हुई थी मानो शंख-श्वेत छोटे दानेवाली चीनी बिछी हुई हो। मकानों की दीवारों को छोड़ कर भूमि का कोई अंश बर्फ़ से खाली नहीं था। बाड़ के लिए लगाई लोहे की जालियाँ हिम से मढ़ कर चाँदी की बन गई थीं। तार भी रौप्यमय बन गए थे। देवदार, पद्म, बंज (ओक) जैसे ही कुछ वृक्ष हैं, जो यहाँ की सर्दी में अपने पत्तों को नहीं गिराते। देवदार का गहरा हरा रंग तो जाड़ों में और भी अधिक मोहक मालूम होता है, क्योंकि हरियाली की शोभा में वह सबसे बढ़कर है, और ऐसे काल में जब कि आँखें सब्ज़ी देखने के लिए तरसती हैं। देवदार दिन के ९ बजे भी हिममुक्त नहीं हुआ था। उसकी सुई जैसी पत्तियाँ अपने स्वाभाविक रंग को छोड़ कर रुपहली बन गईं थीं और पत्ती सहित डालियाँ हाथ के पंजे की तरह बर्फ़ के लोंदों से ढकी विचित्र-सी मालूम होती थीं। हमारे घर के सामने की आस्ट्रेलियन खजूर के सारे चौड़े पत्ते सफेद बर्फ़ के मोटे कंबल को ओढ़े मानो सर्दी के निवारण का प्रयत्न कर रहे थे। दूसरे दिन भी सबसे ऊपरवाला केवल एक पत्ता हिममुक्त हो पाया, बाकी पत्ते मोटी बर्फ की तह से अब भी ढके थे।

दरवाज़े से चंडालगढ़ी की तरफ नजर दौड़ाने पर एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। कंपनी बाग और ऊपरवाली पहाड़ी पर जो सीधे खड़े हरे-हरे शिखरदार देवदार दिखाई पड़ते थे, वे सब सिर से पैर तक बर्फ़ से ढके कुछ दूसरे ही वृक्ष मालूम होते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि खंभों के सहारे विकराल मक्के की बालें लटकाई गई हैं या पृथिवी से स्वर्ग के रुपहले विचित्र देवदारु निकले हुए हैं। वे चारों

तरफ श्वेतिमा से मढ़े होने के कारण जंगली वृक्षों की तरह सटे हुए नहीं, बल्कि एक-एक वृक्ष अलग-अलग खड़ा मालूम होता था। श्वेत देवदारों और श्वेत भूमि के बीच में जहाँ-तहाँ मसूरी के दुमंज़िले-तिमंज़िले घर खड़े थे। छतों पर हाथ-हाथ मोटी बर्फ़ थी। हमें तो डर मालूम होने लगा था कि बर्फ़ के बोझ के मारे छत नीचे गिर पड़ेगी। सचमुच ही यदि सात-आठ इंच और हिमवृष्टि होती, तो मसूरी के कितने ही घरों की छतें नीचे आ गई होतीं। मसूरी के बनानेवाले अंग्रेज़ थे, जिन्हें हिम-वृष्टि का अनुभव था। यूरोप के मकानों की छतें दीवार से बहुत थोड़ा कोण बनाती खड़ी होती हैं, जिन पर बर्फ़ टिक नहीं सकती। अधिक कोण छोड़ने पर छतें हिम से बोझिल होने लगती हैं, लेकिन फिर अपने ही बोझ के मारे बर्फ़ फिसल कर नीचे चली आती है।

पड़ती हुई बर्फ़ का दृश्य बड़ा मोहक होता है। जो बादल हरद्वार और दिल्ली में पानी की बूँदें बरसाते हैं, वे ही बहुत ठंड पड़ने पर ६००० फ़ुट के ऊपर की जगहों में बर्फ़ बन कर गिरने लगते हैं। मसूरी में भी आकाश का तापमान जब तक शून्य डिग्री (सैं०) से नीचे नहीं होता, बादल जलवृष्टि ही के रूप में उतरता है। आकाश का तापमान यदि हिमबिन्दु से नीचे हो, लेकिन पृथिवी का तापमान उतना नीचा न हो, तो बर्फ़ के छोटे-बड़े कण पृथिवी पर पहुँचते ही विलीन होकर जल बन जाते हैं। मसूरी में जलवृष्टि निम्न तापमान में बजरी (नरम छोटे-छोटे ओलों) का रूप लेती है। तापमान के और गिरने पर बजरी हिमकणों का रूप लेती है; और भी अधिक शीतलता आने पर हिम रुई के फायों का रूप लेती है। हलकी-सी हवा चल रही हो तो ये फाए हवा में तैरते हुए तिरछे चलकर भूमि पर उतरते हैं। हिमकणों या फायों के गिरने से पृथिवी ढकने लगती है। यदि चाँदनी रात में हिम-वृष्टि हो रही हो तो दृश्य और भी सुंदर होता है। चाँदनी में हिम-कणों या फायों का स्वरूप और रंग निखर आता है। चाँदनी वैसी भी मोहक होती है, पर इस समय की चाँदनी तो सचमुच ही अद्‌भुत होती है।

हिमराशि और हिमपात बड़े सौन्दर्य की वस्तु हैं, पर इनके

दर्शन करने का आनंद सभी नहीं ले सकते। हरद्वार, ऋषिकेश और देहरादून से मसूरी-जैसी हिमपात की भूमि दूर नहीं है, पर हमारे लोगों को प्रायः उसके सौन्दर्य को नेत्रों द्वारा पान करने की लालसा नहीं होती। आज यातायात सुलभ है। रेडियोवाले शाम को ही लोगों को सूचित कर दें कि मसूरी में बर्फ़ फुट-दो-फुट पड़ी हुई है, कल बड़ा सुंदर समाँ होगा, तो कितने ही लोग यहाँ आ सकते हैं। दिल्ली से कार द्वारा आने में पाँच घंटे से ज़्यादा नहीं लगेंगे। सहारनपुर से दो घंटे भी नहीं, और देहरादून से तो पौन घंटा ही। अब लोगों में कुछ रुचि जगने लगी है और हिमपात देखने के लिए वे सैकड़ों की तादाद में आते हैं। ग्रीष्म में आनंद लूटने के लिए अधिक लोग यहाँ आते हैं। वही बात हिम-दर्शन के लिए भी लोगों में आ सकती है, पर हिम का दर्शन साधारण आदमी के बस की बात नहीं है। नीचे का आपका ओवरकोट यहाँ की सर्दी को रोक नहीं सकता। यहाँ और मोटा गरम स्वेटर चाहिए। चमड़े की जर्सी या फतुई अधिक सहायक हो सकती है। मोटे कोट-पैण्ट के अतिरिक्त मोटा ओवरकोट, पैरों में मोटा ऊनी मोज़ा और फुल बूट चाहिएँ। कान और सर ढाँकने के लिए चमड़े या ऊन की टोपी और हाथों में चमड़े के दस्ताने भी चाहिएँ।

देखने में नयनाभिराम हिमराशि की श्वेतिमा मन को मोहक मालूम होती है लेकिन यदि आप अपनी जगह से हिलना-डोलना चाहें तो यह मोहकता छूमंतर हो जाती है। दो फुट मोटी बर्फ़ एक-दो दिन तक तो इतनी नरम होती है कि जाँघ के पास तक आपका पैर उसमें घुस जाता है—मानो दो फुट मोटी कीचड़ में से आप गुज़र रहे हैं। हाँ, कीचड़ में कपड़ा गंदा होता है, उससे अरुचि होती है, पर बर्फ में कपड़ा गंदा होने का डर नहीं है। जब तक वह पिघल कर पानी नहीं होती, तब तक न आपका पैर भीग सकता है, न जूता, न पायजामा। परिचित स्थानों में आप जानते हैं कि कहाँ रास्ता है, और कहाँ गड्ढा, इसलिए बचकर चल सकते हैं। अगर अपरिचित स्थान है तो और भी ख़तरा सामने है। ऐसी जगह खिसककर आई बर्फ़ दो फुट नहीं चार फुट भी मोटी हो सकती है, और फिर गले तक आप उसमें गड़ाप हो सकते हैं। ऐसा तजुर्बा अच्छा नहीं मालूम होता। जिस वक्त आसमान

बादलों से ढका रहता है, बर्फ़ आसमान से उतर कर धरती को ढकने का प्रयत्न करती है, उस समय हवा न होने पर भी सर्दी अत्यधिक बढ़ जाती है। यूरोप या रूस के मैदानी इलाकों में बर्फ़ चाहे कितनी ही मोटी हो, लेकिन वहाँ खड्डों और गड्ढों का डर नहीं रहता। हमारे पहाड़ों में समतल भूमि ढूँढ़ने से नहीं मिलती। इस सर्दी में और ऐसी ऊबड़-खाबड़ भूमि में आदमी का चलने को मन नहीं करता। यही इच्छा होती है—घर में आग जला लो और उसके पास बैठ जाओ।

हिमपात के समय सर्द मुल्कों के लोग बाहर घूमने में आनंद अनुभव करते हैं। पैरों के तलवे में स्की की लंबी लकड़ी बाँध कर दोनों हाथों में डंडे से वह फिसलने का आनंद लेते हैं। तरुण-तरुणी होड़ लगा कर एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहते हैं। मसूरी जैसे स्थानों में ऐसे समतल स्थान पहले तो हैं ही नहीं, और हैपीवैली के आँगन की तरह के यदि कोई हैं भी, तो आनंद लेनेवाले आदमियों का अभाव है। दूसरे बर्फ़ानी खेल भी यहाँ नहीं खेले जाते। यह नहीं है कि हिमालय के बर्फ़ानी स्थानों के बच्चे और तरुण हिम का खेल खेलना नहीं जानते। हिमपिण्ड को उठाकर दोनों हाथों से दबा गेंद का रूप दे वह एक दूसरे के ऊपर फेंकते हैं। कहीं-कहीं चमड़े या लकड़ी के पटरे को रख उस पर बैठकर नीचे की ओर फिसलते हैं। मसूरी के निवासी वस्तुतः बर्फ़ानी स्थान के होते, तो हिम-क्रीड़ा के आनंद से अपने को वंचित न करते। यहाँ के दुकानदार प्रायः सभी नीचे से आए हुए हैं। चौकीदार, छोटे-मोटे नौकर ही पहाड़ी हैं, वह भी ४००० फुट से नीचे-वाले स्थानों से ही आए हैं। इसलिए, उन्हें हिमक्रीड़ा के आनंद का अनुभव नहीं है। समय आएगा, जब संपत्ति और शिक्षा, संस्कृति और यौवन-सुलभ उत्साह के साथ हमारे लोग बर्फ़ का आनंद लेने के लिए यहाँ अधिक संख्या में पहुँचा करेंगे। पर अभी तो वह दूर की बात है।

हिमपात की खबर सुनकर अब लोगों को उसके देखने की लालसा तो होने लगी है। ९ तारीख को सारे दिन बर्फ़ पड़ती रही। यह इस साल की ही सबसे बड़ी हिमवृष्टि नहीं थी, बल्कि १९४५ ई० के बाद इतना हिमपात कभी नहीं हुआ। ९ तारीख की रात को ही रेडियो ने हिमपात की खबर दे दी। देहरादून के कितने ही उत्साही

राजपुर से पैदल ही मसूरी पहुँचे। दोपहर के भोजन को कुछ सवेरे ही खतम करके मंगलदेवजी के साथ मैं भी घर से बर्फ़ का दृश्य देखने निकला। पचास गज़ चलने पर देखा, हमारे अलसेशियन भूतनाथ आगे-आगे चल रहे हैं। रास्ते में उनका कितने ही कुत्तों से दाँत चलाना, खुद घायल होना और दूसरों को घायल करना हमें पसंद नहीं था। घर लौटाने की बहुत कोशिश की, लेकिन वे लौटे नहीं। अलसेशियन कुत्ता बर्फ़ का प्राणी है, गर्दन तक बर्फ़ में धँस कर किलोल करने में उसे बहुत आनंद आता है। अपने भेड़िये के रंग के बालों को पड़ती हुई बर्फ़ की तह से ढक लेने में उसे आनंद मिलता है। हैपीवैली मुहल्ले में आने-जानेवाले बहुत कम ही हैं, इसलिए लोगों के पैरों ने बर्फ़ को दबा कर रास्ता नहीं बनाया था। हमीं दोनों ही को रास्ता बनाना था। हमने चार्लेविल होटल का रास्ता पकड़ा। वहाँ अछूती बर्फ़ पर डेढ़-दो सौ गज़ चलना पड़ा। समतल भूमि में भी ऐसी बर्फ़ में चलने में थकावट आती, यहाँ तो चढ़ाई भी थी। सड़क तक पहुँचने में हमें कष्ट और थकावट मालूम हुई। सड़क से आज पचीस-पचास आदमी ज़रूर गुज़रे थे, इसलिए उनके पैरों ने बर्फ़ को दबाकर एक फुट चौड़ा रास्ता बना दिया था। आमने-सामने से आने पर, किसी को बगल में हाथ भर बर्फ़ में धँसकर रास्ता छोड़ना पड़ता।

कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर एक बड़ी-सी डाल टूट कर सड़क पर गिरी दिखाई पड़ी। उसने बिजली के तारों को खराब कर दिया था। लोग समझते हैं, आँधी के ही ज़ोर से वृक्ष उखड़ते हैं, डालियाँ टूटती हैं। नहीं जानते, बर्फ़ भी ऐसा कर सकती है। फाया-फाया गिरकर वह पेड़ की डालियों पर जमा हो जाती है। यदि जाड़े के आरंभ होने के पहले ही पत्ता गिरा कर नंगे होनेवाले वृक्ष हैं, तो उनको ख़तरा नहीं। देवदार, बंज या दूसरे कठिनजीवी पत्तेवाले वृक्षों पर ये फाए जमकर मनों की हिमराशि बन जाते हैं, जिसके भार से डालियाँ झुक जाती हैं, मात्रा अधिक हुई तो टूट कर गिर जाती हैं। छोटी-मोटी डालियाँ तो सैकड़ों टूटी हुई मिलीं। एक बड़ा पेड़ भी उखड़ कर गिर गया था। वह पहले ही से ज़रा-सा झुका हुआ था। सैकड़ों मन बर्फ़ उसके सिर पर जब पड़ी तो जड़ों ने जवाब दे दिया। दोपहर हो चुकी

थी, लेकिन अभी पेड़ों को हिम की श्वेतिमा ने छोड़ा नहीं था। जब-तब वृक्षों के शिखरों से बर्फ के लोंदे गिरते, इस समय की गंभीर नीरवता को भंग करते। मनुष्य तो बर्फ़ में हिलने-डोलने की कोशिश भी करते हैं, पर पशु-पंछी दम मारना भी पसंद नहीं करते थे। पक्षियों के लिए आसान है कि साढ़े छह हज़ार फुट की ऊँचाई से दो हज़ार फुट की ऊँचाई पर चले जाएँ और शीत तथा हिम के आतंक से मुक्त हो जाएँ।

बर्फ़ानी मुल्कों में बर्फ़ के तरह-तरह के खेल खेले जाते हैं। यहाँ मसूरी में भी लड़के उसकी गेंद बनाकर एक दूसरे के ऊपर फेंकते थे। वे इसे होली का हुड़दंग समझते हैं, इसलिए जिस किसी आते-जाते के ऊपर गेंद मारने की कोशिश से बाज़ नहीं आते। बर्फ़ की गेंद से न चोट लगने का डर है, और न कपड़े के भीगने या मैला होने का। पर अपरिचित के साथ ऐसा बर्ताव करना ठीक नहीं है। बर्फ़ के पुतले बनाने का भी लोगों को शौक बढ़ चला है। कुल्हड़ी में बहुत ढलानवाली सड़क बर्फ़ में फिसलने के उपयुक्त थी। यह देखकर हर्ष हुआ कि पटरे के सहारे कुछ लड़के फिसलने का आनंद ले रहे हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. हिमपात क्यों होता है ?
२. बर्फ़ीले स्थानों पर मकानों की छतें तिरछी क्यों बनाई जाती हैं ?
३. पशु-पक्षियों और वृक्षों पर बर्फ़ गिरने के क्या-क्या प्रभाव होते हैं ?
४. हमारे देश में मसूरी के अतिरिक्त और किन-किन सैलानी स्थानों पर बर्फ़ पड़ती है ?
५. पाठ में से सुंदर शब्द-चित्र प्रस्तुत करनवाले अंश चुनिए ?
६. हिमपात के दृश्य का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
७. जिस प्रकार 'श्वेत' से भाववाचक संज्ञा 'श्वेतिमा' बनती है उसी प्रकार अन्य रंगों के वाचक कुछ शब्दों से भाव-वाचक संज्ञाएँ बनाइए और उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए।
८. निम्नलिखित शब्दों और मुहावरों के अर्थ बताते हुए उन्हें अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए :

निरभ्र, शंख-श्वेत, नयनाभिराम, नीरवता, जवाब देना, दम मारना।

श्रीराम शर्मा

पं० श्रीराम शर्मा का जन्म जिला मैनपुरी (उत्तरप्रदेश) के किरथरा नामक गाँव में सन् १८९६ ई० में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की और प्रारंभ में इन्होंने अध्यापन-कार्य भी किया। इसके बाद बहुत समय तक ये स्वतंत्र रूप से राष्ट्र और साहित्य की सेवा करते रहे। साहित्य के क्षेत्र में **'विशाल भारत'** के संपादक-रूप में इन्होंने विशेष ख्याति अर्जित की है।

शर्मा जी एक सफल शिकारी हैं और लेखनी द्वारा शिकार के आनंद को अपने पाठकों तक पहुँचाना भी जानते हैं। हिन्दी में ये शिकार-साहित्य के अग्रणी लेखक हैं। इन्होंने ज्ञानवर्द्धक एवं विचारोत्तेजक लेख भी लिखे हैं, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण और मुहावरेदार है। तद्भव शब्दों के प्रयोग से इनकी भाषा में विशेष सजीवता उत्पन्न हो जाती है।

'शिकार,' 'बोलती प्रतिमा' एवं **'जंगल के जीव'** इनकी शिकार-संबंधी पुस्तकों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त **'सेवाग्राम की डायरी', 'सन् बयालीस के संस्मरण'** आदि इनकी अन्य पुस्तकें हैं।

'स्मृति' में लेखक ने बाल्यावस्था की एक घटना का बड़ी रोमांचक शैली में चित्रण किया है। प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक परिस्थिति की गंभीरता तथा खतरे को इन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पाठक का कुतूहल आदि से अंत तक बराबर बना रहता है।

श्रीराम शर्मा

स्मृति

सन् १९०८ ई० की बात है। दिसंबर का आखीर या जनवरी का प्रारंभ होगा। चिल्ला जाड़ा पड़ रहा था। दो-चार दिन पूर्व कुछ बूँदा-बाँदी हो गई थी, इसलिए शीत की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। सायंकाल के साढ़े तीन या चार बजे होंगे। कई साथियों के साथ मैं झरबेरी के बेर तोड़-तोड़ कर खा रहा था कि गाँव के पास से एक आदमी ने ज़ोर से पुकारा कि तुम्हारे भाई बुला रहे हैं, शीघ्र ही घर लौट जाओ। मैं घर को चलने लगा। साथ में छोटा भाई भी था। भाई साहब की मार का डर था, इसलिए सहमा हुआ चला जाता था। समझ में नहीं आता था कि कौन-सा क़ुसूर बन पड़ा। डरते-डरते घर में घुसा। आशंका थी कि बेर खाने के अपराध में ही तो पेशी न हो। पर आँगन में भाई साहब को पत्र लिखते पाया। अब पिटने का भ्रम दूर हुआ। हमें देखकर भाई साहब ने कहा—"इन पत्रों को ले जाकर मक्खनपुर डाकखाने में डाल आओ। तेज़ी से जाना जिससे शाम की डाक में ही चिट्ठियाँ निकल जाएँ। ये बड़ी ज़रूरी हैं।"

जाड़े के दिन थे ही, तिस पर हवा के प्रकोप से कँपकँपी लग रही थी। हवा मज्जा तक ठिठुरा रही थी, इसलिए हमने कानों को धोती से बाँधा। माँ ने भुँजाने के लिए थोड़े चने एक धोती में बाँध दिए। हम दोनों भाई अपना-अपना डंडा लेकर घर से निकल पड़े। उस समय उस बबूल के डंडे से जितना मोह था, उतना इस उमर में रायफल से नहीं। मेरा डंडा अनेक साँपों के लिए नारायण-वाहन हो चुका था। मक्खनपुर के स्कूल और गाँव के बीच पड़नेवाले आम के पेड़ों से प्रतिवर्ष उससे आम झूरे जाते थे। इस कारण वह मूक डंडा सजीव-सा प्रतीत होता था। प्रसन्नवदन हम दोनों मक्खनपुर की ओर तेज़ी से बढ़ने लगे। चिट्ठियों को मैंने टोपी में रख लिया, क्योंकि कुर्ते में जेबें न थीं।

हम दोनों उछलते-कूदते, एक ही साँस में गाँव से चार फर्लांग

दूर उस कुएँ के पास आ गए जिसमें एक अति भयंकर काला साँप पड़ा हुआ था। कुआँ कच्चा था, और चौबीस हाथ (३६ फुट) गहरा था। उसमें पानी न था। उसमें न-जाने साँप कैसे गिर गया था? कारण कुछ भी हो, हमारा उसके कुएँ में होने का ज्ञान केवल दो महीने का था। बच्चे नटखट होते ही हैं। मक्खनपुर पढ़ने जानेवाली हमारी टोली पूरी बानर-टोली थी। एक दिन हम लोग स्कूल से लौट रहे थे कि हमको कुएँ में उझकने की सूझी। सबसे पहले उझकनेवाला मैं ही था। कुएँ में झाँककर एक ढेला फेंका कि उसकी आवाज़ कैसी होती है। उसके सुनने के बाद अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुनने की इच्छा थी, पर कुएँ में ज्यों ही ढेला गिरा त्यों ही एक फुसकार सुनाई पड़ी। कुएँ के किनारे खड़े हुए हम सब बालक पहले तो उस फुसकार से ऐसे चकित हो गए जैसे किलोलें करता हुआ मृगसमूह अति समीप के कुत्ते की भौंक से चकित हो जाता है। उसके उपरांत सभी ने उझक-उझक कर एक-एक ढेला फेंका, और कुएँ से आनेवाली क्रोधपूर्ण फुसकार पर कहकहे लगाए। गाँव से मक्खनपुर जाते और मक्खनपुर से लौटते समय प्रायः प्रतिदिन ही कुएँ में ढेले डाले जाते थे। मैं तो आगे भाग कर आ जाता था और टोपी को एक हाथ से पकड़ कर दूसरे हाथ से ढेला फेंकता था। यह रोज़ाना की आदत हो गई थी। साँप से फुसकार करवा लेना मैं उस समय बड़ा काम समझता था। इसलिए जैसे ही हम दोनों उस कुएँ की ओर से निकले, कुएँ में ढेला फेंककर फुसकार सुनने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई। मैं कुएँ की ओर बढ़ा। छोटा भाई मेरे पीछे ऐसे हो लिया जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है। कुएँ के किनारे से एक ढेला उठाया और उझककर एक हाथ से टोपी उतारते हुए साँप पर ढेला गिरा दिया, पर मुझ पर तो बिजली-सी गिर पड़ी। साँप ने फुसकार मारी या नहीं—ढेला उसे लगा या नहीं, यह बात अब तक स्मरण नहीं। टोपी के हाथ में लेते ही तीनों चिट्ठियाँ चक्कर काटती हुई कुएँ में गिर रही थीं। अकस्मात् जैसे घास चरते हुए हिरन की आत्मा गोली से हत होने पर निकल जाती है और वह तड़पता रह जाता है, उसी भाँति वे चिट्ठियाँ क्या टोपी से निकल गईं, मेरी तो जान निकल गई। उनके गिरते ही मैंने उनको पकड़ने

के लिए एक झपट्टा भी मारा; ठीक वैसे जैसे घायल शेर शिकारी को पेड़ पर चढ़ते देख उस पर हमला करता है। पर वे तो पहुँच से बाहर हो चुकी थीं। उनको पकड़ने की घबराहट में मैं स्वयं झटके के कारण कुएँ में गिर गया होता।

कुएँ की पाट पर बैठे हम रो रहे थे——छोटा भाई ढाढ़ें मारकर और मैं चुपचाप आँखें डबडबाकर। पतीली में उफान आने से ढकना ऊपर उठ जाता है और पानी बाहर टपक जाता है। निराशा, पिटने के भय और उद्वेग से रोने का उफान आता था। पलकों के ढकने भीतरी भावों को रोकने का प्रयत्न करते थे, पर कपोलों पर आँसू ढलक ही जाते थे। माँ की गोद की याद आती थी। जी चाहता था कि माँ आकर छाती से लगा ले और लाड़-प्यार करके कह दे कि कोई बात नहीं, चिट्ठियाँ फिर लिख ली जाएँगी। तबीयत करती थी कि कुएँ में बहुत-सी मिट्टी डाल दी जाए और घर जाकर कह दिया जाए कि चिट्ठी डाल आए, पर उस समय झूठ बोलना मैं जानता ही न था। घर लौटकर सच बोलने से रुई की भाँति धुनाई होती। मार के ख़याल से शरीर ही नहीं, मन भी काँप जाता था। सच बोलकर पिटने के भावी भय और झूठ बोलकर चिट्ठियों के न पहुँचने की ज़िम्मेदारी के बोझ से दबा मैं बैठा सिसक रहा था। इसी सोच-विचार में पंद्रह मिनट होने आए। देर हो रही थी, और उधर दिन का बुढ़ापा बढ़ता जाता था। कहीं भाग जाने को तबीयत करती थी, पर पिटने का भय और ज़िम्मेदारी की दुधारी तलवार कलेजे पर फिर रही थी।

दृढ़ संकल्प से दुविधा की बेड़ियाँ कट जाती हैं। मेरी दुविधा भी दूर हो गई। कुएँ में घुसकर चिट्ठियों को निकालने का निश्चय किया। कितना भयंकर निर्णय था! पर जो मरने को तैयार हो, उसे क्या? मूर्खता अथवा बुद्धिमत्ता से किसी काम को करने के लिए कोई मौत का मार्ग ही स्वीकार कर ले, और वह भी जान-बूझ कर, तो फिर वह अकेला संसार से भिड़ने को तैयार हो जाता है। और फल? उसे फल की क्या चिन्ता। फल तो किसी दूसरी शक्ति पर निर्भर है। उस समय चिट्ठियाँ निकालने के लिए मैं विषधर से भिड़ने को तैयार हो गया। पासा फेंक दिया था। मौत का आलिंगन हो अथवा साँप से बचकर

दूसरा जन्म---इसकी कोई चिन्ता न थी। पर विश्वास यह था कि डंडे से साँप को पहले मार दूँगा, तब फिर चिट्ठियाँ उठा लूँगा। बस इसी दृढ़ विश्वास के बूते पर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी।

छोटा भाई रोता था और उसके रोने का तात्पर्य था कि मेरी मौत मुझे नीचे बुला रही है, यद्यपि वह शब्दों से न कहता था। वास्तव में मौत सजीव और नग्न रूप में कुएँ में बैठी थी, पर उस नग्न मौत से मुठभेड़ के लिए मुझे भी नग्न होना पड़ा। छोटा भाई भी नंगा हुआ। एक धोती मेरी, एक छोटे भाई की, एक चने वाली, दो कानों से बँधी हुई धोतियाँ---पाँच धोतियाँ और कुछ रस्सी मिलाकर कुएँ की गहराई के लिए काफ़ी हुईं। हम लोगों ने धोतियाँ एक-दूसरी से बाँधीं और खूब खींच-खींच कर आज़मा लिया कि गाँठें कड़ी हैं या नहीं। अपनी ओर से कोई धोखे का काम न रक्खा। धोती के एक सिरे पर डंडा बाँधा और उसे कुएँ में डाल दिया। दूसरे सिरे को डेंग (वह लकड़ी जिस पर चरस--पुर टिकता है) के चारों ओर एक चक्कर देकर और एक गाँठ लगाकर छोटे भाई को दे दिया। छोटा भाई केवल आठ वर्ष का था, इसीलिए धोती को डेंग से कड़ी करके बाँध दिया और तब उसे खूब मज़बूती से पकड़ने के लिए कहा। मैं कुएँ में धोती के सहारे घुसने लगा। छोटा भाई फिर रोने लगा। मैंने उसे आश्वासन दिलाया कि मैं कुएँ के नीचे पहुँचते ही साँप को मार दूँगा; और मेरा विश्वास भी ऐसा ही था। कारण यह था कि इससे पहले मैंने अनेक साँप मारे थे। इसलिए कुएँ में घुसते समय मुझे साँप का तनिक भी भय न था। उसको मारना मैं बाएँ हाथ का खेल समझता था। कुएँ के धरातल से जब चार-पाँच गज़ रहा हूँगा, तब ध्यान से नीचे को देखा। अकल चकरा गई। साँप फन फैलाए धरातल से एक हाथ ऊपर उठा हुआ लहरा रहा था। पूँछ और पूँछ के समीप का भाग पृथ्वी पर था, आधा अग्रभाग ऊपर उठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। नीचे डंडा बँधा था, मेरे उतरने की गति से जो इधर-उधर हिलता था। उसी के कारण शायद मुझे उतरते देख साँप घातक चोट के आसन पर बैठा था। सँपेरा जैसे बीन बजाकर काले साँप को खिलाता है और साँप क्रोधित हो फन फैला कर खड़ा होता तथा फुंकार मारकर चोट करता है,

ठीक उसी प्रकार साँप तैयार था। उसका प्रतिद्वंद्वी--मैं--उससे कुछ हाथ ऊपर धोती पकड़े लटक रहा था। धोती ढंग से बँधी होने के कारण कुएँ के बीचोबीच लटक रही थी और मुझे कुएँ के धरातल की परिधि के बीचोबीच ही उतरना था। इसके माने थे साँप से डेढ़-दो फ़ुट--गज़ नहीं--की दूरी पर पैर रखना; और इतनी दूरी पर साँप पैर रखते ही चोट करता। स्मरण रहे, कच्चे कुएँ का व्यास बहुत कम होता है। नीचे तो वह डेढ़ गज़ से अधिक होता ही नहीं। ऐसी दशा में कुएँ में मैं साँप से अधिक-से-अधिक चार फुट की दूरी पर रह सकता था, वह भी उस दशा में जब साँप मुझसे दूर रहने का प्रयत्न करता; पर उतरना तो था कुएँ के बीच में क्योंकि मेरा साधन बीचोबीच लटक रहा था। ऊपर से लटककर तो साँप नहीं मारा जा सकता था। उतरना तो था ही। थकावट से ऊपर चढ़ भी नहीं सकता था। अब तक अपने प्रतिद्वंद्वी को पीठ दिखाने का निश्चय नहीं किया था। यदि ऐसा करता भी तो कुएँ के धरातल पर उतरे बिना क्या मैं ऊपर चढ़ सकता था? धीरे-धीरे उतरने लगा। एक-एक इंच ज्यों-ज्यों मैं नीचे उतरता जाता था, त्यों-त्यों मेरी एकाग्रचितता बढ़ती जाती थी। मुझे एक सूझ सूझी। दोनों हाथों से धोती पकड़े हुए मैंने अपने पैर कुएँ की बगल में लगा दिए। दीवार से पैर लगाते ही कुछ मिट्टी नीचे गिरी और साँप ने फू करके उस पर मुँह मारा। मेरे पैर भी दीवार से हट गए, और मेरी टाँगें कमर से समकोण बनाती हुई लटकती रहीं, पर इससे साँप से दूरी और कुएँ की परिधि पर उतरने का ढंग मालूम हो गया। तनिक झूलकर मैंने अपने पैर कुएँ की बगल से सटाए, और कुछ धक्के के साथ अपने प्रतिद्वंद्वी के सम्मुख कुएँ की दूसरी ओर डेढ़ गज़ पर--कुएँ के धरातल पर खड़ा हो गया। आँखें चार हुईं। शायद एक दूसरे ने पहचाना। साँप को चक्षुःश्रवा कहते हैं। मैं स्वयं चक्षुःश्रवा हो रहा था। अन्य इंद्रियों ने मानों सहानुभूति से अपनी शक्ति आँखों को दे दी हो। साँप के फन की ओर मेरी आँखें लगी हुई थीं कि वह कब किस ओर को आक्रमण करता है। साँप ने मोहनी-सी डाल दी थी। शायद वह मेरे आक्रमण की प्रतीक्षा में था, पर जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी

थी, वह तो आकाश-कुसुम था। मनुष्य का अनुमान और भावी योजनाएँ कभी-कभी कितनी मिथ्या और उल्टी निकलती हैं! मुझे साँप का साक्षात् होते ही अपनी योजना और आशा की असंभवता प्रतीत हो गई। डंडा चलाने के लिए स्थान ही न था। लाठी या डंडा चलाने के लिए काफी स्थान चाहिए, जिसमें वे घुमाए जा सकें। साँप को डंडे से दबाया जा सकता था, पर ऐसा करना मानों तोप के मुहरे पर खड़ा होना था। यदि फन या उसके समीप का भाग न दबा, तो फिर वह पलट कर ज़रूर काटता, और फन के पास दबाने की कोई संभावना भी होती तो फिर उसके पास पड़ी हुई दो चिट्ठियों को कैसे उठाता? दो चिट्ठियाँ उसके पास उससे सटी हुई पड़ी थीं और एक मेरी ओर थी। मैं तो चिट्ठियाँ लेने ही उतरा था। हम दोनों अपने पैंतरों पर डटे थे। उस आसन पर खड़े-खड़े मुझे चार-पाँच मिनट हो गए। दोनों ओर से मोरचे पड़े हुए थे, पर मेरा मोरचा कमज़ोर था। कहीं साँप मुझ पर झपट पड़ता तो मैं——यदि बहुत करता तो——उसे पकड़ कर, कुचल कर मार देता, पर वह तो अचूक तरल विष मेरे शरीर में पहुँचा ही देता और अपने साथ-साथ मुझे भी ले जाता। अब तक साँप ने वार न किया था, इसलिए मैंने भी उसे डंडे से दबाने का ख़याल छोड़ दिया। ऐसा करना उचित भी न था। अब प्रश्न था कि चिट्ठियाँ कैसे उठाई जाएँ। बस, एक सूरत थी। डंडे से साँप की ओर से चिट्ठियों को सरकाया जाए। यदि साँप टूट पड़ा, तो कोई चारा न था। कुर्ता था, और कोई कपड़ा न था जिसे साँप के मुँह की ओर करके उसके फन को पकड़ लूँ। मारना या बिल्कुल छेड़खानी न करना——ये दो मार्ग थे। सो पहला मेरी शक्ति के बाहर था। बाध्य होकर दूसरे मार्ग का अवलंबन करना पड़ा।

डंडे को लेकर ज्यों ही मैंने साँप की दाईं ओर पड़ी हुई चिट्ठी की ओर उसे बढ़ाया कि साँप का फन पीछे की ओर हुआ। धीरे-धीरे डंडा चिट्ठी की ओर बढ़ा और ज्यों ही चिट्ठी के पास पहुँचा कि फुंकार के साथ काली बिजली तड़पी और डंडे पर गिरी। हृदय में कंप हुआ; और हाथों ने आज्ञा न मानी। डंडा छूट पड़ा। मैं तो न मालूम कितना ऊपर उछल गया। जान बूझ कर नहीं, यों ही बिदककर।

उछलकर जो खड़ा हुआ, तो देखा डंडे के सिर पर तीन-चार स्थानों पर पीब-सा कुछ लगा हुआ है। वह विष था। साँप ने मानों अपनी शक्ति का सर्टीफिकेट सामने रख दिया था, पर मैं तो उसकी योग्यता का पहले ही से क़ायल था। उस सर्टीफिकेट की ज़रूरत न थी। साँप ने लगातार फूँ-फूँ करके डंडे पर तीन चार चोटें कीं। वह डंडा पहली बार ही इस भाँति अपमानित हुआ था, या शायद वह साँप का उपहास कर रहा था।

उधर ऊपर, फूँ-फूँ और मेरे उछलने और फिर वहीं धमाके से खड़े होने से छोटे भाई ने समझा कि मेरा कार्य समाप्त हो गया और बंधुत्व का नाता फूँ-फूँ और धमाके में टूट गया। उसने ख़याल किया कि साँप के काटने से मैं गिर गया। मेरे कष्ट और विरह के ख़याल से उसके कोमल हृदय को धक्का लगा। भ्रातृ-स्नेह के ताने-बाने को चोट लगी। उसकी चीख निकल गई।

छोटे भाई की आशंका बेजा न थी, पर उस फूँ और धमाके से मेरा साहस कुछ बढ़ गया। दुबारा फिर उसी प्रकार लिफ़ाफ़े को उठाने की चेष्टा की। अब की बार साँप ने वार भी किया और डंडे से चिपट भी गया। डंडा हाथ से छूटा तो नहीं, पर झिझक, सहम अथवा आतंक से अपनी ओर को खिच गया और गुंजल्क मारता हुआ साँप का पिछला भाग मेरे हाथों से छू गया। उफ़, कितना ठंडा था! डंडे को मैंने एक ओर पटक दिया। यदि कहीं उसका दूसरा वार पहले होता, तो उछलकर मैं साँप पर गिरता और न बचता; लेकिन जब जीवन होता है, तब हज़ारों ढंग बचने के निकल आते हैं। वह दैवी कृपा थी। डंडे के मेरी ओर खिच आने से मेरे और साँप के आसन बदल गए। मैंने तुरंत ही लिफ़ाफ़े और पोस्टकार्ड चुन लिए। चिट्ठियों को धोती के छोर में बाँध दिया, और छोटे भाई ने उन्हें ऊपर खींच लिया।

डंडे को साँप के पास से उठाने में भी बड़ी कठिनाई पड़ी। साँप उससे खुलकर उस पर धरना देकर बैठा था। जीत तो मेरी हो चुकी थी पर अपना निशान गँवा चुका था। आगे हाथ बढ़ाता तो साँप हाथ पर वार करता, इसलिए कुएँ की बगल से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर

मैंने उसकी दाईं ओर फेंकी कि वह उस पर झपटा, और मैंने दूसरे हाथ से उसकी बाईं ओर से डंडा खींच लिया, पर बात-की-बात में उसने दूसरी ओर भी वार किया। यदि बीच में डंडा न होता, तो पैर में उसके दाँत गड़ गए होते।

अब ऊपर चढ़ना कोई कठिन काम न था। केवल हाथों के सहारे, पैरों को बिना कहीं लगाए हुए ३६ फुट ऊपर चढ़ना मुझसे अब नहीं हो सकता। १५-२० फुट बिना पैरों के सहारे, केवल हाथों के बल, चढ़ने की हिम्मत रखता हूँ; कम ही, अधिक नहीं। पर उस ग्यारह वर्ष की अवस्था में मैं ३६ फुट चढ़ा। बाहें भर गई थीं। छाती फूल गई थी। धौंकनी चल रही थी। पर एक-एक इंच सरक-सरक कर अपनी भुजाओं के बल मैं ऊपर चढ़ आया। यदि हाथ छूट जाते तो क्या होता, इसका अनुमान करना कठिन है। ऊपर आकर, बेहाल होकर, थोड़ी देर तक पड़ा रहा। देह को झार-झूरकर धोती-कुर्ता पहना। फिर किशनपुर के लड़के को, जिसने ऊपर चढ़ने की चेष्टा को देखा था, ताकीद करके कि वह कुएँ वाली घटना किसी से न कहे, हम लोग आगे बढ़े।

सन् १९१५ ई० में मैट्रीक्युलेशन पास करने के उपरांत यह घटना मैंने माँ को सुनाई। सजल नेत्रों से माँ ने मुझे अपनी गोद में ऐसे बैठा लिया जैसे चिड़िया अपने बच्चों को डैने के नीचे छिपा लेती है।

कितने अच्छे थे वे दिन! उस समय रायफल न थी, डंडा था और डंडे का शिकार---कम-से-कम उस साँप का शिकार---रायफल के शिकार से कम रोचक और भयानक न था।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक को कुएँ में क्यों घुसना पड़ा और वह किस युक्ति से उसके भीतर उतरा?

२. साँप के पास से लेखक किस प्रकार चिट्ठियाँ निकाल लाया?---अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।

३. निम्नांकित वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :

(क) दृढ़ संकल्प से दुविधा की बेड़ियाँ कट जाती हैं।

(ख) जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी थी, वह तो आकाश-कुसुम था ।
(ग) दिन का बुढ़ापा बढ़ता जाता था ।
(घ) डंडा अनेक साँपों के लिए नारायण-वाहन हो चुका था ।

४. 'साँप' के पाँच पर्याय बताइए । उसे चक्षुःश्रवा क्यों कहते हैं ?

५. नीचे दो स्तंभों में एक ओर संज्ञा शब्द एवं दूसरी ओर विशेषण दिए हुए हैं संज्ञाओं के साथ उपयुक्त विशेषण लगाइए :

संज्ञा	विशेषण
संकल्प, शत्रु, उक्ति, वदन,	मार्मिक, सजीव, पराजित, एकाग्र,
वर्णन, चित्त, विष	दृढ़, तरल, प्रसन्न, विभिन्न

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०७ ई० में ज़िला बलिया (उत्तरप्रदेश) के एक छोटे-से गाँव ओझवलिया में हुआ। इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से ज्योतिष एवं संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् १९३० ई० से १९५० ई० तक ये **शांतिनिकेतन** के **हिन्दी-भवन** के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते रहे। सन् १९५० से १९६० ई० तक ये हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे और आजकल पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में उसी पद पर प्रतिष्ठित हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट० उपाधि से और भारत सरकार ने **पद्मभूषण** अलंकार से सम्मानित किया है।

द्विवेदी जी के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला भाषाओं एवं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, धर्मशास्त्र आदि विषयों का भी इन्हें गहरा ज्ञान है।

हजारीप्रसाद जी का पांडित्य इनके निबंधों में अत्यंत सरस बनकर प्रकट हुआ है। निबंधकला की दृष्टि से हिन्दी-निबंधकारों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी भाषा में भाषण-शैली का प्रवाह एवं ओज है तथा संस्कृत, अंग्रेज़ी, उर्दू आदि शब्दों का भी इन्होंने निस्संकोच प्रयोग किया है।

'सूर-साहित्य', **'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'**, **'कबीर'**, **'नाथसंप्रदाय'** और **'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल'** इनके प्रसिद्ध आलोचना-ग्रंथ हैं। **'विचार और वितर्क'**, **'अशोक के फूल'**, **'कल्पलता'**, **'विचार-प्रवाह'** आदि निबंधों के संकलन हैं। **'बाणभट्ट की आत्मकथा'** और **'चारु चंद्रलेख'** इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

प्रस्तुत निबंध **'अशोक के फूल'** नामक संग्रह से लिया गया है। इसमें द्विवेदी जी ने कवि रवीन्द्रनाथ की मर्मभेदी दृष्टि का साक्षात्कार कराया है। शैली में संस्मरणों का मधुर पुट तो है ही, साथ ही व्यंग्य-विनोद का स्पर्श उसे और भी अधिक जीवंत बना देता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

एक कुत्ता और एक मैना

कई वर्ष पहले गुरुदेव के मन में आया कि शांतिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाएँ। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए, या पता नहीं क्यों, तै पाया कि वे श्रीनिकेतन के पुराने तिमंज़िले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। वे सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे। उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियाँ थीं। वृद्ध और क्षीणवपु रवीन्द्रनाथ के लिए उन पर चढ़ सकना असंभव था। बड़ी कठिनाई से वहाँ ले जाया जा सका।

उन दिनों छुट्टियाँ थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गए थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहाँ विशेषरूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूँ, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था प्रायः वे यह कहकर मुस्करा देते थे कि "दर्शनार्थी हैं क्या ?" शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बंगला में बात करता था, जो वस्तुतः हिन्दी-मुहाविरों का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था—"एक भद्र लोक आपनार दर्शनेर जन्य ऐसेछेन।" यह बात हिन्दी में जितनी प्रचलित है, उतनी बंगला में नहीं। इसलिए गुरुदेव ज़रा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में पहुँच जाता था तो वे हँसकर पूछते थे—"दर्शनार्थी लेकर आए हो क्या ?" यहाँ यह दुःख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही ऐसे प्रगल्भ होते थे कि समय-असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनवस्था की एकदम परवा नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भीत-भीत से रहते थे। अस्तु, मैं मय बाल-बच्चों के

एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुँचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था।

गुरुदेव यहाँ बड़े आनंद में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शांतिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गए तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यान-स्तिमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराए, बच्चों से ज़रा छेड़-छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया और उनके पैरों के पास खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। वह आँखें मूँदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा—"देखा तुमने, ये आ गए। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ, आश्चर्य है। और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखाई दे रही है!"

हम लोग उस कुत्ते के आनंद को देखने लगे। किसी ने उसे राह नहीं दिखाई थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेह-दाता यहाँ से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया! इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने 'आरोग्य' में इस भाव की एक कविता लिखी थी—"प्रतिदिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता। इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनंद का प्रवाह बह उठता है। इस वाक्य-हीन प्राणिलोक में सिर्फ़ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको भेदकर संपूर्ण मनुष्य को देख सका है; उस आनंद को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहैतुक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य लोक में राह दिखा सकती है। जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूँ, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव-स्वरूप में कौन-सा अमूल्य आविष्कार किया है; इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती

है !" इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव-सत्य को देखा है, जो मनुष्य मनुष्य के अंदर भी नहीं देख पाता।

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तितल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूँदकर अपरिसीम आनंद, वह 'मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन' मूर्तिमान हो जाता है। उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गई है। एक आश्चर्य की बात और इस प्रसंग में उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव का चिताभस्म कलकत्ते से आश्रम में लाया गया, उस समय भी न जाने किस सहज बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शांत-गंभीर भाव से उत्तरायण तक गया ! आचार्य क्षितिमोहन सेन सबके आगे थे। उन्होंने मुझे बताया है कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा !

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों मैं शांतिनिकेतन में नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना धृष्ट नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिए निकला करते थे। मैं एक दिन उनके साथ हो गया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे भी अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा—"अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गए ? उनकी आवाज़ सुनाई ही नहीं देती ?" न तो मेरे साथी उन अध्यापक महाशय को यह ख़बर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों से आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रक्खा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लँगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा--"देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज़ फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है।" गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुण भाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुभव था कि मैना करुण भाव दिखानेवाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकंपा ही दिखाया करती है।

गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है। शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था। या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिड़ाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में ईषत् चोट खाकर एकांत विहार कर रही है। हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है! शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है--

"उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूँ। क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है? पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में। जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो। इसके बाद उसे रोज़ सवेरे देखता हूँ--संगीहीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है। चढ़ आती है बरामदे में। नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे ज़रा भी नहीं डरती। क्यों है ऐसी दशा इसकी? समाज के किस दंड पर उसे निर्वासन मिला है, दल के किस अविचार पर उसने मान किया है? कुछ ही दूरी पर और मैनाएँ बक-झक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं, उड़ती फिरती ह शिरीष वृक्ष की शाखाओं पर। इस बेचारी को ऐसा कुछ भी शौक नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूँ। सवेरे की धूप में मानों सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती-फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बात बिल्कुल नहीं जान पड़ती। इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखें भी तो नहीं दिखतीं।" इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करुण मूर्ति अत्यंत साफ़ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें इस बिचारी के मर्मस्थल तक पहुँच गईं, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गई। सायंकाल कवि ने उसे नहीं देखा।

प्रश्न और अभ्यास

१. कुत्ता और मैना पर रचित गुरुदेव की कविताओं का भावार्थ लिखिए।

२. लेखक ने रवीन्द्रनाथ की दृष्टि को मर्मभेदी क्यों कहा है ?

३. प्रस्तुत लेख से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की किन चरित्रगत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है ?

४. निम्नांकित शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए वाक्यों में प्रयोग कीजिए :

ध्यानस्तिमित, स्तब्ध, अहैतुक, प्राणपण, ईषत्, क्षीणवपु।

५. व्याख्या कीजिए :

जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूँ, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव-स्वरूप में कौन-सा अमूल्य आविष्कार किया है; इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है।

—

रघुबीरसिंह

डा० रघुबीरसिंह का जन्म सन् १९०८ ई० में सीतामऊ (मध्य प्रदेश) में हुआ था। इनके पिता सीतामऊ रियासत के महाराजा थे। होलकर कालेज, इंदौर से इन्होंने एम० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। **'मालवा में युगांतर'** नामक शोध-ग्रंथ पर इन्हें आगरा विश्वविद्यालय से इतिहास विषय में डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई। इनके निबंधों में मध्य युग का बहुत ही सजीव और मार्मिक चित्रण मिलता है।

'पूर्व-मध्यकालीन भारत', **'मालवा में युगांतर'** और **'पूर्व आधुनिक राजस्थान'** रघुबीरसिंह की इतिहास-विषयक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। **'शेष स्मृतियाँ'**, **'सप्तदीप'**, **'बिखरे फूल'** और **'जीवन-कण'** साहित्यिक कृतियाँ हैं। **'शेष स्मृतियाँ'** इनकी बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक है, जिसमें ऐतिहासिक आधार पर लिखित भावात्मक निबंधों का संग्रह है। प्रस्तुत निबंध इसी पुस्तक से लिया गया है। इसमें लेखक ने फतहपुर सीकरी का केवल ऐतिहासिक विवरण ही नहीं दिया, बल्कि अकबर की भावनाओं को भी अपनी मनोरम शैली में साकार कर दिया है।

रघुबीरसिंह की भाषा प्रवाहपूर्ण, आलंकारिक तथा तत्समप्रधान है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में **'उनके भावात्मक प्रबंधों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।'**

रघुवीरसिंह

फतहपुर सीकरी

संसार का सबसे बड़ा विजय-तोरण, वह बुलंद दरवाज़ा, छाती निकाले दक्षिण की ओर देख रहा है। इसने उन मुग़ल योद्धाओं को देखा होगा जो सर्वप्रथम मुग़ल साम्राज्य के विस्तार के लिए दक्षिण की ओर बढ़े थे। इसने विद्रोही औरंगज़ेब की उमड़ती हुई सेना को घूरा होगा, और पास ही पराजित दारा के स्वरूप में अकबर के आदर्शों का पतन भी इसे देख पड़ा होगा। अंतिम मुग़लों की सेनाएँ भी इसी के सामने होकर निकली होंगी—वे सेनाएँ जिनमें नर्तकियाँ और स्त्रियाँ भी रणक्षेत्र पर जाती थीं और रणक्षेत्र को भी विलास-भूमि में परिणत कर देती थीं। यदि आज यह दरवाज़ा अपने संस्मरण कहने लगे, पत्थरों का यह ढेर बोल उठे, तो भारत के न जाने कितने अज्ञात इतिहास का पता लग जाए और न जाने कितनी ऐतिहासिक त्रुटियाँ ठीक की जा सकें।

यह एक विजय-तोरण है; ख़ानदेश की विजय का स्मारक। किन्तु यदि देखा जाए तो यह दरवाज़ा अकबर द्वारा भारतीय सभ्यता पर प्राप्त की गई विजय का ही एक महान स्मारक है। अकबर ने अपने हृदय की विशालता को इस दरवाज़े की विशालता में व्यक्त किया है:

"यह संसार एक पुलिया है, इसके ऊपर से निकल जा, किन्तु इस पर घर बनाने का विचार मन में न ला। जो यहाँ एक घंटा भर भी ठहरने का इरादा करेगा वह चिरकाल तक यहाँ ही ठहरने को उत्सुक हो जाएगा। सांसारिक जीवन तो एक घड़ी भर का ही है; उसे ईश्वर-स्मरण तथा भगवद्भक्ति में बिता; ईश्वरोपासना के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है, सब कुछ असार है।"

सांसारिक जीवन की असारता संबंधी इन पंक्तियों को एक विजय-तोरण पर देख कर कुतूहल होता है। अकबर मानव जीवन के रहस्य को ढूँढ़ निकालने तथा दो पूर्णतया विभिन्न सभ्यताओं का मिश्रण करने निकला था, किन्तु वह वास्तविक वस्तु तक नहीं पहुँच पाया, मृगतृष्णा के जल की नाईं उन्हें ढूँढ़ता ही रहा और उसे अंत

तक उनका पता न मिला। जीवन भर अकबर भारतीय तथा मुस्लिम सभ्यताओं के सम्मिश्रण का स्वप्न देखता रहा। यह एक सुखद स्वप्न था। अतः जब अकबर के उस मानव-जीवन-स्वप्न का अंत हुआ तब सभ्यता की यह स्वप्निल विजय भी नष्ट हो गई और वह सम्मिश्रण केवल एक स्वप्न-वार्ता, नानी की एक कहानी मात्र बन गया। बुलंद दरवाज़ा उसी सुखद स्वप्न की एक स्मृति है; एवं इसे विजय-तोरण न कह कर 'स्वप्न-स्मारक' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

बुलंद दरवाजा

उस दरवाज़े में होकर, उस स्वप्न को याद करते हुए, हम एक आँगन में जा पहुँचते हैं; सामने ही दिखाई पड़ती है एक सुंदर श्वेत क़ब्र। यह उस साधु की समाधि है जिसने अपने पुण्य को देकर मुग़ल घराने को आरंभ में ही नष्ट होने से बचाया था।* अपनी सुंदरता

*प्रसिद्ध है कि शेख़ सलीम चिश्ती नामक एक सूफ़ी फ़कीर के आशीष से अकबर को पुत्र की प्राप्ति हुई थी। फ़कीर के नाम पर अकबर ने उस पुत्र का नाम सलीम रखा जो बाद में जहाँगीर नाम से बादशाह बना।

के लिए, अपनी कला की दृष्टि से यह एक अनुपम अद्वितीय कृति है। समस्त उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी हिन्दू-मुसलमान आदि प्रति वर्ष इस क़ब्र पर खिंचे चले आते हैं; वे सोचते हैं कि जिस व्यक्ति ने जीते जी अकबर को भिक्षा दी, क्या उसी व्यक्ति की आत्मा स्वर्ग में बैठी उनकी छोटी सी इच्छा भी पूर्ण न कर सकेगी ?

* * *

और सामने ही है वह मसजिद, जो यद्यपि पूर्णतया मुस्लिम ढंग की है, और जो अपनी सुंदरता के लिए भी बहुत प्रख्यात नहीं है, तथापि वह एक ऐसी विशेषता के लिए विख्यात है जो किसी दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं हुई। इसी मसजिद ने एक भारतीय मुसलमान सम्राट को उपदेशक के स्थान पर खड़ा होकर प्रार्थना करते देखा था। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में यह एक अनोखी अद्वितीय घटना थी, और वह घटना इसी मसजिद में घटी थी।

अकबर को सूझी थी कि इस्लाम धर्म की असहिष्णुता को मिटा दें, उसकी कठोरता को भारतीय सहिष्णुता की सहायता से कम कर दे। क्यों न वह भी प्रारंभिक ख़लीफ़ाओं के समान स्वयं धर्माधिकारी के उच्चासन पर खड़ा होकर सच्चे मानव धर्म का प्रचार करे, उसके साथी अबुल फ़ज़ल और फ़ैज़ी ने उसके आदर्श को सराहा। और उस दिन जब पूरी पूरी तैयारियाँ हो गईं तब अकबर पूर्ण उत्साह के साथ उस उच्चासन पर चढ़ कर प्रार्थना करने लगा:

"उस जगत्-पिता ने मुझे साम्राज्य दिया। उसने मुझे बुद्धिमान्, वीर और शक्तिशाली बनाया। उसने मुझे दया और धर्म का मार्ग सुझाया, और उसी की कृपा से मेरे हृदय में सत्य के प्रति प्रेम का सागर हिलोरें मारने लगा। कोई भी मानवीय जिह्वा उस परमपिता के स्वरूप, गुणों आदि का पूरा-पूरा वर्णन नहीं कर सकती। अल्ला-हो अकबर! ईश्वर महान है।"

अकबर ने स्वप्न देखा था, जिसमें वह एक महात्मा तथा नवीन धर्म-प्रचारक की तरह खड़ा उपदेश दे रहा था और उसकी समस्त प्रजा स्तब्ध खड़ी उसके संदेश को एकाग्रचित्त से सुन रही थी। किन्तु जीवन की वास्तविकता की टक्कर खाकर उसका वह स्वप्न भंग हो
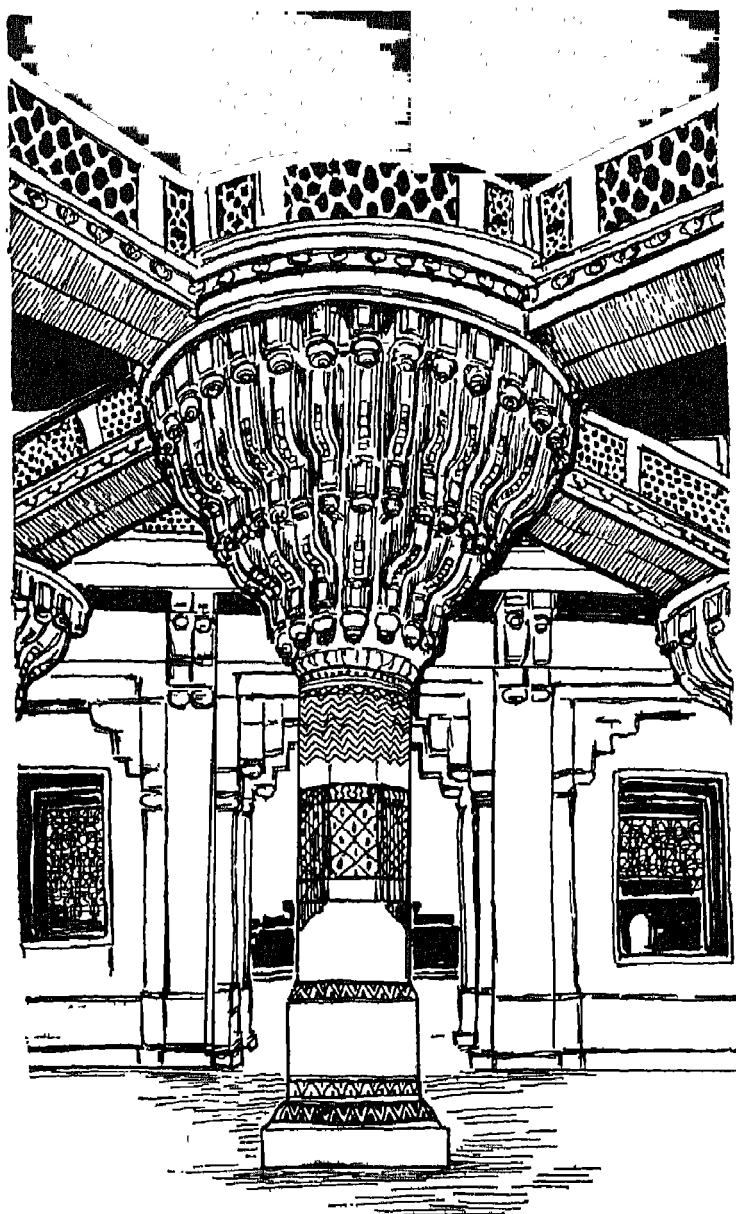
दीवान-ए-खास

गया; उसे प्रथम बार ज्ञात हुआ कि स्वप्नलोक भौतिक संसार से दूर एक ऐसा स्थान है, जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ स्वच्छंदतापूर्वक खेल सकता है, किन्तु उन इच्छाओं का भौतिक जगत में कुछ भी स्थान नहीं है।

* * *

और यह है उस अकबर का दीवान-ए-ख़ास। बाहर से तो एक साधारण दुमंज़िला मकान देख पड़ता है, किन्तु सचमुच में यह भारतीय कला का एक अद्‌भुत नमूना है। एक ही स्तंभ पर सारी ऊपरी मंज़िल खड़ी है। उसे निर्माण करने में भारतीय कारीगरों ने बहुत बुद्धि लगाई होगी। अकबर के समय इस मकान में क्या होता था? इस विषय पर इतिहासकारों में मतभेद है कि यहीं धार्मिक वाद-विवाद होते थे या नहीं! कुछ का कथन है कि इसी महान स्तंभ पर बैठ कर अकबर विभिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था, और वे धर्मा-नुयायी नीचे चारों ओर बैठे बारी-बारी से अपने-अपने धर्म की व्याख्या करते थे।

अकबर का मस्तिष्क विश्व-बंधुत्व तथा मानव-भ्रातृत्व के विचारों का पूर्ण आगार था। भिन्न-भिन्न धर्मों का भीषण संघर्ष देख कर उसके इन विचारों को भयंकर ठेस लगती थी, कठोर आघात पहुँचता था। कुछ ऐसे मूल तत्त्वों का संग्रह कर वह एक ऐसे मत को प्रारंभ करना चाहता था, जहाँ किसी भी प्रकार का वैषम्य न हो, जिसमें कोई धार्मिक संकीर्णता न पाई जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था। उस महान स्तंभ की ही तरह 'ईश्वर एक है' इस एक सत्य पर ही अकबर ने दीन-ए-इलाही का महान भवन निर्माण किया। ज्यों-ज्यों यह स्तंभ ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका आकार बढ़ता जाता है, और अंत में ऊपर पहुँच कर एक ऐसा स्थान आता है, जहाँ पर धर्मा-नुयायी समान अवस्था में भाई-भाई की तरह मिल सकें। उस महान धर्म दीन-ए-इलाही में जा पहुँचने के लिए अकबर ने चार राहें बनाई जो हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाइयों को सीधे विश्व-बंधुत्व की उस विशद परिधि में ले जा सकें।

यह दीवान-ए-ख़ास एक तरह से अकबर के दीन-ए-इलाही का मूर्तिमान स्वरूप है। बाह्य दृष्टि से यह एक साधारण वस्तु देख पड़ती है; किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह अपने ढंग का निराला ही है। इसी भवन में दीन-ए-इलाही का प्रारंभ हुआ था और दीन-ए-इलाही के समान ही यह भवन एक परित्यक्त उपेक्षित तथापि एक संपूर्ण आदर्श है।

* * *

दीवान-ए-ख़ास के पास ही वह चौकोर चबूतरा है, जहाँ बादशाह अपनी सम्राज्ञियों तथा अपने प्रेमी मित्रों के साथ जीवित गोटों का चौसर खेला करते थे। प्रत्येक गोट के स्थान पर एक सुंदर दासी खड़ी रहती थी। पूर्णिमा की रात को जब समस्त संसार पर शीतल चाँदनी छिटकी होगी, उस समय उस स्थान पर चौसर का वह खेल कितना मादक रहा होगा !

* * *

इस स्वप्नलोक में एक स्थान वह भी है, जहाँ अकबर अपनी सारी श्रेष्ठता, अपने सारे सयानेपन को भूल कर कुछ समय के लिए आँखमिचौनी खेलने लगता था। अकबर के वक्षस्थल में भी एक छोटा-सा हृदय धड़कता था। अपने महान उच्चपद की महत्ता का भार निरंतर सहन करते-करते कई बार वह शैथिल्य का अनुभव करता था। आठों पहर सम्राट रह कर, मानव जीवन से दूर गौरव और उच्च पद के ऊसर रेगिस्तान में पड़ा-पड़ा अकबर तड़पता था। उसका हृदय उन कृत्रिम बंधनों से जकड़ा हुआ फड़फड़ाता था। इसी कारण जब उस भावुक हृदय में विद्रोहाग्नि धधक उठती थी, तब कुछ समय के लिए अपने पद की महत्ता तथा गौरव को एक ओर रखकर वह सम्राट भी बालकों के उस सुखपूर्ण भोले-भाले संसार में घुस पड़ता था, जहाँ मनुष्य मात्र, चाहे वह राजा हो या रंक, एक समान है और सब साथ ही खेलते हैं। बालकों के साथ उनके उस अनोखे लोक में विचर कर अकबर वह जीवन-रस पीता था, जिसके बिना साम्राज्य के उस गुरुतम भार से दब कर वह कभी का इस संसार से विदा हो गया होता।

सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर ही भीतर खोखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपतपाए आँसुओं से सींचे जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं, अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती हुई चपला चमकी, पराजय रूपी वज्रपात होने लगे तब तो यह साम्राज्य-रूपी वृक्ष उखड़ कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, और उसके अवशेष, विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन, असहायों के निश्वासों तथा शहीदों की भीषण फुंकारों से जलकर भस्म हो गए। जहाँ एक सुंदर वृक्ष खड़ा था, जो संसार में एक अनुपम वस्तु थी, वहाँ कुछ ही शताब्दियों में रह गए गंभीर गह्वर, उस वृक्ष के कुछ अध-जले झुलसे हुए यत्र-तत्र बिखरे टुकड़े तथा उस विशाल वृक्ष की मुट्ठी भर भस्म ! सीकरी के खंडहर उसी भस्म को रमाए खड़े हैं।

* * *

सब कुछ सपना ही तो था ··· देखते ही देखते विलीन हो गया। दो आँखों की यह सारी करामात थी। एकाएक झोंका आया, अकबर मानो सोते से जग पड़ा, स्वप्नलोक को छोड़ कर भौतिक संसार में लौट आया। स्वप्न भंग हो गया और साथ ही स्वप्नलोक भी उजड़ गया, ··· और तब रह गई उनकी एकमात्र शेष स्मृति। किन्तु दो आँखें––अकबर की ही आँखें––ऐसी थीं जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था, जिनके सामने ही इस स्वप्न का सारा नाटक––कुछ काल के लिए ही क्यों न हो––एक सुंदर मनोहारी नाटक खेला गया था, ··· जिसमें अकबर स्वयं एक पात्र था, उस स्वप्नलोक के रंगमंच पर पूरी शान और अदा के साथ अपना पार्ट खेलता था। उन दो आँखों के फिरते ही, उनके बंद होने के बाद उस स्वप्न की रही-सही स्मृतियाँ भी लुप्त हो गईं। जो एक समय सच्ची घटना थी, जो बाद में स्वप्न मात्र रह गया था, आज उसका कुछ भी शेष न रहा। अगर कुछ बाकी बचा है तो केवल वह सुनसान भग्न रंगमंच, जहाँ यह दिव्य स्वप्न आया था, जहाँ जीवन का यह अद्भुत रूपक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिए वह महान भारतविजयी सम्राट, अपनी

महत्ता को भूलकर, अपने गौरव को ताक पर रखकर, एक साधारण मानव बन जाता था, रंगरेलियाँ करता था, बालक की तरह उछलता था, जीवन के साथ आँखमिचौनी खेलता था और अमरत्व के सपने देखता था। सीकरी ही वह स्थान है जिसे देखकर मालूम होता है कि मनुष्य कितना ही महान और बड़ा क्यों न हो जाए, उसकी भी छाती में एक कोमल भावुक हृदय धड़कता है, उस दिल में भी अनेक बार आकांक्षाओं के भीषण संग्राम होते हैं; ऐसे पुरुष को भी मानवी दुःख-दर्द, सांसारिक कामनाएँ तथा भौतिक वासनाएँ सताती हैं।

* * *

शताब्दियाँ बीत गईं और आज भी सीकरी के वे सुंदर रंगीले खंडहर खड़े हैं। उस नवजात शिशु नगरी ने केवल पंद्रह वर्ष ही शृंगार किया, और फिर उसके प्रेमी ने उसे त्याग दिया, उसने उसे ऐसा भुला दिया कि कभी भूल से भी लौटकर मुँह नहीं दिखाया। अकबर के समय में ही उसने वैभव को त्याग कर विधवा-वेश पहिन लिया था। और अकबर की मृत्यु होते ही तो सब कुछ लुट गया, हृदय विदीर्ण हो गया। भारत-विजेता, मुग़ल-साम्राज्य के निर्माता, महान अकबर की प्यारी नगरी का वह निर्जीव शरीर शताब्दियों से पड़ा धूल-धूसरित हो रहा है!

प्रश्न और अभ्यास

१. अकबर के जीवन का महान स्वप्न क्या था? क्या वह पूरा हो सका था?
२. अकबर ने बुलंद दरवाज़ा क्यों बनवाया? उसका वर्णन कीजिए।
३. **'दीवान-ए-खास'** को लेखक ने निराला क्यों कहा है?
४. व्याख्या कीजिए :

यह संसार एक पुलिया है, इसके ऊपर से निकल जा, किन्तु इस पर घर बनाने का विचार मन में न ला। जो यहाँ एक घंटा भर भी ठहरने का इरादा करेगा वह चिरकाल तक यहाँ ही ठहरने को उत्सुक हो जाएगा। सांसारिक जीवन तो एक घड़ी भर का ही है; उसे ईश्वर-स्मरण तथा भगवद्भक्ति में बिता; ईश्वरोपासना के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है, सब कुछ असार है।

५. निम्नांकित शब्दों का प्रयोग करते हुए फतहपुर सीकरी का वर्णन कीजिए : विजयतोरण, पराजित, विशाल, धर्मानुयायी, असहिष्णुता, विश्व-बंधुत्व, मूर्तिमान, विद्रोहाग्नि, स्मृति, ऐश्वर्य ।

६. निम्नांकित वाक्य का विश्लेषण कीजिए :

सीकरी ही वह स्थान है जिसे देख कर मालूम होता है कि मनुष्य कितना ही महान और बड़ा क्यों न हो जाए, उसकी भी छाती में एक कोमल भावुक हृदय धड़कता है, उस दिल में भी अनेक बार आकांक्षाओं के भीषण संग्राम होते हैं; ऐसे पुरुष को भी मानवी दुःख-दर्द, सांसारिक कामनाएँ तथा भौतिक वासनाएँ सताती हैं ।

टिप्पणियाँ

दाँत

भोजन के छह रस — मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुआ, कसैला, तीता।

पद्धतिकार — नीतिकार।

साहित्य की महत्ता

पोप — ईसाइयों में रोमन कैथोलिक मत का सर्वोच्च पादरी। रोम के पास वैटिकन शहर इसका निवास और राज्य है। मध्ययुग तक पोप की सत्ता बहुत प्रबल रही, फिर १६वीं शताब्दी में मार्टिन लूथर के नेतृत्व में पोप के विरुद्ध आंदोलन हुआ। यह आंदोलन साहित्य के माध्यम से भी फैला था।

मनु — एक प्राचीन मुनि और धर्मशास्त्रकार, जिनके नाम से **'मनुस्मृति'** नामक ग्रंथ प्राप्त है। **'मनुस्मृति'** एक प्रकार की विधि-संहिता है, जिसके द्वारा अधिकांशतः हिन्दू-समाज का आचार-व्यवहार अनुशासित होता है।

याज्ञवल्क्य — धर्मशास्त्र के प्रणेता एक मुनि। **'याज्ञवल्क्य-स्मृति'** इन्हीं की लिखी बताई जाती है। **'याज्ञवल्क्य-स्मृति'** **'मनुस्मृति'** से परवर्ती है तथा अधिक संक्षिप्त एवं विधिपरक है। उसकी मिताक्षरा टीका अत्यधिक मान्य है।

आपस्तंब — संस्कारों एवं आचार-व्यवहार की विधियों के एक पुराने धर्मशास्त्री लेखक। उनकी लिखी **'आपस्तंब-स्मृति'** प्रसिद्ध है।

सत्य और अहिंसा

पारसमणि — एक कल्पित मणि, जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि उसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है।

कामधेनु — पुराणों में वर्णित एक कल्पित गौ, जो मनचाही वस्तु प्रदान करती है।

चिन्तामणि — एक कल्पित मणिविशेष। जिस व्यक्ति के पास यह होती है उसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं।

सागर-दर्शन

पुरसा — हाथ उठाकर खड़े हुए पुरुष की ऊँचाई के बराबर—लगभग ७ फुट।

वायव्य — (१) वायु-संबंधी; (२) पश्चिमोत्तर कोण: इसी प्रकार उत्तर-पूर्व दिशाकोण को ईशान, पूर्व-दक्षिण के कोण को आग्नेय एवं पश्चिम-दक्षिण दिक्कोण को नैऋत्य कहा जाता है।

अंडज — अंडे से उत्पन्न जीव, जैसे—चिड़िया आदि।

पिण्डज — शरीर से उत्पन्न जीव, जैसे—मनुष्य, पशु आदि।

उद्भिज्ज — बीज से अंकुरित होने वाले जीव, जैसे—पेड़-पौधे।

स्वेदज — पसीने से उत्पन्न कृमि-कीटादि।

मेड़ें — ऊँची लहरें।

खाड़ी धारा (गल्फ स्ट्रीम) — समुद्र के गरम पानी की एक धारा जो कैरिबियन सागर से उत्तरी यूरोप तक जाती है।

बड़वानल — समुद्र के भीतर ज्वालामुखी का विस्फोट होने से जो तप्त लहरों का आंदोलन होता है, उसे लेखक ने बड़वानल कहा है।

चिराव — बड़े जलभागों का विभाजन।

एस्किमो — टुंड्रा प्रदेश में रहने वाली मानव-जाति।

भारत की सांस्कृतिक एकता

राजसूय — सर्वसंपन्न एवं अबाधित प्रभुत्व का प्रतीक एक ऐसा महान यज्ञ जिसे प्राचीन सम्राट अपने अभिषेक के समय करते थे। उसमें समस्त विजित एवं कर देने-वाले राजा भाग लेते थे।

अश्वमेध — एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ जो वैदिक युग में पुत्र-प्राप्ति के लिए किया जाता था, पर बाद में, यह माना जाने

लगा कि केवल राजा ही इसे करेगा और अश्वमेध कर लेने वाला राजा सम्राट-पद का अधिकारी होगा।

ऋषभदेव — एक जैन तीर्थंकर।

आवागमन — इस धारणा के अनुसार जीव को अपने कर्मों के फल के भोग के लिए मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेना होता है।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा — पतंजलि ने योगदर्शन में बताया है कि सुखी व्यक्तियों के साथ मैत्री, दुखियों के प्रति करुणा, पुण्यशाली व्यक्तियों के कार्य पर प्रसन्नता और पापियों की उपेक्षा करने से मन निर्मल बनता है। यही शिक्षा बौद्ध और जैन धर्मों में भी मिलती है।

अणुव्रत — जैन धर्म के अनुसार ये संकल्प, जो व्यक्ति को साधना के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और क्षमा मुख्य अणुव्रत हैं।

पंचशील — गौतम बुद्ध ने गृहस्थों के लिए आचार-व्यवहार के पाँच नियम स्थिर किए थे। वे इस प्रकार हैं :

(१) जीवहिंसा से विरति,
(२) चोरी से विरति,
(३) झूठ से विरति,
(४) व्यभिचार से विरति, एवं
(५) मद्यपान से विरति।

जेन्दावेस्ता — पारसियों का धर्मग्रंथ। इसकी भाषा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है।

ऋचा — ऋग्वेद का एक छंद।

गुरु नानक — सिक्खों के प्रथम गुरु, जिनका जन्म सन् १४६९ ई० में एवं मृत्यु सन् १५३९ ई० में मानी जाती है।

गुरु गोविन्दसिंह — सिक्खों के दसवें गुरु, जिनका समय सन १६६६ ई० से १७०८ ई० तक है।

रोमन कैथोलिक मत — ईसाइयों का वह संप्रदाय, जो पोप को अपना सर्वोच्च अधिकारी मानता है।

सूफ़ी — इस्लाम के रहस्यवादी संप्रदाय का व्यक्ति।

वेदांत — व्यास द्वारा उपनिषदों के आधार पर संकलित एक भारतीय दार्शनिक मत, जिसमें ब्रह्म को ही एकमात्र

पारमार्थिक सत्ता तथा उसका जीव और जगत से अभेद स्वीकार किया गया है।

आम्नाय — आर्ष ग्रंथ, परंपराप्राप्त उपदेश।

कालिदास — संस्कृत के महान कवि और नाटककार। इनका समय ईसवी सन् के प्रारंभ से चौथी शताब्दी तक अनुमित है।

रघुवंश — कालिदास का प्रसिद्ध महाकाव्य, जिसमें रघु के वंश का वर्णन किया गया है।

भवभूति — आठवीं शताब्दी में विद्यमान संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि।

उत्तररामचरित — भवभूति द्वारा लिखित प्रसिद्ध नाटक।

शंकराचार्य — (सन् ७८८-८२० ई०) आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वेदांती दार्शनिक, जिन्होंने अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। अद्वैतवाद को मायावाद भी कहते हैं।

चैतन्य — १६वीं शताब्दी के बंगाल के वैष्णव भक्त और धर्म-प्रचारक।

संत तुकाराम — महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत भक्त। मराठी के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी में अभंग एवं दोहे लिखे हैं। इनका समय १६वीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है।

दादू — निर्गुण भक्ति-मार्ग के एक प्रसिद्ध संत, जिनका समय सन् १५४४ से १६०३ ई० माना जाता है। राजस्थान इनका केन्द्र था।

हिमपात

पद्म — एक पहाड़ी वृक्ष

फतहपुर सीकरी

अबुल फ़ज़ल और फ़ैज़ी — अकबर के मित्र और उसके दरबार के नवरत्नों में अन्यतम।

दीन-ए-इलाही — अकबर द्वारा प्रवर्तित एक समन्वयात्मक धर्म।

—

गद्य-संकलन

– द्वितीय भाग –

(दसवीं, ग्यारहवीं कक्षाओं के लिए)

गद्य-संकलन
(द्वितीय भाग)

गद्य-संकलन का यह भाग उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की दसवीं और ग्यारहवीं कक्षाओं के लिए तैयार किया गया है। इन कक्षाओं से उत्तीर्ण होकर कुछ छात्र विश्वविद्यालय में जाएँगे और शेष बाह्य जगत में प्रवेश करेंगे जहाँ उनके बोध और अभिव्यक्ति का विशेष माध्यम मातृभाषा का गद्य ही होगा। इस दृष्टि से गद्य की सभी प्रमुख विधाओं से उनका परिचय हो जाना आवश्यक है। साथ ही क्योंकि गद्य में न केवल भाषा का अपितु जाति की विचार-शैली का विकास भी परिलक्षित होता है, इसलिए यह भी आवश्यक है कि ये छात्र हिन्दी गद्य के प्राचीन रूप से भी परिचित हों। इन दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखकर इस भाग के पाठों का चयन किया गया है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं में छात्रों को खड़ी-बोली गद्य के प्राचीन रूप की झलक मिलेगी तथा श्यामसुंदरदास और प्रेमचंद के साहित्य-विषयक निबंध उनके मन में साहित्य का सामान्य रूप से तथा भारतीय साहित्य का विशेष रूप से चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे।

हिन्दी निबंध-साहित्य के विषयों और शैलियों की व्यापकता का परिचय देने की दृष्टि से जिन निबंधों का संकलन किया गया उनमें हैं : पूर्णसिंह का 'मज़दूरी और प्रेम,' सियारामशरण गुप्त का 'कवि-चर्चा,' रामवृक्ष बेनीपुरी का 'नई संस्कृति की ओर,' महादेवी वर्मा का 'घर और बाहर' तथा वासुदेवशरण अग्रवाल का 'राष्ट्र का स्वरूप'। पद्मसिंह शर्मा के 'श्री सत्यनारायण कविरत्न' तथा जवाहरलाल नेहरू के 'जेल में जीवजंतु' में जीवनी तथा आत्मकथा की शैलियों की झलक मिलेगी।

वृंदावनलाल वर्मा का 'शेर का शिकार' छात्रों में उत्साह जगाकर उनकी शौर्य-वृत्ति का परितोष करेगा और विनोबा का 'प्रार्थना' शीर्षक निबंध उन्हें जीवन के भव्यतर सत्यों का परिचय कराएगा।

चतुरसेन शास्त्री का 'सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेष' तथा दौलतसिंह कोठारी का 'परमाणु विस्फोट और मानव का भविष्य' शीर्षक पाठ मातृभाषा के माध्यम से साहित्येतर विषयों के चिन्तन तथा विवेचन की योग्यता प्राप्त करने में सहायक होंगे। पहले में जहाँ अतीत के गौरव की झाँकी प्रस्तुत की गई है वहाँ दूसरे में भविष्य के संभावित ख़तरों से सावधान किया गया है।

सीमा पर बढ़ती हुई शत्रु की गर्जनाओं के मुकाबले में भारतवासियों की भावनात्मक एकता के संकल्प को दृढ़ करना कितना आवश्यक है, यह तथ्य आज स्वत: स्पष्ट है। डा० नगेन्द्र का 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' निबंध इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा।

विषय-सूची

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी से भारतीय इतिहास में पुनरुत्थान-युग आरंभ होता है। इस समय जीवन का विकास नए रूपों में हो रहा था। पाश्चात्य साहित्य के संपर्क से हमारे ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार होने लगा था। साहित्य, शिक्षा, दर्शन तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक रूपों का हमारे जीवन में समावेश हुआ, जिनकी अभिव्यक्ति पद्य के द्वारा संभव न थी। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन और राजनीतिक आंदोलनों के रूप में जीवन के नाना क्षेत्रों में एक नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। इसी समय डाक, तार, रेल आदि की सुविधाओं के कारण परस्पर व्यवहार, विचार-विनिमय और शिक्षा में वृद्धि हुई। इस बढ़ती हुई चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य के उपयुक्त माध्यम के रूप में हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने खड़ीबोली-गद्य में प्रभूत मात्रा में प्रचार-साहित्य प्रकाशित किया। सन् १८०३ ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। लल्लूलाल एवं सदल मिश्र ने इसी कालेज में 'भाषा-मुंशी' के पद पर रहते हुए खड़ीबोली गद्य में 'प्रेम-सागर' एवं 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तकें लिखीं। इस कालेज की परिधि के बाहर इसी समय सदासुख लाल एवं इंशाअल्ला खाँ भी हिन्दी-गद्य में रचना कर रहे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्कूलों की आवश्यकताओं के अनुरूप राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भी कई किताबें लिखीं। उनकी भाषा में उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता था। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त शुद्ध हिन्दी का आदर्श सामने रखा। इसी समय आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती एवं उनके अनुयायियों ने हिन्दी-गद्य में कई ग्रंथ लिखे और खड़ीबोली-गद्य के विकास तथा प्रसार में योग दिया।

हिन्दी-गद्य-विकास के इस प्रारंभिक चरण में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का उदय हुआ। उन्होंने बोलचाल की भाषा के आधार पर हिन्दी-गद्य को व्यावहारिक रूप दिया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने नाटक, निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि विभिन्न प्रकार के गद्य-साहित्य की रचना की। विविध विषयों के अनुरूप उन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियों को अपनाया। भारतेन्दु अपने युग के लेखकों के प्रेरणा-केन्द्र थे। वे हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का कार्यकाल सन् १८७० से १९०० ई० तक फैला हुआ है। वैसे सामान्यतः सन् १८५० से १९०० ई० तक का समय हमारे साहित्य में भारतेन्दु-युग के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी में भारतेन्दु के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली रहा है। द्विवेदी जी ने भी अपने युग में साहित्य का दिशा-निर्देशन किया और भाषा को व्यवस्था प्रदान की। हिन्दी-गद्य-साहित्य की विषय-वस्तु, भाषा एवं शैली पर उनकी गहरी छाप है। उनके इसी व्यापक प्रभाव के कारण सन् १९०० से १९२० ई० तक का समय 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

लगभग सन् १९२० ई० से हिन्दी-गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। भाषा अधिक शक्तिसंपन्न हुई, अभिव्यंजनाशैलियों में परिष्कार हुआ तथा विविध प्रकार के साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना की गई। रामचंद्र शुक्ल तथा श्याम-सुंदरदास ने निबंध एवं आलोचना में नए जीवन का संचार किया। प्रेमचंद ने बोलचाल की भाषा का परिमार्जन करते हुए कथा-साहित्य को समृद्ध किया तथा जयशंकर प्रसाद ने नाटकों के क्षेत्र में अपनी मौलिक सृजन-प्रतिभा का परिचय दिया। इसी समय उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन भी आरंभ हुआ। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी। इतिहास-पुरातत्त्व, दर्शन, समाजशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान आदि विषयों पर भी ग्रंथ-रचना प्रारंभ हुई।

सन् १९२० ई० के बाद से आज तक विस्तृत इस युग को किसी एक नाम के साथ जोड़ना संभव नहीं है। यह बहुमुखी विकास और समृद्धि का युग है। इस युग को भी दो काल-खंडों में बाँटा जा सकता है। सन् १९२० से १९४० ई० तक का समय कविता के क्षेत्र में 'छायावाद-युग' के नाम से प्रसिद्ध है, उसे गद्य के क्षेत्र में हम 'समृद्धि-युग' कह सकते हैं। सन् १९४० ई० के आसपास से साहित्य के रूप, शैली, भाषा, भाव आदि में पुनः परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं और वे अब भी चल रहे हैं। किसी अन्य अधिक सार्थक नाम के अभाव में इसे हम 'समसामयिक युग' कह सकते हैं।

विविध साहित्य-विधाओं के आधार पर गद्य के विकास का इतिवृत्त संक्षेप में इस प्रकार है :

निबंध

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने निबंध-रचना का श्रीगणेश किया। ये निबंध पत्र-पत्रिकाओं के लिए ही लिखे जाते थे और पत्रों के संपादक प्रायः निबंधों के लेखक भी हुआ करते थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन ने क्रमशः 'कविवचन सुधा', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनंद कादंबिनी' का संपादन किया था। इस समय के निबंधों में विषयों की अनेकता, समाजसुधार-भावना, राजनीतिक चेतना, रोचकता आदि पत्रकारिता के गुण मिलते हैं, किन्तु इनमें गंभीरता का अपेक्षाकृत अभाव है। सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब इन निबंधों में मिलता है। इस युग के लेखकों

का दृष्टिकोण प्रगतिशील था। वे जर्जर रूढ़ियों पर प्रहार तो करते थे, परंतु नवीनता का अंधानुकरण नहीं करते थे। देश-जाति की उन्नति के विविध पक्षों पर इन निबंधों में विचार व्यक्त किए गए हैं। विषय से हटकर भी ये निबंध-लेखक देशोद्धार की बातों को ले आते थे। हास्य-व्यंग्य इनका प्रधान अस्त्र था। बालकृष्ण भट्ट ने 'आत्मनिर्भरता' जैसे गंभीर निबंध भी लिखे हैं पर विचार की वैसी गहनता उनमें नहीं है जैसी आगे चलकर रामचंद्र शुक्ल में मिलती है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक व्यक्तियों पर भी इस काल के लेखकों ने अच्छे निबंध प्रस्तुत किए हैं। उस समय तक हिन्दी-गद्य की कोई व्यवस्थित और परिनिष्ठित शैली नहीं बन पाई थी। लेखकों ने अपनी-अपनी शिक्षा और संस्कारों के अनुरूप अलग-अलग शैलियों का विकास किया। भाषा के स्थानीय प्रयोगों, मुहावरों एवं उक्तिवैचित्र्य ने उस युग की निबंध-शैली में एक विशेष सजीवता उत्पन्न कर दी है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक नई शिक्षा में दीक्षित व्यक्तियों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या और बढ़ी। इस प्रकार पाठकों के साथ ही लेखकों का समुदाय भी बढ़ता गया। परंतु किसी व्यवस्थित शैली या आदर्श का फिर भी अभाव बना रहा। शब्द-भांडार, व्याकरण, वाक्यसंगठन आदि का कोई स्थिर रूप न था। इसी समय (सन् १९०३ ई० में) महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-भार सम्हाला। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिन्दी-गद्य को व्यवस्थित किया। पाठक-समुदाय की ज्ञान की भूख को तृप्त करने के लिए द्विवेदी जी ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर लेख लिखवाए। इन निबंधों का स्वर स्वभावतः भारतेन्दु-युग के निबंधों से अधिक गंभीर था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, रायल एशियाटिक सोसायटी एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं के माध्यम से गंभीरतर साहित्यिक विषयों के अनुसंधान और प्रकाशन का प्रयत्न हुआ। फलतः द्विवेदी-युग (सन् १९००-१९२० ई०) के निबंधों में व्यंग्य-विनोद एवं सजीवता के स्थान पर शैली की दृष्टि से गंभीरता एवं विषयवस्तु की दृष्टि से उपयोगी सूचनाओं की वृद्धि होने लगी थी। इस युग के निबंध लोक-शिक्षा के माध्यम हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास, गुलाबराय, मिश्रबंधु, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद्र शुक्ल आदि के निबंधों में पत्रकार के स्थान पर अध्यापक के स्वर की प्रमुखता हो गई थी। सरदार पूर्णसिंह, गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र और पद्मसिंह शर्मा ने व्यक्तिपरक, भावात्मक और संस्मरणात्मक निबंध भी इसी युग में लिखे। चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों में पांडित्य एवं व्यंग्य-विनोद का सरस समन्वय हुआ है।

द्विवेदी-युग के उपरांत साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र बनाने वाले निबंधकार भी सामने आए। ऐसे निबंधकारों में पं० रामचंद्र शुक्ल मुख्य हैं। गंभीर विचार, उदात्त भाव, हास्य-व्यंग्य के सरस छींटे उनके निबंधों में मिलते हैं। विशिष्ट शैली

एवं वैयक्तिक स्पर्श से उनके विषयपरक निबंध भी रोचक बन गए हैं। श्यामसुंदर-दास, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस युग में भी बराबर लिखते रहे। इनमें गुलाबराय एवं बख्शी आत्मपरक निबंध लेखक के रूप में भी विख्यात हैं। इसी समय प्रेमचंद ने मुहावरेदार सजीव एवं सरल व्यावहारिक शैली का आदर्श उपस्थित किया। प्रसाद जी ने भी कतिपय पांडित्यपूर्ण एवं मौलिक निबंध लिखे।

साहित्य-विषयक निबंध-परंपरा के परवर्ती लेखकों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, अज्ञेय आदि मुख्य हैं। महादेवी वर्मा ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं और गहन संवेदना से प्रेरित होकर समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के संस्मरण भी प्रस्तुत किए हैं।

साथ ही भावात्मक एवं शुद्ध आत्मपरक निबंधों की परंपरा भी बराबर चलती रही। शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, सियाराम-शरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी एवं रघुवीरसिंह के निबंध स्वानुभूति से सिक्त हैं। राहुल सांकृत्यायन, सत्यदेव परिव्राजक, रामवृक्ष बेनीपुरी, अज्ञेय, श्रीराम शर्मा ने यात्रा, प्राकृतिक दृश्य, शिकार आदि से संबंधित वर्णनात्मक निबंध लिखे हैं। राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के नाम गद्यकाव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

विश्वंभरनाथ कौशिक लिखित 'दुबे जी की चिट्ठी', यशपाल के 'चक्कर क्लब', प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' आदि संग्रहों में व्यंग्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

नाटक

मध्य युग में हिन्दी में संस्कृत-नाटकों की परंपरा के अंतर्गत कुछ नाटक लिखे तो गए पर वे साहित्य में महत्त्व नहीं पा सके। उस समय का गद्य भी नाट्य-रचना के उपयुक्त न था और रंगमंच का भी अभाव था। भारतेन्दु के समय में कुछ पारसी थियेटर कंपनियाँ निम्नस्तर के नाटकों का प्रदर्शन करके सुरुचि को गिरा रही थीं। भारतेन्दु ने इनसे मोर्चा लिया। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे, लिखवाए तथा उनके अभिनय में भी सक्रिय योग दिया। इस काल के लेखकों ने राष्ट्रप्रेम, समाजसुधार, पौराणिक एवं ऐतिहासिक आदर्श चरित्रों आदि विषयों पर सरल शैली में नाटक लिखे। जीवन और समाज की असंगतियों पर इस काल में प्रहसन भी लिखे गए। दुर्भाग्यवश हिन्दी में भारतेन्दु के प्रयत्नों के बावजूद रंगमंच की कोई परंपरा नहीं बन सकी। भारतेन्दु-युग की समाप्ति होते-होते नाटकों की ओर झुकाव फिर कम हो गया और द्विवेदी-युग में हमें उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलते। केवल बदरीनाथ भट्ट ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए। भारत के प्राचीन गौरव को

जगाने के लिए मिश्रबंधु, वियोगी हरि आदि ने भी कुछ ऐतिहासिक नाटक लिखे।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का प्रवेश युगांतरकारी घटना है। उन्होंने इतिहास के कंकालों में प्राण फूँके और सजीव पात्रों की सृष्टि की। गंभीर दार्शनिक दृष्टि, जीवन की प्राणवती चेतना, अलंकृत कवित्वमय शैली, मार्मिक गीतयोजना आदि ने उनके नाटकों को कलापूर्ण बना दिया है। अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन आदि इस युग के अन्य मुख्य नाटककार हैं।

प्रसाद जी के पश्चात् समसामयिक युग में पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ से प्रभाव ग्रहण करते हुए लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ समस्याप्रधान नाटक लिखे। इनमें 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि मुख्य हैं। इसी समय भुवनेश्वरप्रसाद एवं रामकुमार वर्मा ने एकांकी नाटकों का लिखना प्रारंभ किया। उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर आदि आजकल के प्रसिद्ध नाटककार हैं। रेडियो के लिए भी बड़ी संख्या में नाटक लिखे गए हैं। लोकनाटकों एवं व्यावहारिक रंगमंचीय प्रयोगों पर पिछले दशक में विशेष ध्यान दिया गया है।

उपन्यास

प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी-उपन्यास मनोरंजन का साधन अधिक था––सामाजिक चेतना एवं मानवीय संघर्षों का वाहक कम। उपन्यास के नाम पर या तो तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी घटनाओं का चमत्कार मिलता है या फिर कुछ अर्द्धऐतिहासिक कथानकों में अतीत की महिमा का गान। श्रीनिवासदास, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यास-कार हैं। देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' बहुत लोकप्रिय हुए।

प्रेमचंद ने हिन्दी-उपन्यास को वास्तविक रूप प्रदान किया। उनके प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' (१९१३ ई०) में सामाजिक जीवन का निरीक्षण, मनोवैज्ञा-निक दृष्टि एवं उपर्युक्त कथाशैली पाई जाती है। नाटक के क्षेत्र में जो कार्य प्रसाद जी ने किया, वही उपन्यास-कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद ने। उन्होंने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मानकर उसका चित्रण किया। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'ग़बन', 'गोदान' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इसी समय विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, उग्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जयशंकर प्रसाद आदि ने भी अच्छे उप-न्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृंदावनलाल वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'झाँसी की रानी

'लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'माधव जी सिंधिया', उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का परिवेश तो ऐतिहासिक है, पर उसकी शैली सर्वथा भिन्न है।

'समसामयिक युग' में हिन्दी-उपन्यास पर मनोविश्लेषण-शास्त्र एवं मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ लेखकों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ मिल जाती हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि प्रेमचंद के बाद के मुख्य उपन्यासकार हैं। बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में 'आंचलिक' नाम से उपन्यासों में एक नई प्रवृत्ति आई है। इसमें घटना या पात्रों पर उतना आग्रह नहीं होता जितना कि एक क्षेत्र-विशेष या विशिष्ट जीवन-खंड को उसकी समग्रता में चित्रित करने की चेष्टा होती है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' और नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' ऐसे ही उपन्यास हैं।

कहानी

हिन्दी-कहानी का आरंभ भी उपन्यासों की भाँति ही छायानुवादों से हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कुछ गिनीचुनी ही मौलिक कहानियाँ मिलती हैं-- पर दूसरे दशक में प्रेमचंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि लेखकों ने कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं। वस्तुतः इस क्षेत्र में भी उपन्यासों के समान ही गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचंद की देन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी तीन सौ से अधिक कहानियों में उन्होंने भारतीय जीवन के विविध वर्गों, पात्रों और समस्याओं को वाणी दी है।

प्रेमचंद के अनंतर हिन्दी-कहानी को जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल ने सबसे अधिक प्रभावित किया। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों में चित्रित जीवन का क्षेत्र अवश्य सीमित हो गया, परंतु व्यक्ति के मन का अधिक सूक्ष्मता और गहराई से अंकन किया गया। यशपाल ने प्रेमचंद की समाजोन्मुखी विचारधारा को मार्क्सवाद के साथ समन्वित कर और आगे बढ़ाया। इसी समय इलाचंद्र जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अश्क आदि ने हिन्दी-कहानी-साहित्य की वृद्धि में योग दिया। राहुल, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने ऐतिहासिक विषय-वस्तु पर कहानियाँ लिखीं। पिछले दशक में हिन्दी-कहानी-साहित्य अधिक प्रौढ़ और समृद्ध हुआ है।

आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना की परंपरा संस्कृत एवं हिन्दी में बहुत पुरानी है। पर आधुनिक साहित्य के विवेचन एवं मूल्यांकन के लिए व्यावहारिक आलोचना

की आवश्यकता पड़ी। इस नई आलोचना का पहला रूप पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में भारतेन्दु युग में प्रारंभ हो गया था। बालकृष्ण भट्ट एवं उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने व्यावहारिक समालोचना के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास किए। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में सैद्धांतिक आलोचना का भी श्रीगणेश किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में पुस्तक-समीक्षा का स्तर ऊँचा किया और प्राचीन कवियों की व्यवस्थित आलोचना की परिपाटी चलाई। इसी समय नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में खोजपूर्ण निबंध लिखे जाने लगे जिनकी परंपरा में आगे चलकर विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबंध लिखे गए। चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुंदरदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि ने इस प्रकार की शोधपूर्ण आलोचनाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मिश्रबंधु, लाला भगवान-दीन, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि ने तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखीं।

परंतु हिन्दी-आलोचना के वास्तविक रूप का विकास तीसरे एवं चौथे दशकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हुआ। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'तुलसी', 'सूर' एवं 'जायसी' की समीक्षात्मक भूमिकाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना तथा 'चिन्तामणि' के निबंधों द्वारा सैद्धांतिक समीक्षा को शुक्ल जी ने विशेष शास्त्रीय गरिमा प्रदान की। वस्तुतः शुक्ल जी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं।

शुक्ल जी के बाद शास्त्रीय-समीक्षा-प्रणाली को बाबू गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने आगे बढ़ाया है। समसामयिक युग के ये प्रमुख समीक्षक हैं। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में मनो-विज्ञान एवं मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी-आलोचना पर पड़ा। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि ने प्रथम एवं रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि ने दूसरे प्रभाव के अंतर्गत अपनी समीक्षाएँ लिखीं। विश्वविद्यालयों के अंतर्गत होनेवाले शोधकार्य के परिणामस्वरूप भी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

गद्य की इन मुख्य विधाओं के अतिरिक्त जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र, डायरी, इंटरव्यू, रिपोर्ताज़, गद्यकाव्य आदि अन्य अनेक विधाओं में भी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुई हैं और एक शताब्दी के भीतर ही हिन्दी-गद्य पर्याप्त शक्ति-संपन्न हो गया है।

भाषा में व्यंजना शक्ति का विकास

संकलन के इस भाग में भारतेन्दु के समय से लेकर आज तक के निबंध संकलित हैं। काल-विस्तार की दृष्टि से लगभग एक शताब्दी की भाषा-शैली का

विकास इसमें देखा जा सकता है। भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट के निबंध केवल इस दृष्टि से संकलित हैं कि इनकी भाषा से आजकल की भाषा की तुलना करके इस बीच में हुए क्रमिक परिवर्तन एवं विकास को समझा और परखा जा सके। भारतेन्दु के समय तक साहित्य का माध्यम गद्य नहीं था। इस समय के लेखकों की दो विशेषताएँ थीं; एक तो सब में हिन्दी की सेवा करने का उत्साह था, दूसरे सब की भाषा-शैलियाँ एक-दूसरे से बहुत दूर थीं। आज भी किन्हीं दो लेखकों की शैलियों में अंतर का स्पष्ट निर्देश किया जा सकता है, पर इसके साथ ही भाषा का एक स्थिर स्वरूप भी विकसित हो चुका है जिसको अपनाने की सभी लेखक यथाशक्ति चेष्टा करते हैं।

भारतेन्दु के समय में शब्दों के प्रयोग निश्चित नहीं हो पाए थे। प्रत्येक लेखक अपनी जानकारी और मान्यता के अनुसार शब्दों का प्रयोग कर लेता था। इसके साथ ही लेखक स्थानीय शब्दों का भी व्यवहार कर लेते थे। भारतेन्दु की भाषा में काशी में प्रयुक्त विशिष्ट पदावली ढूँढ़ी जा सकती है। उसी प्रकार लाला श्रीनिवासदास की भाषा में दिल्ली के प्रयोग प्रायः मिल जाते हैं।

वाक्य-रचना में भी बड़ी अव्यवस्था थी। लेखकों को हम प्रायः सरल वाक्यों का प्रयोग करते पाते हैं। यदि कोई लेखक तनिक भी जटिल या गुंफित वाक्य-रचना करना चाहता था तो उसकी वाक्य-रचना कहीं-न-कहीं उलझ जाती थी। व्यवहार द्वारा उपवाक्यों को एक बड़े वाक्य में पिरोने के लिए उपयुक्त संयोजकों का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। समर्थ भाषा के लिए छोटे और सरल वाक्यों का जहाँ महत्त्व है वहीं मिश्रित और गुंफित वाक्य-रचना भी अपेक्षित है। रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, नगेन्द्र ऐसे लेखकों में बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग मिलता है। पर इस स्थिति तक पहुँचने में भाषा को लगभग एक शताब्दी की लंबी यात्रा करनी पड़ी।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा की अस्थिरता दूर करने के लिए अथक प्रयत्न किया। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और सन् १९२० ई० की 'सरस्वती' पत्रिका की भाषा की परस्पर तुलना करके देखने से द्विवेदी जी की सेवा का मूल्य आँका जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, पूर्णसिंह, प्रेमचंद तथा उस समय के कुछ अन्य लेखकों के हाथ में पड़कर भाषा का स्वरूप परिमार्जित और स्थिर हुआ। प्रेमचंद उर्दू की ओर से हिन्दी में आए थे। इनकी भाषा में गति थी; मुहावरों का उचित प्रयोग था और विविध भावों को व्यक्त करने की शक्ति थी। प्रेमचंद ने लोक प्रचलित पदावली से अपना संबंध सदा बनाए रखा।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के आसपास एक विशेष प्रवृत्ति हिन्दी में दिखाई पड़ी। यह प्रवृत्ति अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लेखकों की भाषा में अधिक थी। ये लोग अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी-अनुवाद कर दिया करते थे। 'दृष्टिकोण', 'वातावरण' आदि बहुत

से शब्द आज हमारी भाषा में घुल-मिल गए हैं पर ये शब्द अंग्रेज़ी के ढाँचे पर गढ़े गए हैं। यदि भाषा की परीक्षा की जाए तो ऐसे सैकड़ों शब्द मिलेंगे।

वाक्य-रचना पर भी अंग्रेज़ी का बहुत प्रभाव पड़ा है। रामचंद्र शुक्ल जैसे लेखकों तक के बहुत-से वाक्यों के भीतर अंगेजी वाक्यों की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। पर इन समर्थ लेखकों ने अंग्रेज़ी के प्रभाव को पचा लिया था, इसलिए वह प्रभाव सहज ही लक्षित नहीं होता।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेज़ी का प्रभाव हिन्दी पर——विशेषतः हिन्दी-गद्य पर——और भी व्यापक हो गया। नव-लेखन के अंतर्गत अंग्रेज़ी की भंगिमाएँ हिन्दी में सीधी उतरती आती हैं। विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अनुवादों की भाषा पर भी अंग्रेज़ी का बहुत प्रभाव पड़ा है। दो भाषाएँ जब संपर्क में आती हैं और भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान होता है तो एक का दूसरी पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो जाता है। पर जब यह प्रभाव इतना अधिक हो कि भाषा का स्वरूप ही विकृत होने लगे तो उसका नियंत्रण होना चाहिए।

फिर भी सब मिलाकर आज हिन्दी-गद्य-शैली अत्यंत समृद्ध एवं विकसित हो चुकी है; उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और गंभीर-से-गंभीर भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है।

गद्य-विधाओं का स्वरूप

निबंध

'निबंध' का जो अर्थ हिन्दी में विकसित हुआ, उसके मूल में अंग्रेज़ी का 'एसे' विद्यमान है। आत्मीयता, सरलता, एकान्विति, स्वच्छंदता तथा आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण आदि निबंध के मुख्य लक्षण माने जाते हैं। ये लक्षण भी भिन्न-भिन्न लेखकों में भिन्न-भिन्न मात्रा और स्वरूप में मिलते हैं। परंतु सफल कलाकृति के लिए यह आवश्यक है कि लेखक अपने पाठकों के साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ हो सके। निबंध की आत्मनिष्ठता भी उसके इसी गुण से संबंधित है। यद्यपि निबंध की न तो कोई पूर्वनिश्चित परिभाषा है और न उसके लिखने की कोई निर्धारित रूपरेखा, फिर भी उसके मुख्य तत्त्वों में लेखक की अपनी उपस्थापन-विधि, विचार और उद्देश्य सदैव विद्यमान रहते हैं।

निबंध सामान्यतः (१) कथात्मक (२) वर्णनात्मक (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक, चार प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का प्रयोग किया जाता है; जैसेः भारतेन्दु का 'मदालसा' या पद्मसिंह शर्मा का 'श्री सत्यनारायण कविरत्न'। वर्णनात्मक निबंधों में प्रकृति या मनुष्य-जीवन की घटनाओं का वर्णन होता है; यथाः जवाहरलाल नेहरू का 'जेल में जीव-जंतु'। चिन्तन-प्रधान निबंधों में

लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसंबद्ध रीति से अपने विशेष दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। रामचंद्र शुक्ल का 'उत्साह' विचारात्मक निबंध का सुंदर उदाहरण है। भावात्मक निबंधों में लेखक के हृदय से निस्सृत भावधारा ही विचारसूत्र का नियंत्रण करती है। लेखक का उद्देश्य अपनी किसी सरस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाना होता है। इस संकलन में अध्यापक पूर्णसिंह का 'मजदूरी और प्रेम' ऐसा ही निबंध है।

नाटक

सामान्यतः नाटक की विधा का परिगणन गद्य के भीतर ही किया जाता है, यद्यपि पद्य में भी नाटक लिखे गए हैं। नाटक एक ऐसा साहित्यरूप है जिसमें रंगमंच पर पात्रों के द्वारा किसी कथा का प्रदर्शन होता है। यह प्रदर्शन अभिनय, दृश्यसज्जा, संवाद, नृत्य, गीत आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व (१) वस्तु, (२) नायक और (३) रस स्वीकार किए हैं। किन्तु अब नाटक के निम्नांकित छह तत्त्व माने जाते हैं :

(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) देशकाल, (५) उद्देश्य और (६) शैली।

उपन्यास

प्रेमचंद ने उपन्यास के संबंध में लिखा है, "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" उपन्यास-संबंधी अन्य परिभाषाओं की छानबीन करने से ज्ञात होता है कि सभी परिभाषाएँ मूल में मानव-जीवन की कथा को ही स्वीकार करती हैं। वस्तुतः उपन्यास में एक ऐसी विस्तृत कथा होती है जो अपने भीतर अन्य गौण कथाएँ समेटे रहती है। इस कथा के भीतर समाज और व्यक्ति की विविध अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ, नाना प्रकार के दृश्य और घटनाएँ तथा बहुत प्रकार के चरित्र हो सकते हैं और यह कथा विभिन्न शैलियों में कही जा सकती है।

सामान्यतः उपन्यास के छह तत्त्व माने जाते हैं––कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण, शैली एवं उद्देश्य। उपन्यास की कथावस्तु, मुख्य घटना, प्रासंगिक घटनाओं तथा अंतःसूत्र आदि से मिलकर बनती है। कथावस्तु का विन्यास एवं चरित्रचित्रण उपन्यास की प्रमुख आवश्यकताएँ हैं और इन दोनों में संवाद का बड़ा महत्त्व होता है। एक विशेष प्रकार के परिवेश में ही प्रत्येक घटना घटित होती है या प्रत्येक पात्र व्यवहार करता है। इस परिवेश को ही उपन्यास का वातावरण कहा जाता है। ऐतिहासिक या आंचलिक उपन्यासों में तो यह कथावस्तु का प्रधान

अंग बन जाता है। शैली और उद्देश्य ऐसे तत्त्व हैं जो प्रत्येक कलाकृति में विद्यमान रहते हैं।

उपन्यास को घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है। जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी तथा साहसिक कथानक वाले उपन्यास घटना-प्रधान होते हैं। मानव-चरित्र की अनंत संभावनाओं के कारण चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विषयों की विविधता भी अनंत हो सकती है। स्थूल रूप से इन्हें ऐतिहासिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तीन प्रकारों में बाँटा जा सकता है। किसी प्रदेश या क्षेत्र-विशेष पर आधृत आंचलिक उपन्यास भी सामाजिक उपन्यासों के अंतर्गत ही आते हैं। कथा-सामग्री के मूल स्रोतों के आधार पर भी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक आदि अनेक भेद उपन्यासों के किए जा सकते हैं। शैली के आधार पर भी उपन्यासों का वर्गीकरण हुआ है।

कहानी

मानव-जीवन के किसी एक पहलू, क्षण, भावना या विचार पर कथा के माध्यम से प्रकाश डालना ही कहानी के मूल में विद्यमान रहता है। कहानी और उपन्यास के तत्त्व तो एक ही हैं पर उपन्यास में जीवन और जगत का जितना विस्तार होता है उतना कहानी में संभव नहीं है। इसी कारण कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा काफी संक्षिप्त होता है और संपूर्ण प्रकृति एवं गठन में भी वह उपन्यास से भिन्न हो जाती है। एकता और प्रभावान्विति की तीव्रता कहानी-कला की विशेषताएँ हैं। कहानी की रचना में उसका आरंभ और अंत दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

कहानी-कला के विभिन्न तत्त्वों के आधार पर कहानी के सामान्यतः चार भेद किए जाते हैं—(१) घटनाप्रधान, (२) चरित्रप्रधान, (३) वातावरण-प्रधान एवं (४) भावप्रधान। प्रतीकवादी या सांकेतिक कहानियों का एक वर्ग और भी हो सकता है। विषय की दृष्टि से कहानी के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, साहसिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं।

आलोचना

आलोचना का अर्थ है किसी साहित्यिक रचना को पूरी तरह से देखना-परखना। इस प्रकार रचना का प्रत्येक दृष्टि से विश्लेषण और मूल्यांकन कर पाठकों के रसबोध को परिष्कृत करना आलोचना का मुख्य उद्देश्य बन जाता है। आलोचना रचना और पाठक के मध्य सेतु का कार्य करती है। श्यामसुंदरदास के शब्दों में 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' पाश्चात्य विचारों के अनुसार आलोचक का कर्त्तव्य यह पता लगाना है कि (१) लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और

(२) वह उसे अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है ? आलोचना वस्तुतः रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या है ।

आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दो मुख्य भेद होते हैं । दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार आलोचना के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक आदि अनेक भेद हो सकते हैं ।

व्याख्या, विश्लेषण और मूल्यांकन आलोचन-व्यापार की क्रमिक सीढ़ियाँ हैं । मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन, जीवनी आदि आलोचना की प्रक्रिया में सहायक बन कर आ सकते हैं ।

निबंध का अध्ययन

निबंध को समझने और उसका रसास्वादन करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

१. निबंध की विषयवस्तु ।
२. विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का उद्देश्य ।
३. निबंध की शैली ।

निबंध के लिए स्वीकृत विषयों की कोई सीमा नहीं है । देखना यह चाहिए कि अभिव्यक्त विषय किस प्रकार का है । अर्थात् उसमें किसी बाह्य दृश्य आदि का चित्रण है अथवा किसी घटना, पात्र आदि का वर्णन, किसी मनोविकार आदि का निरूपण-विश्लेषण हुआ है या किसी प्रसंग का भावात्मक अंकनमात्र ।

इसके पश्चात् उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिए । लेखक कभी कुछ तथ्यों, दृश्यों या व्यापारों का विवरण देकर पाठक का ज्ञानवर्द्धन-मात्र करना चाहता है तो कभी वह उसे किसी दृश्य या अतीत की स्मृति में भावात्मक शैली से रमाना चाहता है । कभी वह पाठकों को कुछ प्रेरणा देना चाहता है तो कभी किसी सीख या निष्कर्ष तक ले चलना उसका ध्येय होता है । इस प्रकार विषयवस्तु और उद्देश्य निबंध को समझने में एक बड़ी सीमा तक सहायक होते हैं ।

निबंध में लेखक का दृष्टिकोण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । वस्तुतः इसी आधार-भूमि पर अवस्थित होकर निबंध के विवरणों का सर्वेक्षण किया जाता है । अतः निबंध में जो मूल्य, तथ्य, आवेग-संवेग, स्मृतियाँ अथवा पूर्वाग्रह आते हैं, वे इसी पर आश्रित होते हैं और इसी के द्वारा उन्हें जाना जा सकता है । रामचंद्र शुक्ल ने जिन संस्मरणों का संकेत अपने विचारप्रधान निबंधों में किया है वे उनके विषय-संबंधी दृष्टिकोण को ही सूचित करते हैं । निबंध में आत्मपरकता का समावेश इसी उपकरण द्वारा होता है ।

निबंध में कलात्मक एकान्विति का रहना आवश्यक है । लेखक विचारों की स्थापना में किसी विचार या भाव पर विशेष बल देता है, पारस्परिक तुलना और

विरोध व्यक्त करता है और नाटकीय परिवर्तन द्वारा विचार-धारा को अभीप्सित दिशा में मोड़ने की चेष्टा करता है। निबंध की समीक्षा में इन तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिए।

निबंधकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली में निहित होता है। निबंध को समझने और सराहने के लिए मुख्य रूप से यह देखना होगा कि विषयवस्तु को अभिप्रेत उद्देश्य के लिए किस ढंग से प्रयुक्त किया गया है। किसी भी विषय के संबंध में अनेक छोटे-बड़े विवरण हो सकते हैं। लेखक अपने उद्देश्य के लिए उनमें से आवश्यक का चयन कर लेता है। अतः निबंध के अर्थबोध के लिए चयन और नियोजन को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भाषा के विविध स्तर भी मूल आशय का प्रतिपादन करने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ व्यंग्य करते समय रामचंद्र शुक्ल तद्भव शब्दावली एवं उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा गंभीर विचारों के लिए तत्सम पदावली का। भाषा की प्रांजलता और समृद्धि केवल शब्दचयन पर ही निर्भर नहीं है, विचारों को सुस्पष्ट वाक्यों और स्वाभाविक शैली में उपस्थित करना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए टकसाली शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियों आदि का समीचीन प्रयोग निबंध को अर्थवत्ता प्रदान करता है। निबंध में गृहीत बिम्बों, उदाहरणों एवं संदर्भों को भी प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध करके देखना चाहिए।

संक्षेप में निबंध एक कलाकृति है जो पाठक के मन में आनंद की अनुभूति उत्पन्न करन में उसी प्रकार समर्थ होती है जिस प्रकार कविता, कहानी, नाटक आदि अन्य विधाएँ। इसी रूप में उसका अध्ययन करना चाहिए।

शिक्षण की दृष्टि से प्रस्तावित क्रम

गद्य-संकलन के इस भाग में कालक्रम की दृष्टि से पाठों को रखा गया है। स्थानीय विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अध्यापकों को इस क्रम में परिवर्तन कर लेने चाहिएँ।

प्रस्तावित क्रम

१. प्रार्थना	विनोबा भावे
२. जेल में जीव-जंतु	जवाहरलाल नेहरू
३. शेर का शिकार	वृंदावनलाल वर्मा
४. जीवन में साहित्य का स्थान	प्रेमचंद
५. सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेष	चतुरसेन शास्त्री
६. प्रकृति-सौन्दर्य	जयशंकर प्रसाद
७. राष्ट्र का स्वरूप	वासुदेवशरण अग्रवाल
८. श्री सत्यनारायण कविरत्न	पद्मसिंह शर्मा
९. परमाणु-विस्फोट और मानव-जाति का भविष्य	दौलतसिंह कोठारी
१०. घर और बाहर	महादेवी वर्मा
११. कवि-चर्चा	सियारामशरण गुप्त
१२. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	नगेन्द्र
१३. मजदूरी और प्रेम	पूर्णसिंह
१४. हमारे साहित्य की विशेषताएँ	श्यामसुंदरदास
१५. नई संस्कृति की ओर	रामवृक्ष बेनीपुरी
१६. उत्साह	रामचंद्र शुक्ल
१७. बातचीत	बालकृष्ण भट्ट
१८. मदालसा	भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म सन् १८५० ई० में वाराणसी में हुआ। पैंतीस वर्ष की अल्पायु में, सन् १८८५ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। इस स्वल्पकाल में ही इन्होंने अनेक संस्थाएँ स्थापित और संचालित कीं, कई पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, समाज-सुधार और शिक्षा-प्रचार के अनेक कार्य किए तथा हिन्दी के प्रचार के साथ-साथ गद्य और पद्य में अनेक ग्रंथों की रचना की।

भारतेन्दु की रचनाएँ प्रमुखतः तीन प्रकार की हैं—नाटक, निबंध और कविता। इतिहास, यात्रा, जीवनचरित, राजनीति, समाजसुधार, पर्व-त्यौहार एवं जगत और जीवन से संबद्ध विविध विषयों पर इन्होंने निबंध लिखे। इनकी रचनाओं का प्रकाशन तीन खंडों में काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने किया है। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'**, **'चंद्रावली'**, **'विषस्य विषमौषधम्'**, **'भारत दुर्दशा'**, **'नीलदेवी'**, **'अंधेर नगरी'** और **'सत्य हरिश्चंद्र'** इनके प्रमुख नाटक हैं।

भारतेन्दु का उदय प्राचीन और नवीन के संधिकाल में हुआ था। जब शिवप्रसाद गुप्त को तत्कालीन भारत सरकार ने **'सितारेहिन्द'** की उपाधि प्रदान की तो जनता ने अपने इस मनोनीत नेता को **'भारतेन्दु'** कहकर सम्मानित किया। साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उस काल को **'भारतेन्दु-काल'** कहा है।

भारतेन्दु ने अपने युग में भाषा का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। इनकी रचनाओं में विषयों के अनुसार विभिन्न शैलियाँ मिलती हैं। गंभीर विषयों के प्रतिपादन में भाषा संस्कृत-पदावली की ओर झुकने लगती है और इतिहास, यात्रा आदि विषयों पर लिखते समय व्यावहारिक हो जाती है। भावपूर्ण प्रसंगों में शैली मधुर और मार्मिक बन जाती है। इस शैली के उदाहरण **'चंद्रावली'** नाटिका में मिलते हैं। लेखक की भाषा पाठक के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करने में सदा समर्थ है। इन विशेषताओं के साथ ही पाठक का ध्यान कुछ ऐसे प्रयोगों की ओर भी अवश्य जाता है जिन्हें भाषा के आधुनिक प्रचलित रूप में स्वीकृत नहीं किया जाता। भारतेन्दु की भाषा में पूर्वी शब्दों के प्रयोग मिलते हैं और वाक्य-रचना भी कहीं-कहीं अपुष्ट है। यह दोष उस समय के अन्य लेखकों में भी मिलता है। **'मदालसा'** से ऐसे वाक्यों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:

(क) यह भी आज्ञा **दिया** कि तुम्हारी साँसों से मदालसा उत्पन्न होगी।

(ख) उसको कुलध्वज नाम का एक लड़का हुआ ।

(ग) फौज ने चोर चोर कर आन घेरा ।

(घ) नागराज ने कहा भला हम सुनै तो सही ।

(ङ) जो क्षत्री युद्ध में मरै उसका क्या रोना ।

यह पाठ 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (भाग तीन) से लिया गया है। इसकी मूलकथा मार्कण्डेय पुराण पर आधृत है ।
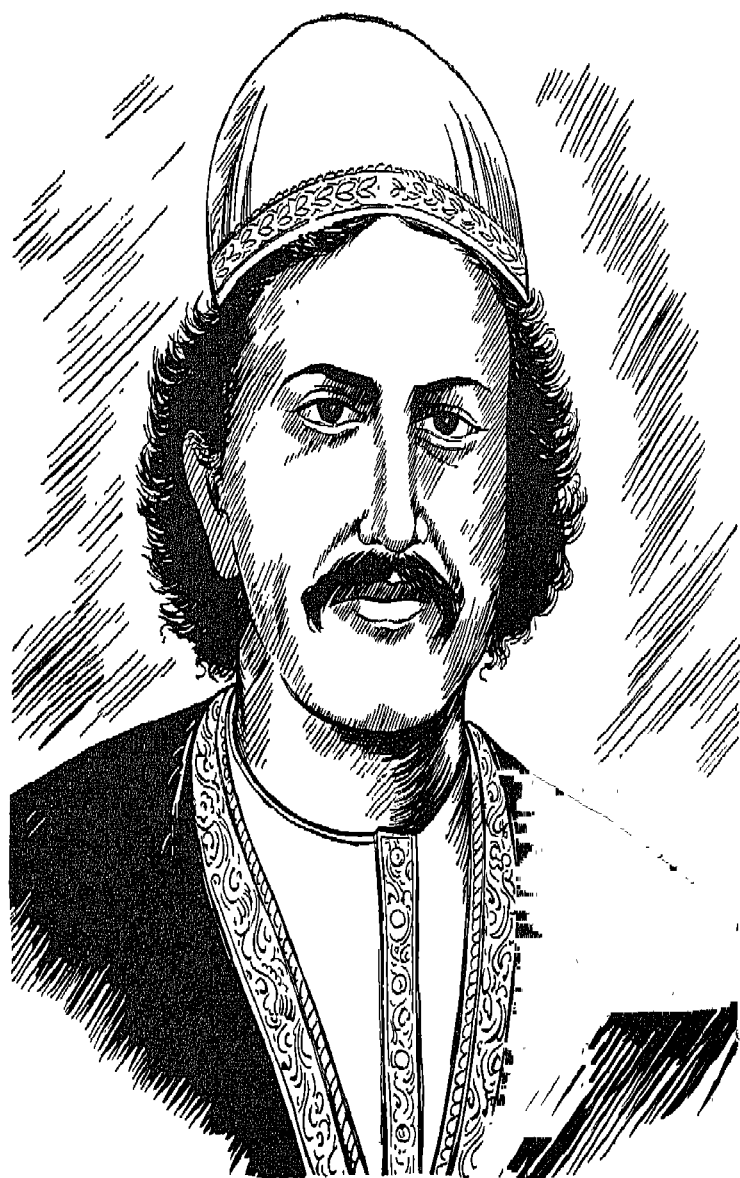
भारतेन्दु हरिश्चंद्र

मदालसा

पुराने जमाने में शत्रुजित नाम का एक राजा था और उसको अरिविदारण कृतध्वज नाम का एक लड़का था। अश्वतर नाग के दो लड़के ब्राह्मण बनकर उसके साथ खेलने आते थे। राजकुमार से उनसे ऐसी प्रीति हो गई थी कि वे रात-दिन नाग-लोक छोड़कर यहीं भूले रहते थे। एक दिन नागों के राजा अश्वतर ने अपने लड़कों से पूछा 'प्यारे लड़को, आजकल तुम लोग नाग-लोक छोड़कर मृत्यु-लोक ही में क्यों रमे रहते हो ?' वे बोले 'पिता, शत्रुजित राजा के कुमार कृतध्वज ने शिष्टाचार और प्रीति से हमारा मन ऐसा मोहा है कि पाताल उसके बिना गर्म और उसके मिलने से सूर्य ठंडा मालूम पड़ता है।' पिता ने कहा 'निस्संदेह वह पुरुष धन्य है जिसको ऐसा मित्रों को सुखदाई पुत्र हुआ है, भला ऐसे सच्चे सुहृत् का तुम लोगों ने कुछ उपकार भी किया ?' लड़के कहने लगे 'भला हम लोग उसका क्या उपकार करेंगे, धन, जन, विद्या सबमें वह हम से बढ़-चढ़के है और जो उसका एक काम है उसको ब्रह्मादिक ईश्वर के सिवा कोई कर नहीं सकता।' नागराज ने कहा 'भला हम सुनें तो सही, ऐसा कौन काम है जो आदमी न कर सके। किसी प्रकार भी तुम लोग मित्र का प्रति उपकार कर सको तो मैं अपने को ऋण से छूटा समझूँ।'

नाग-पुत्र बोले 'उस मित्र के पिता के पास उसकी जवानी में गालव नाम का ब्राह्मण एक बहुत बढ़िया घोड़ा लेकर आया और बोला कि महाराज एक राक्षस हम लोगों को बहुत दुःख देता है, नित्य तप में विघ्न कर करके उसने हमारी नाकों में दम कर रक्खा है और हम लोगों ने बड़े कष्ट से तप किया है इससे उसको शाप देकर तप नहीं न्यून किया चाहते। एक दिन बड़े दुःखी होकर जो मैंने एक लंबी ठंडी साँस भरी तो देखता हूँ कि यह घोड़ा आसमान से उतरा चला आता है, साथ ही आकाशवाणी भी सुनी कि इस घोड़े की गति पृथ्वी और आकाश पाताल सब जगह है। और ऐसा घोड़ा पृथ्वी पर दूसरा

नहीं है। चाल में हवा को भी यह पीछे छोड़ता हुआ संसारियों क मन की भाँति उड़ा चलता है। इसका नाम कुवलय है, इसे राजा शत्रुजित को दो और उसका पुत्र इस घोड़े पर सवार होकर उस राक्षस को मारै। इससे उस राजा की बड़ी कीर्ति होगी। सो अब मैं आप के पास आया हूँ। राजा ने कुमार को उसी समय सज-सजा कर असीस दी और ब्राह्मण के साथ विदा किया। राजकुमार गालव के आश्रम में रहने लगा।

एक दिन वह राक्षस जंगली सूअर बनकर आया और जब कुँअर ने उसके पीछे धनुष तानकर घोड़ा दौड़ाया तो वह एक घने जंगल में भागा। भागते-भागते वह बहुत दूर जाकर एक गड़हे में गिर पड़ा तो कुँअर भी साथ ही कूदा। अँधेरे में कुँअर को कुछ भी नहीं देखाता था पर घोड़ा फेंके चला जाता था। जब उजेला आया तो वह सूअर न दिखाई पड़ा, सिर्फ़ एक बड़ा रत्नों से जड़ा घर सामने खड़ा था। उसके दरवाज़े की सीढ़ी पर एक जवान सुंदर स्त्री चढ़ी जाती थी। कुँअर भी दरवाज़े पर घोड़ा बाँध बेधड़क उस मकान में घुसा और एक बड़ी सजी-सजाई जड़ाऊ दालान में हिंडोला खाट पर उसे एक कन्या दिखाई पड़ी और जो स्त्री उसे सीढ़ी पर चढ़ती मिली थी, वह भी उसके पास बैठी थी। कुँअर को देखते ही वह कन्या बेहोश हो गई। उस स्त्री और कुँअर ने किसी तरह उसको सावधान किया। तब कुँअर उस सखी से उन लोगों का नाँव गाँव और बेहोशी का कारण पूछने लगा।

स्त्री बोली यह गंधर्वों के राजा विश्वावसु की कन्या है। इसको पाताल-केतु नाम का दैत्य माया से उठा लाया है। अगली तेरस को वह दुष्ट इससे व्याह करने को था और जब इस दुःख से यह प्राण देने लगी तो आकाशवाणी हुई कि प्राण मत दे। गालव के आश्रम में जिस राजकुँअर से यह मारा जाएगा वही तेरा हाथ पीला करेगा। मैं इसकी सखी विन्ध्यवान् की पुत्री कुंडला हूँ मेरे पति पुष्कर माली को जब शंभू दैत्य ने वध कर डाला तब से धर्म में लगी हूँ। इसके मूर्च्छा का कारण यह है कि आज मैं खबर ले आई हूँ कि गालव के आश्रम में किसी ने उस सूअर बने हुए दैत्य को बान से मारा है। अब वही इसका

पति होगा पर यह तुम्हारे रूप से मोह गई है और यह सोचती है कि हाय, जिसको मैं चाहती हूँ उससे न ब्याही जाऊँगी। अब आप कौन हैं? कहिए। राजकुमार ने सब हाल कहा और अपना राक्षस का मारना वर्णन किया। सुनते ही उस कन्या ने घूँघट कर लिया और बहुत प्रसन्न होकर कुंडला से बोली---सखी, सुरभी का कहना क्या झूठ हो सकता है! कुंडला ने उसी समय तुंबरू गंधर्व का ध्यान किया। उसने आते ही प्रसन्नता से अग्नि को साक्षी देकर दोनों का हाथ दोनों को पकड़ा दिया और आप तप करने चला गया। कुंडला भी अपनी सखी को गले लगाकर दुलहा दुलहिन दोनों को कुछ हित की बातें सिखाकर तप करने गई।

कुँअर उस कन्या (मदालसा) को घोड़े पर बिठाकर उस पाताल की गुफा से बाहर निकलने लगा, पर उसी क्षण राक्षसों की फौज ने चोर-चोर कर आन घेरा और मदालसा को उससे छुड़ाना चाहा। कुँअर ने बहादुरी से उन सबों को बात की बात में मार गिराया और आप राज़ी ख़ुशी अपने घर आया। पिता के पैरों पर पड़कर सब हाल कह सुनाया। राजा-रानी बहू-बेटा पाकर बड़े प्रसन्न हुए और सब लोग सुख से रहने लगे। राजा ने कुँअर को आज्ञा दे दी थी कि तुम नित्य घोड़े पर चढ़कर मुनियों की रखवाली किया करो। कुँअर घोड़े पर चढ़ा एक दिन यमुना किनारे के मुनियों की रखवाली कर रहा था कि एक आश्रम देखा। इस आश्रम में उस पातालकेतु राक्षस का भाई तालकेतु कपटी मुनि बनकर बैठा था। कुँअर को देखते ही पुराना बैर याद करके वह बोला कि कुँअर तुम अपने गहिने हमको दो और जब तक हम पानी में जाकर वरुण की पूजा करके न फिरें तब तक तुम हमारे आश्रम की चौकी दो। राजपुत्र ने सब गहना उतार दिया और उस कुटीचर की कुटी का पहरा देने लगा। वह दुष्ट गहना लेकर जल में डूबकर माया से कुँअर के महलों में गया और मदालसा से बोला कि हमारे आश्रम में कृतध्वज को एक राक्षस ने मार डाला और हिनहिनाते हुए उस बिचारे घोड़े को भी घसीट ले गया। शूद्र तपसियों से क्रिया कराके उसका गहना लेकर मैं तुमको देने आया हूँ, यह लो। इतना कहकर आभूषण सब फेंक दिए और आप चलता

हुआ। मदालसा ने उसी समय पति के दुःख से प्राण त्याग किए। महल में हाहाकार मच गया, जिधर देखो उधर कुहराम पड़ा हुआ था और दर दीवार से 'हाय कुँअर', 'हाय बहू' की आवाज़ आती थी। राजा शत्रुजित धीरज रखकर बोला कि इतना क्यों रोते हो ? मुनियों की रक्षा में हमारा पुत्र यश कमाकर मारा गया, इसका क्या सोच है। उसकी माँ भी बोली कि बड़ों का यश बढ़ाकर जो क्षत्री युद्ध में मरै उसका क्या रोना और ऐसी बहू का भी क्या सोच जो पति के सब सुख भोगकर अंत में पतिलोक उसके साथ ही गई, उठो क्रिया करो और सोच दूर करो। राजा ने नगर के बाहर सब लोक-रीति किया और बेटे-बहू को पानी देकर घर फिरा।

इधर कपटी मुनि भी कुँअर से आकर बोला कि मेरा काम हो गया, आपका कल्याण हो अब घर सिधारिए। कुँअर जब नगर में आया तो सबको उदास पाया। कुँअर बहुत सकपकाया कि यह मामला क्या है ? अंत में घर पर गया और सब हाल सुनकर बहुत ही घबड़ाया। माँ-बाप के डर से रो तो न सका पर अपनी पतिव्रता प्रान-प्यारी के बिछुड़ने से बहुत ही उदास हो गया और यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं प्रान तो नहीं देता पर अब किसी दूसरी स्त्री से जन्म भर न मिलूँगा। तब से इस सुख से वंचित है और यदि संसार में उसका कोई हित है तो इतना ही है कि मदालसा उसको फिर मिलै पर यह सिवा ईश्वर के कौन कर सकता है ?'

नागराज ने कहा 'पुत्र, ईश्वर की दया और मनुष्य के परिश्रम के आगे कोई बात कठिन नहीं।'

उसी दिन से अश्वतर ने हिमालय पर्वत पर सरस्वती की आराधना करनी प्रारंभ कर दी। जब सरस्वती प्रसन्न हुईं, कहा 'वर-माँगो' तो नागराज ने यह वर लिया कि उन्हें और उनके भाई कंबल को संगीत विद्या संपूर्ण रीति से आ जाए। वर पाकर कंबल अश्वतर दोनों कैलाश को गए और गाकर श्री भोलानाथ सदाशिव को ऐसा रिझाया कि महादेव पार्वती साथ ही बोले 'माँगो, क्या चाहते हो'। दोनों ने हाथ जोड़कर कहा 'नाथ ! कृतध्वज की स्त्री मदालसा उसी रूप और अवस्था से हमारे घर में फिर जन्म ले'। 'एवमस्तु' त्रिनयन

जी ने कहा और यह भी आज्ञा दिया कि तुम्हारी साँस से आज के तीसरे दिन मदालसा उत्पन्न होगी। तीसरे दिन मदालसा का जब जन्म हुआ तो नागाधिप ने सबसे छिपाकर उसको निज के ज़नाने में रक्खा।

एक दिन बातों-बात में अश्वतर ने कहा 'बेटा, भला हम भी तुम्हारे मित्र को देखें'। नागकुमार उसी समय कृतध्वज के पास आए और बोले 'हम आपसे कुछ जाँचते हैं।' कृतध्वज बोला 'मित्र, हमारे धन्य भाग, इतने दिन तक आप लोग मेरे साथ रहे, कभी कुछ न कहा, आज भला इतना कहा तो, मैं राज्य और प्राण भी देने को प्रस्तुत हूँ।' कुमारों ने कहा, 'मेरे पिताजी आपको देखा चाहते हैं'। राजकुमार उन ब्राह्मण बने हुए नागकुमारों के साथ चला और वे दोनों उसका हाथ पकड़कर यमुना में कूद पड़े। जब पैर तल पर लगे और कुँअर ने आँख खोली तो देखा कि एक रत्नमय नगरी में खड़े हैं। नागपुत्र कुमार को लेकर नागेश्वर के सामने गए। कुमार नाग लोगों का वैभव देखकर चकित हो गया। उसके नगर के जौहरी जितनी बड़ी मनियों का ध्यान भी नहीं कर सकते, वैसी वहाँ अनेक देखने में आईं। नाग सम्राट को तीनों कुमारों ने साष्टांग दंडवत किया। अश्वतर ने राजकुँअर का सिर सूँघा और गोद में बैठाकर बोले 'पुत्र, तुम धन्य हो, आज तक तुम्हारे गुणों को अपने पुत्रों के मुख से सर्वदा सुनने से तुम्हें देखने को जो मेरी लालसा थी वह पूरी हुई, कहो, कुछ हम भी तुम्हारा उपकार कर सकते हैं।' कुँअर ने हाथ जोड़कर कहा 'आप की कृपा से मेरे सब काम पूर्ण हैं, यदि वर दिया ही चाहते हैं तो इतना ही दीजिए कि मेरी मति सदा सुपथ पर चले।' नागराज ने कहा 'तुम्हारी मति तो आप ही सुपथ पर है, कोई दूसरा वर माँगो।' कुँअर नहीं माँगता था। गरज़ इसी संवाद में अवसर पाकर नागनंदन बोले 'पितः! इनको तो केवल एक मात्र दुःख है, जो मैंने आपसे पूर्व में कहा था'। अश्वतर उसी समय महल में से मदालसा को ले आए और कुमार का हाथ पकड़ा दिया। उस समय कुमार को जो अलौकिक आनंद हुआ वह कौन वर्णन कर सकता है। यदि ऐसे ही मरा हुआ कोई प्राणप्रिय मित्र मिले तो उसका अनुभव किया जाए।

पन्नगाधिपति ने पाताल में बड़ा उत्सव करके उन दोनों का फिर से पाणिग्रहण कराया। नागनंदनों ने भी बड़ा आनंद किया और बड़े धूमधाम से कुँअर की दावतें हुईं। सारा नागलोक उमड़ पड़ा था और कुँअर को सब बधाई देते थे। कुंडला, जो तप के बल से अब विद्याधरी हो गई थी, मदालसा के गले से लगी और बधाई देकर बोली 'बहिन, मेरे धन्य भाग हैं कि तुझे जीती-जागती भली-चंगी अपने पति के साथ देखती हूँ, भगवान करै तू सीली सपूती ठंडी सुहागिन हो और धन जन पूत लक्ष्मी से सदा से सदा सुखी रहै।' अश्वतर का भाई कंबल और और भी बड़े-बड़े नाग लोग इस उत्सव में आए थे और कुँअर से मिलकर सब प्रसन्न हुए।

मणिधरमुकुटमणि अश्वतर ने कृतध्वज को बहुत से मणि दिव्य वस्त्र चंदन इत्यादि देकर बड़ी प्रीति से धूमधाम से विदा किया और एक सज्जन मित्र का उपकार करके अपने को कृतकृत्य समझा और कुँअर से बहुत तरह से विनती करके कहा कि सदा आना-जाना बनाए रहना और पिता से हमारा बहुत प्रणाम कहना——तुम्हारे स्नेह ने हमें बिना सैन्य जीत लिया है। नागपत्नी नागकन्याओं ने बहुत-सा गहना-कपड़ा दे उसका सिंगार किया और असीस देकर आँखों में आँसू भर के अपनी निज बेटी की भाँति विदा किया। कुँअर हँसी-खुशी गाजे-बाजे से उसी धूमधाम के साथ घर पहुँचा। माँ-बाप का बहू-बेटे को देख कर ऐसा कलेजा ठंडा हुआ जैसे किसी को खोई हुई संपत्ति मिले। राजा के सारे राज्य में आनंद फैल गया और घर-घर बधाइयाँ होने लगीं। कुँअर को राज का बोझ सुपुर्द करके राजा भी सुचित हुआ और कुँअर भी मदालसा के साथ सुख से काल बिताने लगा। काल पाकर राजा-रानी परलोक को सिधारे और कृतध्वज राजा और मदालसा रानी हुई। राज का प्रबंध कृतध्वज ने बहुत अच्छा किया। प्रजा सब सुखी और चोर और शत्रु दुखी। कृतध्वज मदालसा के साथ महल-बगीचे, वन, पहाड़ों और नदियों सुंदर स्थानों में सुख से काल बिताता था। समय से मदालसा को एक पुत्र हुआ। नामकरण के दिन राजा ने जब सुबाहु नाम रक्खा तो मदालसा हँसी। राजा ने पूछा 'ऐसे अवसर में तुम हँसती क्यों हो?' मदालसा ने कहा, 'सुबाहु'

किस की संज्ञा है इस जीव की कि इस देह की ? देह की कहो तो हो नहीं सकती क्योंकि यह मेरा हाथ, यह मेरा देह, यह सब लोग कहते हैं इससे देह का कोई दूसरा अभिमानी अलग मालूम होता है और जो कहो जीव की है तो जीव को तो बाहु हुई नहीं, वह तो निर्लेप है। फिर इसकी सुबाहु संज्ञा क्यों ? मेरे जान यह नामकरण इसका व्यर्थ है।' राजा को ऐसे नामकरण के आनंद के अवसर में उसका यह ज्ञान छाँटना ज़रा बुरा मालूम हुआ पर चुप कर रहा। मदालसा जब बालक को खिलाने लगती तो यह कहकर खिलाती--

अरे जीव तू आतमा शुद्ध है। निरंजन है तू और तू बुद्ध है ॥
फँसा है तू आकर के भौजाल में। निराला है तू इनसे पर चाल में ॥
न माया में इनके अरे कुछ भी भूल। न सपने की संपत पै इतना तू फूल ॥
तेरा कोई दुनिया में साथी नहीं। तेरा राज घोड़ा व हाथी नहीं ॥

छोटेपन ही से ज्ञान के संस्कार से बड़ा होते ही वह लड़का संसार को छोड़कर बन में चला गया। और उसके पीछे दो लड़के और भी हुए और वे भी बालकपन ही से ज्ञान का उपदेश सुनते-सुनते जब बड़े हुए तो संसार से उदास होकर घर छोड़ गए। क्योंकि कच्चे कलेजे में जो बात सिखाई जाती है बड़े होने पर उसका असर चित्त पर बहुत रहता है। राजा मदालसा के इस कृत्य से बहुत उदास रहता था। जब चौथा लड़का हुआ और उसका नामकरण करने लगा तो मदालसा से बोला कि देवी, अब की तुम्हीं इसका नाम रक्खो क्योंकि उन तीनों के हमारे नाम रखने से तुम हँसती थीं। मदालसा ने उस लड़के का नाम अलर्क रक्खा। राजा ने पूछा 'अलर्क शब्द का तो कुछ अर्थ ही नहीं, ऐसा नाम क्यों ?' मदालसा ने कहा 'पुकारने के वास्ते कोई संज्ञा रखनी चाहिए, इसमें सार्थक और निरर्थक क्या ?' एक दिन राजा ने देखा कि उसको भी वही सब कह-कहकर खिला रही है, तो राजा को बड़ा ही क्षोभ हुआ। हाथ जोड़कर बोला 'चंडिके, यह बालक हमें दान कर दो, तीन को तुम मिट्टी में मिला चुकीं यही एक बाकी रहा है।' पति की इच्छानुसार मदालसा ने उसे ज्ञानोपदेश न करके उसके बदले अनेक प्रकार की नीति और धर्म पढ़ाया, जिसके प्रताप से किसी समय अलर्क बड़ा प्रतापी हुआ क्योंकि माता की शिक्षा सब शिक्षा से

बढ़कर है। राजा-रानी ने अलर्क को समर्थ देखकर राज का बोझ सौंप दिया और आप तप करने वन में चले गए।

प्रश्न और अभ्यास

१. गालव ने शत्रुजित को कुवलय नामक अश्व क्यों दिया ?

२. कृतध्वज का मदालसा के साथ किस प्रकार विवाह हुआ ?

३. मदालसा की मृत्यु कैसे हुई और वह किस प्रकार पुनर्जीवित हुई ?

४. इस कहानी का सार लिखिए।

५. निम्नलिखित मुहावरों का, अर्थ स्पष्ट करते हुए, वाक्यों में प्रयोग कीजिए :
हाथ पीले करना, ज्ञान छाँटना, बात की बात में।

६. रेखांकित शब्दों के स्थान पर एक शब्द देकर वाक्य लिखिए :
(क) अपने को **ऋण से छूटा** समझो।
(ख) ऐसा घोड़ा पृथ्वी पर **दूसरा नहीं** है।

७. निम्नलिखित वाक्यों को शुद्ध कीजिए :
(क) यदि वर दिया ही चाहते हो तो इतना ही दीजिए कि मेरी मति सुपथ पर चले।
(ख) कुँअर को कुछ भी नहीं देखाता था।
(ग) यह तुम्हारे रूप से मोह गई है।
(घ) राजा ने सब लोक-रीति किया।
(ङ) पिताजी आपको देखा चाहते हैं।

८. भारतेन्दु हरिश्चंद्र की भाषा-शैली का उदाहरण सहित परिचय दीजिए।

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म सन् १८४४ ई० में प्रयाग में हुआ तथा मृत्यु सन् १९१४ ई० में हुई। प्रारंभिक शिक्षा घर में हुई, इसके पश्चात् इन्होंने कुछ वर्षों तक स्कूल में भी अध्ययन किया। इनका अधिकांश अध्ययन स्वाध्याय पर निर्भर था। ये संस्कृत और हिन्दी के विद्वान थे तथा उर्दू और अंग्रेज़ी का भी इन्हें व्यावहारिक ज्ञान था। भट्ट जी ने अनेक वर्षों तक जमुना मिशन हाई स्कूल, तथा कायस्थ पाठशाला हाई स्कूल, इलाहाबाद में हिन्दी तथा संस्कृत के अध्यापक-रूप में काम किया। इनका साहित्यिक जीवन **'हिन्दी प्रदीप'** मासिक पत्र के संपादक-रूप में विकसित हुआ। ये बड़ी लगन, त्याग और अध्यवसाय से बत्तीस वर्ष तक इस पत्र को निकालते रहे। अनेक वर्षों तक ये हिन्दी शब्दसागर के सहकारी संपादक भी रहे।

हिन्दी में निबंध-परंपरा का सूत्रपात करनेवालों में भट्ट जी का प्रमुख स्थान है। **'साहित्य-सुमन'** तथा **'निबंधावली'** (दो भाग) में इनके निबंध संगृहीत हैं। ये निबंध सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, नैतिक आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। कुछ निबंध सरल और हास्य-व्यंग्य-पूर्ण हैं तो कुछ गंभीर और विचारपूर्ण। लेखक के व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र स्पष्ट है।

भट्ट जी के निबंधों में तीन शैलियाँ मिलती हैं। एक संस्कृतप्रधान है, दूसरी में उर्दू शब्दों के प्रचुर प्रयोग की ओर झुकाव है और तीसरी शैली में अंग्रेज़ी तक के शब्दों को मुक्त भाव से ग्रहण किया गया है। संस्कृतप्रधान शैली में अलंकारों की अधिकता है। उर्दू-मिश्रित शैली में ये प्राय: साधारण तथा व्यावहारिक विषयों पर लिखा करते थे। मुहावरों के प्रयोग की ओर इनकी रुचि अधिक थी। इन्हें संस्कृत के शब्दों को तत्सम रूप में प्रयुक्त करने का आग्रह नहीं था। **'गुन'**, **'मिठास'**, **'परख'**, **'तरुनाई'** ऐसे प्रचलित तद्भव शब्दों को भी ये स्वच्छंदता से ग्रहण कर लेते थे। उस समय तक हिन्दी में वाक्य रचना की दृष्टि से परिपुष्टता नहीं आ पाई थी। अत: शब्दों के प्रयोग और वाक्य-विन्यास में प्रांतीयता के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं एक प्रकार की अस्थिरता और अस्पष्टता मिलती है। **'बातचीत'** निबंध में से भी कुछ ऐसे प्रयोग तथा वाक्य चुने जा सकते हैं जो प्रांतीय हैं तथा खड़ीबोली के प्रौढ़ रूप में प्रयुक्त नहीं होते। उदाहरण के लिए :

(क) **कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच रहा किया; सोलह वर्ष के उपरांत जब उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था, उस समय राबिनसन को ऐसा आनंद हुआ**

मानो इसने नए सिरे से फिर से आदमी का चोला पाया।

(ख) **वैसा ही दो आदमी पास-पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है।**

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने बड़ी सरस शैली में **'बातचीत'** के विविध रूपों का वर्णन किया है और **'वक्तृता'** से उसका अंतर स्पष्ट करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप एवं कलात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। निबंध की भाषा में उर्दू-फ़ारसी के शब्द तथा प्रांतीय प्रयोग तो अवश्य मिलते हैं, किन्तु शैली के चमत्कार के कारण उनसे पाठक के आनंद में व्याघात नहीं पड़ता।

बालकृष्ण भट्ट

बातचीत

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं, उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और-और इंद्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति उनमें न होती तो, हम नहीं जानते, इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानो एक कोने में बैठा दिए गए होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी-दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते उसे अवाक् होने के कारण आपस में एक दूसरों से न कह सुन सकते। अब इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में 'स्पीच'—वक्तृता—और बातचीत दोनों हैं किन्तु स्पीच से बातचीत का कुछ ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज़-नखरा ज़ाहिर करने का मौक़ा नहीं दिया जाता है कि वह एक बड़े अंदाज़ से गिन-गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज़ ऐण्ड जेण्टिलमैन की बहुत-सी स्तुति कर-कराय तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ किया गया।* जहाँ कोई मर्म या नोक की कोई चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि करतल-ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को ख़ामख़ाह ढूँढ़ कर कोई ऐसा मौक़ा अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतल-ध्वनि अवश्य हो। वहीं, हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतल-ध्वनि का कोई मौक़ा है न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े तो मुस्कराहट से होठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग

---

*करे। 'किया गया' प्रयोग अशुद्ध है। —संपादक

है, इसमें स्पीच की वह संजीदगी बेक़दर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी ज़िन्दगी मज़ेदार बनाने के लिए खाने-पीने, चलने-फिरने आदि की ज़रूरत है वहाँ बातचीत की भी हमको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुआँ जमा रहता है वह सब बातचीत के ज़रिए भाप बन बाहर निकल पड़ता है, चित्त हल्का और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक ख़ास तरह का मज़ा होता है। जिनको बात करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना तक छोड़ देते हैं, अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर बातचीत का मज़ा नहीं खोना चाहते। राबिनसन क्रूसो का किस्सा, बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा, जिसे सोलह वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच रहा किया*; सोलह वर्ष के उपरांत जब उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी, यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था, उस समय राबिनसन को ऐसा आनंद हुआ मानो इसने नए सिरे से फिर से आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है मनुष्य की वाक्‌शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ, उन्हें अपने प्रेमी से कितनी लालसा बात करने की रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे को प्रकट करना, और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना, केवल शब्दों ही के द्वारा हो सकता है।

बेन जानसन का यह कहना कि 'बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है' बहुत ही उचित बोध होता है। इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रक्खी जा सकती है जितनों की जमात, मीटिंग या सभा न समझ ली जाए। एडिसन का मत है असल बातचीत सिर्फ़ दो में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई।

दूसरे यह है कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही, या दोनों

---

*आजकल 'रहता रहा' लिखा जाता है। —संपादक

हिजाब में आय, अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख और अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे। जैसे गरम दूध और ठंडे पानी के दो बर्तन पास-पास साट कर रक्खे जाएँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है; अर्थात् दूध ठंडा हो जाता है, और पानी गरम। वैसा ही* दो आदमी पास-पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है। चाहे एक दूसरे को देखें भी नहीं, तब बोलने को कौन कहे, पर एक का दूसरे पर असर होना शुरू हो जाता है। एक के शरीर की विद्युत दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा, इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के संगम में देखना चाहिए मानो एक त्रिकोण-सा बन जाता है। तीनों के चित्त मानो तीन कोण हैं, और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुपचुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है जो बातचीत तीनों में की गई वह मानो अँगूठी में नग-सा जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफ़ी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी, जो कुछ बातचीत की जाएगी वह 'फ़ार्मैलिटी', गौरव, संजीदगी के लच्छे में सनी हुई। चार से अधिक की बातचीत तो केवल राम-रमौवल कहलाएगी, उसे हम संलाप नहीं कह सकते।

इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः ज़माने की शिकायत पर हुआ करती है, बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिनमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अंग्रेज़ी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी से बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवान की निन्दा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। अब इसके विपरीत नौजवानों की बातचीत का कुछ तर्ज़ ही निराला है। जोश-उत्साह, नई उमंग, नया हौसला आदि मुख्य प्रकरण

*आजकल 'वैसे ही' लिखा जाएगा। —संपादक

उनकी बातचीत का होगा । पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेन्सर उनके जीभ के आगे नाचा करेंगे, अपनी लियाकत के नशे में चूर-चूर "हम चुनीं दीगरे नेस्त"। अक्खड़ कुश्तीबाज़ हुए तो अपनी पहलवानी और अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे ।

अर्द्धजरती बुढ़ियाओं की बातचीत का मुख्य प्रकरण, बहू-बेटी वाली हुईं तो, अपनी-अपनी बहुओं या बेटी का गिला-शिकवा होगा या बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अंत में खोढ़े दाँत निकाल-निकाल लड़ने लगेंगी । लड़कों की बातचीत में खिलाड़ी हुए तो अपनी-अपनी आवारगी की तारीफ़ करने के बाद कोई ऐसी सलाह गाठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी ज़ाहिर करने का पूरा मौक़ा मिले । स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ़ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-ऐगुन का कथोपकथन होता है । पढ़ने में तेज़ हुआ तो कभी अपने मुकाबिले दूसरे को कैफ़ियत न देगा, सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली-सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा । अलावे इसके बातचीत की और बहुत-सी किस्में हैं । राज-काज की बात, व्यौपार-संबंधी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि । हमारे देश में कुछ जाति के लोगों में बतकही होती है; लड़की-लड़के वाले की ओर से एक-एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह-संबंध की कुछ बातचीत करते हैं, उस दिन से बिरादरी वालों को ज़ाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की से अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रस्म बड़े उत्साह के साथ की जाती है। एक चंडूखाने की बातचीत होती है इत्यादि, इस तरह बात करने के अनेक और ढंग हैं ।

यूरोप के लोगों में बात करने का एक हुनर है; "आर्ट आफ़ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते । इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है । ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अद्‌भुत सुख मिलता है । सहृदय-गोष्ठी इसी का नाम है । सहृदय-गोष्ठी की बात-चीत की यही तारीफ़ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा

पांडित्य का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रगट हो वरन् जितने क्रम रसाभास पैदा करनेवाले हों, सबों को बरकाते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत का उपक्रम रखते हैं जो हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आएगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान जिनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप का तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है; वरन्, कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे, तय कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े-से-बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत ही से शुरू किए गए, उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हज़ारों मनुष्यों को उससे जीविका और लाखों की साल में आमदनी उसमें है। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी; अनुभव और दूरंदेशी से खाली न होगी और पचीस से नीचेवालों की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताज़गी रहती है कि जिसकी मिठास उससे दस गुना अधिक चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा जिसमें दूसरे फ़रीक के होने की बहुत ही आवश्यकता है। बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को सर्फ़राज़ करें। पर यह सब तो दुनियाँदारी है जिसमें कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारे उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके यहाँ गए, पहले तो बिना बुलाए जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन-माफ़िक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिए सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी

मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नए-नए रंग दिखलाया करती है और जो बाह्य प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। इस चमनिस्तान की सैर क्या कम दिलबहलाव है ? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी पहुँच सकता है ? इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त का एकाग्र करना है जिसका साधन एक दो दिन का काम नहीं वरन् साल दो साल के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ा भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानो अति भाग्य है। एक वाक्शक्ति-मात्र के दमन से न जानिए कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा जो कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है उसे यदि हमने दबाकर अपने काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े-बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत, अपने वश कर डाला। इसलिए अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधन का मूल है, शांति का परम पूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

प्रश्न और अभ्यास

१. बातचीत की कला के क्या लक्षण हैं ? सुहृद-गोष्ठी में बातचीत किस प्रकार की होनी चाहिए ?
२. मन के साथ बातचीत करने से लेखक का क्या तात्पर्य है ? '**भीतरी मनोवृत्ति**' को लेखक ने (१) आईना और (२) चमनिस्तान क्यों कहा है ?
३. "**बातचीत में वक्ता को······किया गया**" वाक्य में प्राचीन प्रयोगों की ओर संकेत कीजिए और उनके आधुनिक रूप लिखिए।
४. नीचे लिखे शब्दों का प्रयोग कीजिए:
अविकल, यावत्, साक्षात्, प्रकरण।
५. (क) निबंध को पढ़कर ऐसे स्थलों का निर्देश कीजिए जहाँ लेखक ने (१) हास्य की सामग्री प्रस्तुत की है, (२) शब्दों द्वारा चित्र अंकित किए हैं और (३) गंभीरतापूर्वक विषय का प्रतिपादन किया है।
(ख) इनके आधार पर बालकृष्ण भट्ट की शैली की कुछ विशेषताएँ बताएँ।

६. निम्नांकित अवतरणों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

(क) सुहृदगोष्ठी में पांडित्य का········नहीं होना चाहिए। सरसता भंग करनेवाले········को बचाते हुए संलाप का क्रम चलना चाहिए।

(ख) हमारा मन एक प्रकार का दर्पण है, जिसमें बाह्य जगत के······ चाहे जब देखे जा सकते हैं। मन एक ऐसा उद्यान है जिसमें विविध प्रकार के········रूपी बेल-बूटे खिले रहते हैं।

श्यामसुंदरदास

बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म वाराणसी (उत्तर प्रदेश) में सन् १८७५ ई० में हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १९४५ ई० में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी०ए० की उपाधि प्राप्त कर इन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल, वाराणसी में अंग्रेजी के अध्यापक-रूप में कार्य प्रारंभ किया। यद्यपि ये अंग्रेजी भाषा के कुशल अध्यापक थे, फिर भी इनकी रुचि प्रारंभ से ही हिन्दी-भाषा और साहित्य-सेवा की ओर थी। इन्होंने अनुभव किया कि हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की अत्यंत आवश्यकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इन्होंने कुछ हिन्दी-प्रेमी मित्रों के सहयोग से सन् १८९३ ई० में 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना की। जब हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग खुला तो महामना मालवीय जी ने उसकी अध्यक्षता के लिए इन्हें साग्रह निमंत्रित किया। वहाँ इन्होंने विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम का आयोजन किया और जीवन-भर हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के विकास एवं प्रसार में संलग्न रहे।

बाबू जी के ग्रंथों में **'भाषाविज्ञान'**, **'साहित्यालोचन'**, **'हिन्दी-भाषा और साहित्य'**, **'रूपक रहस्य'**, **'भाषा रहस्य'**, **'गोस्वामी तुलसीदास'** विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों का महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि आज तक उच्चतम कक्षाओं के पाठ्यक्रम में इनका स्थान है। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का संपादन भी किया। हिन्दी-भाषा में अनुसंधान-कार्य का श्रीगणेश भी इन्हीं के द्वारा हुआ। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित **'हिन्दी शब्द-सागर'** का संपादन इन्हीं के निर्देश में हुआ।

श्यामसुंदरदास जी की भाषा पुष्ट एवं प्रांजल है और उसका झुकाव तत्सम शब्दों की ओर है। शैली में दुरूहता नहीं मिलती; सर्वत्र एक स्वच्छ वाग्धारा प्रवाहित रहती है। विषय का सम्यक् प्रतिपादन ही लेखक का मुख्य ध्येय रहता है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक न भारतीय साहित्य के मूल में विद्यमान समन्वय की भावना पर विचार व्यक्त किए हैं। समन्वय का तात्पर्य है विरोधी एवं विपरीत भावों का समीकरण। भारतीयों का ध्येय जीवन का आदर्श रूप उपस्थित करना रहा है। हमारा दर्शन भी समन्वयवादी है; उसी का प्रभाव हमारे साहित्य और कला पर पड़ा है।

श्यामसुंदरदास

हमारे साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसीके बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय प्रसिद्ध हैं तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं; पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते हैं। यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

'भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है,
विनती सुनि सानंद हेरि हँसी करुनावारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत विजई है,
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत-सेन हारत जितई है ।।

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत आनंद की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिन्दी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था; परंतु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी-कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है; परंतु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़ कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान की मूर्ति उस समय की है, जब वे छह महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थि-पंजर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उनके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन शास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब

हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय-वाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्म-पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भाव तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गंभीर ऋचाओं तक से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परंतु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई; परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें

उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परंतु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं; एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की गई हिन्दी की शृंगारी कविताओं के रूप में। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति के दोहों' की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है, क्योंकि नीरस पदावली में, कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिए हितकर न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश की जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते।

जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंग्लैण्ड तथा आयरलैण्ड-जैसे जलावृत्त द्वीप हैं तो चीन-जैसा विस्तृत भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से जो संबंध होता है उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़-से लंबे-लंबे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता की कल्पना कर लेते हैं, परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंत-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुंदर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौन्दर्यज्ञान उच्च-कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि; अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता; अतः कविगण बुद्धि-वाद के चक्कर में न पड़कर, व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-संबंधी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचार-धारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इसके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं; परंतु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में उत्तम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति

अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अंग्रेज़ी में इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है। केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीत-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षरमात्रिक अथवा लघुमात्रिक आदि छंद-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती; क्योंकि ये सब बातें थोड़े-बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. समन्वयवाद का आशय स्पष्ट कीजिए।

२. देश की प्राकृतिक रमणीयता ने भारतीय साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है?

३. इस पाठ के आधार पर भारतीय साहित्य की विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।

४. निम्नलिखित शब्दों का वाक्यों में प्रयोग कीजिए:
संभाव्य, अक्षुण्ण, प्रत्युत, अवसान, कुंठित, अवहेलना ।

५. अधोलिखित शब्दों का संधि-विच्छेद कीजिए:
उपर्युक्त, तदनुसार, मनोवृत्ति, अत्यधिक, तल्लीनता ।

६. नीचे कुछ विशेषण शब्द **'जन्य'**, **'मूलक'**, **'गत'** आदि लगाकर बनाए गए हैं। प्रत्येक प्रकार के दो-दो उदाहरण और दीजिए:
शरीरजन्य, वासनामूलक, देशगत, निसर्गसिद्ध, उत्तरकालीन, भावमग्न, अंधकारमय, समीपवर्त्ती ।

७. निम्नांकित अवतरण की स्पष्ट व्याख्या कीजिए:
"साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है ।"

पद्मसिंह शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा का जन्म जिला बिजनौर (उत्तर प्रदेश) में सन् १८७६ ई० में हुआ था। सन् १९३२ ई० में इनके गाँव नायक नगला में प्लेग की बीमारी फैली और वहीं जनता की सेवा करते हुए इनकी मृत्यु हुई। संस्कृत भाषा का इन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया था। उर्दू, फ़ारसी, बंगला और मराठी भाषाओं के भी ये अच्छे जानकार थे। इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी तथा महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापनकार्य किया। ये स्वभाव से बड़े ही विनोदी, हँसमुख तथा भावुक थे।

'बिहारी-सतसई की भूमिका' और **'बिहारी-सतसई संजीवन-भाष्य'** इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। **'संजीवन-भाष्य'** पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने **मंगलाप्रसाद पुरस्कार** प्रदान कर इनका सम्मान किया था। शर्मा जी के कुछ निबंध **'पद्म पराग'** (भाग १) नामक संग्रह में संकलित हैं। इनकी **'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी'** नामक पुस्तक से भाषा-समस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

द्विवेदी-युग के गद्य-लेखकों और समालोचकों में शर्मा जी का विशेष स्थान है। प्रतिपाद्य विषय को शब्दों द्वारा मूर्त तथा सजीव रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता इनके निबंधों की प्रमुख विशेषता है। आलोचनात्मक निबंधों में इनकी भाषा चटकीली तथा व्यंग्यात्मक है। संस्मरणात्मक लेखों में शैली सजीव, सरस तथा भावावेशमयी रहती है।

इस निबंध में शर्मा जी ने सत्यनारायण कविरत्न से अपने प्रथम साक्षात्कार का वर्णन तथा उनके सरल व्यक्तित्व का भावपूर्ण शब्दों में अंकन किया है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है। सत्यनारायण कविरत्न की बाह्य वेश-भूषा, आकृति और मुद्रा के साथ उनकी अंतःप्रकृति के भी मार्मिक चित्रण में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है।

पद्मसिंह शर्मा

श्री सत्यनारायण कविरत्न

श्री सत्यनारायण सरलता की, विनय की मूर्ति, स्नेह की प्रतिमा और सज्जनता के अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अब तक याद है। सन् १९१५ ई० में, उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पंडित मुकुंदराम जी का तार पाकर वह ज्वालापुर आए थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालय में था। वह स्टेशन से सीधे (पं० मुकुंदराम के साथ) पहले मेरे पास पहुँचे। मैं पढ़ा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आने की सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्ति को विनीत भाव से सामने उपस्थित देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृंदावनी बगलबंदी, घुटनों तक धोती, गले में अँगोछा। यह वेशभूषा थी। आँखों से स्नेह बरस रहा था। भीतर की स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहट के रूप में चेहरे पर झलक रही थी। मैं समझ गया कि हो-न-हो यह सत्यनारायण जी हैं; पर फिर भी परिचय-प्रदान के लिए पं० मुकुंदरामजी को इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरंत अपना यह मौखिक 'विज़िटिंग कार्ड' हृदयहारी टोन में स्वयं पढ़ सुनाया—

नवल-नागरी-नेह-रत, रसिकन ढिंग बिसराम।
आयौ हौं तुव दरस कौं, सत्यनारायन नाम॥

यह पहली मुलाक़ात थी। इस मौक़े पर शायद दो दिन सत्यनारायणजी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुख से कविता-पाठ सुनने का अवसर भी पहली बार तभी मिला था।

सत्यनारायणजी से मेरी अंतिम भेंट दिसंबर १९१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालतीमाधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगों को—मुझे और साहित्याचार्य श्री पंडित शालग्रामजी शास्त्री को—सुनाने के लिए ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवाद की पुनरालोचना करके छपाने से पहले एक बार फिर दिखाने को कह

गए थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन-काल में दो बार मैं धाँधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक बार की यात्रा में श्री शालग्रामजी साहित्याचार्य भी साथ थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी दो-तीन बार मैं धाँधूपुर गया हूँ और सत्यनारायण की याद में जी खोलकर रो आया हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार ब्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छह महीने ब्रज में घूमें, ब्रज की रज में लोटें, गाँवों में रहकर जीवित ब्रज-भाषा का अध्ययन करें, ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रंथों की खोज करें, ब्रज-भाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोश तैयार करें। ऐसी बहुत-सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं और हमारे जी में रह गईं। अफ़सोस !

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।'

सत्यनारायणजी के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुनकर बे-सुध से हो जाते थे, वह स्वयं भी पढ़ते समय भावावेश की-सी मस्ती में झूमने लगते थे। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली और सत्यनारायणजी का कोकिल कंठ, सोने-सुगंध का योग और मणि-कांचन का संयोग था। पाठ्य-मान—गीयमान—विषय का आँखों के सामने चित्र-सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अंकित हो जाता था। सुनते-सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य, उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उच्चारण की विस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गंभीरता, गले की लोच में सोज़ और साज़ तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं मिलता।

सत्यनारायणजी के श्रुति-मधुर स्वर में सचमुच मुरलीमनोहर के वंशीरव के समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुनने वालों पर जादू का-सा असर करती थी। सुनने वाला चाहिए, चाहे जब तक सुने जाए, उन्हें सुनाने में उज्र न था। एक दिन हम लोग उनसे निरंतर ६-७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी न वह थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण स्वाभाविक सादगी के पुतले थे; गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली-भाली सूरत, ग्रामीण वेशभूषा, बोलचाल में

ठेट-ब्रजभाषा, देख-सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोले में इतने अलौकिक गुण छिपे हैं! उनकी सादगी सभा-सोसाइटियों में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार का कारण बन जाती थी। उनकी जीवनी में ऐसे कई प्रसंगों का उल्लेख है। इस प्रकार की यह एक घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी :

मथुराजी में स्वामी रामतीर्थ जी महाराज आए हुए थे। खबर पाकर सत्यनारायणजी भी दर्शन करने पहुँचे। स्वामीजी का व्याख्यान होने को था; सभा में श्रोताओं की भीड़ थी; व्याख्यान का नांदी-पाठ—मंगलाचरण—हो रहा था, अर्थात् कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्यःकवि लोग अपनी-अपनी ताज़ी तुकबंदियाँ सुना रहे थे। सत्यनारायणजी के जी में भी उमंग उठी; यह भी कुछ सुनाने को उठे। व्याख्यान-वेदी की ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबंध-कर्ताओं ने इस 'कोरे सत्य, ग्राम के वासी' को रास्ते में ही रोक दिया! दैवयोग से उपस्थित सज्जनों में कोई इन्हें पहचानते थे। उन्होंने कह-सुनकर किसी तरह पाँच मिनट का समय दिला दिया। वेदी के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण-भक्ति के दो सवैये इन्होंने अपने ख़ास ढंग में इस प्रकार पढ़े कि सभा में सन्नाटा छा गया; भावुक-शिरोमणि श्री स्वामी रामतीर्थजी सुनकर मस्ती में झूमने लगे। पाँच मिनट का नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे तब स्वामीजी ने आग्रह और प्रेम से कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गए और स्वामी जी अभी और, अभी और, कहते गए; व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुनने में मग्न हो गए। पाँच मिनट की जगह पूरे पौन घंटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुरा की भूमि, ब्रजभाषा में श्रीकृष्ण-चरित की कविता, भावुक भक्त-शिरोमणि स्वामी रामतीर्थ का दरबार, इन्हें और क्या चाहिए था। सुंदर सुयोग पाकर रस-वृष्टि से सबको सराबोर कर दिया; यमुना-तट पर ब्रजभाषा-सुरसरि की हिलोर में सबको डुबो दिया। कहा करते थे, वैसा आनद कविता-पाठ में फिर कभी नहीं आया! हिन्दी-साहित्य की निःस्वार्थ सेवा और ब्रजभाषा की कविता का प्रचार, लोकरुचि को उसकी ओर आकृष्ट करना, ब्रज-कोकिल सत्यनारायण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था।

स्वामी रामतीर्थजी के वे इसलिए भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें 'ब्रजभाषा-भक्त, भक्ति-रस रुचिर रसायन' समझते थे। अपने समय के महापुरुषों में सबसे अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थजी ही में थी। स्वामीजी भी सत्यनारायणजी के गुणों पर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जाने के लिए बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायणजी अपने गुरु की बीमारी के कारण न जा सके, और इसका सत्यनारायणजी को सदा पश्चात्ताप रहा। सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा, हिन्दी के सच्चे उपासक थे, और अपनी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषा से प्राचीन भारतीयता के पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अंग्रेज़ी पढ़कर और अंग्रेज़ी के विद्वानों की संगति में रात-दिन रहकर भी वह अंग्रेज़ी से बचते थे। अनावश्यक अंग्रेज़ी बोलने का हमारे नवशिक्षितों को कुछ दुर्व्यसन-सा हो गया है। इनकी हिन्दी में भी तीन-तिहाई अंग्रेज़ी का पुट रहता है। सत्यनारायण इस व्यापक दुर्व्यसन का एक अपवाद थे।

सत्यनारायणजी ने समय अनुकूल न पाया। यह तो दलबंदी का ज़माना है, विज्ञापनबाज़ी का युग है, सब प्रकार की सफलता 'प्रोपेगंडा' पर निर्भर है। जिसे इन साधनों का सहारा मिला, वह गुब्बारा बनकर ख्याति के आकाश में चमक गया। ग़रीब सत्यनारायण को कोई भी ऐसा साधन उपलब्ध न था। सत्यनारायण के सद्‌गुणों का पूर्ण परिचय अभी संसार को प्राप्त नहीं हुआ था। नंदन-कानन का यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोंकों ने झुलस दिया। ब्रज-कोकिल ने पंचम में आलाप भरना प्रारंभ ही किया था कि निर्दय काल-व्याध ने गला दबा दिया! 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया। संसार में समय-समय पर और भी ऐसी दुर्घटनाएँ हुई हैं पर सत्यनारायण का इस प्रकार आकस्मिक वियोग भारत-भारती हिन्दी-भाषा का परम दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

सत्यनारायण की जीवनी में उनके सार्वजनिक जीवन पर, उनकी साहित्य-सेवा और व्यक्तित्व पर, अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है, और खूब किया है, कोई बात

बाकी नहीं छोड़ी। सत्यनारायण की जीवनी करुण-रस का एक दुःखांत महानाटक है। जिस प्रतिकूल परिस्थिति में उन्हें जीवन बिताना पड़ा और फिर जिस प्रकार उन्हें 'अनचाहत को संग' के हाथों तंग आकर समय से पहले ही संसार से कूच करने के लिए विवश होना पड़ा, उसका हाल पढ़-सुनकर किसी भी सहृदय को उनकी भाग्य-हीनता पर दुःख और समवेदना हो सकती है।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक ने सत्यनारायणजी को '**स्नेह की प्रतिमा**' कहा है। इस पाठ से सत्यनारायणजी के कुछ अन्य विशेषण चुनिए और उनके आधार पर उनकी कुछ विशेषताएँ बताइए।

२. सत्यनारायणजी '**ब्रज-कोकिल**' क्यों कहलाते थे ?

३. इस पाठ के आधार पर पद्मसिंह शर्मा की गद्य-शैली पर प्रकाश डालिए।

४. अधोलिखित शब्दों का, प्रयोग के द्वारा, अर्थ स्पष्ट कीजिए:—
साक्षात्कार, प्रामाणिक, भावावेश, स्निग्ध, अपवाद।

५. स्वरचित वाक्यों के द्वारा निम्नलिखित प्रयोगों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:—
मणिकांचन संयोग, गुदड़ी के लाल, नांदीपाठ।

६. नीचे दिए उद्धरणों का भावार्थ स्पष्ट कीजिए :

(क) '**सत्यनारायण की जीवनी करुण-रस का एक दुःखांत महानाटक है।**'

(ख) '**नंदन-कानन का यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोंकों ने झुलस दिया। ब्रज-कोकिल ने पंचम में आलाप भरना प्रारंभ ही किया था कि निर्दय काल-व्याध ने गला दबा दिया। 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया।**'

प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद का जन्म सन् १८८० ई० में वाराणसी ज़िले के लमही ग्राम में हुआ था। ये साहित्य में प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध हैं पर इनका वास्तविक नाम धनपतराय था। शिक्षा-काल में इन्होंने अंग्रेज़ी के साथ उर्दू का ही अध्ययन किया था। प्रारंभ में ये कुछ वर्षों तक स्कूल में अध्यापक रहे; और फिर शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। कुछ दिनों बाद असहयोग आंदोलन से सहानुभूति रखने के कारण इन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और आजीवन साहित्य-सेवा करते रहे। इनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० में हुई।

प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास **'सेवासदन'**, **'निर्मला'**, **'रंगभूमि'**, **'कर्मभूमि'**, **'ग़बन'**, और **'गोदान'** हैं। इनकी कहानियों का विशाल संग्रह अनेक भागों में **'मानसरोवर'** नाम से प्रकाशित है, जिसमें लगभग तीन सौ कहानियाँ संकलित हैं। **'कर्बला'**, **'संग्राम'** और **'प्रेम की वेदी'** इनके नाटक हैं। साहित्यिक निबंध **'कुछ विचार'** नाम से प्रकाशित हुए हैं।

प्रेमचंद का साहित्य समाजसुधार और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित है। वह अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें किसानों की दशा, सामाजिक बंधनों में तड़पती नारियों की वेदना और वर्णव्यवस्था की कठोरता के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। सामयिकता के साथ ही इनके साहित्य में ऐसे तत्त्व भी विद्यमान हैं जो उसे शाश्वत और स्थायी बनाते हैं। प्रेमचंद अपने युग के उन सिद्ध कलाकारों में थे जिन्होंने हिन्दी को नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाया।

इनकी भाषा में उर्दू की स्वच्छता, गति और मुहावरों के प्रयोग के साथ संस्कृत की भावमयी स्निग्ध पदावली का सुंदर संयोग है। कथा-साहित्य के लिए यह भाषा आदर्श है।

'जीवन में साहित्य का स्थान' प्रेमचंद का प्रसिद्ध साहित्यिक निबंध है जिसमें इन्होंने साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन का विवेचन किया है। इनका कहना है कि साहित्य मानव के सोए हुए देवत्व को जगाता है। इनका साहित्य विविध रसों की सृष्टि करता हुआ जीवन के चिरंतन आनंद और शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है।

प्रेमचंद

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुंबद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनंत है, अबोध्य है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनद है। मनुष्य जीवन-पर्यन्त आनंद ही की खोज में लगा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लंबे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनद, इस आनंद से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है। उसी आनंद को दर्साना, वही आनद उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुंदर से जो आनंद प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, बीभत्स में भी कोई आनंद है? हाँ, है। अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। बीभत्स में सुंदर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना बीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, बीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुंदर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनंद को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर-एक रस में सुंदर खोजता

है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुंदर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडंबर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या संबंध? अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृंगार-विहीन और असुंदर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत से संबंध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुंदर का समावेश हो।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संबंध है, दूसरा प्रयोजन का संबंध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनंद का संबंध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं। हिम से ढके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचंद्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त

जगत के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान पुरुष भी हो गए हैं, जो जड़ जगत से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में ही ये सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरांत कुछ और भी होता है। उसमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वे वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोकटोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जाएँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उनपर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। ज़रूरत यह होती है कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाए कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शांत हो जाएँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से संभव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल

है——राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुंदर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडंबर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या संबंध? अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो श्रृंगार-विहीन और असुंदर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत से संबंध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्‌भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुंदर का समावेश हो।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संबंध है, दूसरा प्रयोजन का संबंध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनंद का संबंध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं। हिम से ढके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचंद्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त

जगत के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान पुरुष भी हो गए हैं, जो जड़ जगत से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में ही ये सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरांत कुछ और भी होता है। उसमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वे वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोकटोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जाएँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उनपर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। ज़रूरत यह होती है कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाए कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शांत हो जाएँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से संभव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल

होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है। यही कारण है कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जाएगा। क्या उन धर्म-प्रवर्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया ? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना संदेशा पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते ?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं, लेकिन साहित्य जगत में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचंद्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत प्रत्यक्ष जगत जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज़्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बंधु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को

जानते हैं, उनका मन हमारी नज़रों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अंतःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें ! सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी 'हारमनी' प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देशबंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनंत तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रंथ अभी तक नए हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वे अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं, बुरे ही रहेंगे चाहे

कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुंदर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है।

नेपोलियन के जीवन की यह घटना प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज़ मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाए और उससे पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आए। मनुष्य का कोमल भाग स्पंदित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैण्ड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव-तुल्य है। ज़माने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पंदित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाए हैं। विश्व की आत्मा के अंतर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान संपत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वे आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर एक धन्वंतरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम ज़िम्मेदारी का नहीं है। क़लम हाथ में लेते ही हमारे सिर पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार

करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फ़ौजदार बन जाते हैं। तुरंत आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थ-वाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बंधनों को तोड़ने की ज़रूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मज़ेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफ़ी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज़्यादा ज़रूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलास के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

प्रश्न और अभ्यास

१. जीवन और साहित्य का पारस्परिक संबंध स्पष्ट कीजिए।
२. धर्मप्रवर्तकों ने कहानियों का आश्रय क्यों लिया है ?
३. सद्‌वृत्तियों के जगाने में साहित्य किस प्रकार सहायक हो सकता है ?
४. सच्चे साहित्यकार के क्या लक्षण हैं ?
५. रूप-कुरूप सब में साहित्य किस प्रकार सौन्दर्य की खोज करता है ?
६. निम्नलिखित शब्दों का अंतर स्पष्ट कीजिए :
   (क) अनुसंधान और अन्वेषण।
   (ख) घृणा और ग्लानि।
७. प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल की भाषा-शैली का अंतर कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
८. निम्नलिखित उद्धरणों का भाव स्पष्ट कीजिए :
   (क) साहित्य का आधार जीवन है।
   (ख) साहित्य वह जादू की लकड़ी है जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़ पौधों में भी विश्व की आत्मा के दर्शन करा देती है।
   (ग) साहित्यकार स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।

पूर्णसिंह

अध्यापक पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८१ ई० में सलहड गाँव, जिला एबटाबाद (अब पश्चिमी पाकिस्तान) में हुआ था। लाहौर विश्वविद्यालय से इंटरमीडिएट परीक्षा पास करने के पश्चात् ये रसायनशास्त्र के अध्ययन के लिए जापान गए। वहीं स्वामी रामतीर्थ के संपर्क में आए और इनकी रुचि अध्यात्म की ओर हो गई। भारतवर्ष आने पर देहरादून में वन-विभाग में इनकी नियुक्ति हुई पर कुछ परि-स्थितियों के कारण इन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी और जीवन के अंतिम दिन धनाभाव में बिताने पड़े। सन् १९३१ ई० में देहरादून में इनकी मृत्यु हो गई।

सरदार पूर्णसिंह सच्चे आस्तिक, मानवता-प्रेमी तथा उदार व्यक्ति थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ अंग्रेज़ी और पंजाबी में हैं। हिन्दी में इनके केवल छह निबंध उपलब्ध हैं जिनका भाव, भाषा और शैली के कारण हिन्दी-निबंध-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। **'सरदार पूर्णसिंह के निबंध'** नामक पुस्तक में ये सभी निबंध संकलित हैं।

पूर्णसिंह की शैली आवेशमयी है। इनकी भावुक प्रकृति का प्रभाव भाषा पर स्पष्ट दिखाई देता है। विषय-प्रतिपादन के लिए ये दृष्टांत देते चलते हैं। विषय के अनुसार इनके वाक्य कहीं छोटे तथा सरल हैं और कहीं लंबे और जटिल। इन्होंने तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया है। प्रवाह इनके निबंधों का विशेष गुण है। लेखक की मस्ती में रँगकर भाषा अत्यंत आकर्षक हो गई है तथा उसकी निष्ठा और आस्था से उसमें विशेष शक्ति आ गई है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने गड़रियों और किसानों के स्वाभाविक सरल जीवन की आकर्षक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं तथा श्रमिकों के प्रति उदार मानवीय दृष्टि रखने पर बल दिया है : मज़दूरी देकर ही हमारा कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता प्रत्युत मज़दूर के प्रति कृतज्ञता का भाव भी हमें अपने स्नेह-दान से व्यक्त करना चाहिए।

पूर्णसिंह

मजदूरी और प्रेम

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्राय: स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण ज़मीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ-सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मंदिर, मसजिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रात:काल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रात:, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और

अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुज़ार देना क्या स्वाध्याय से कम है ? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं, गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों के दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी ऐसे फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज़, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं। और क्यों न सुफेद हों ? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बर्फ़ानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका

बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

इस दिव्य परिवार को कुटी की ज़रूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं। इनका जीवन बर्फ़ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सुफ़ेद, इनकी बर्फ़, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। ज़रा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फ़ुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुज़र गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जाएँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जाएँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। प्रकृति की मंद-मंद

हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिए के परिवार की प्रेम-मज़दूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मज़दूरी।" वाह, क्या दिल्लगी है ! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीज़ें उसकी तो थी ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मज़दूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज़ ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज़ के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज़ याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज़ भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफेल आदि के चित्रित चित्रों से उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज़ में कहाँ ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्दगिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ़ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए

अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज़ में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को ज़िन्दा करने की शक्ति आ जाती है।

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है, यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के! जिन देशों में हाथ और मुँह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मज़दूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने ज़माने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नक़ल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ

तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मज़दूरों के हृदय से निकलेगा। उन मज़दूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेज़बान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मल्हार का काम देगा।

मज़दूरी और फ़कीरी का महत्त्व थोड़ा नहीं। मज़दूरी और फ़कीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मज़दूरी किए फ़कीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फ़कीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीज़ें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही उम्र-भर बासी बुद्धि और बासी फ़कीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का ? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फ़कीरी ही बासी। ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर ज़रा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरोताज़ा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है।

मज़दूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नक़दी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व

है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछनेवाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों से माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े-लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मज़दूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामनासहित होकर भी मज़दूरी निष्काम होती है; क्योंकि मज़दूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है, परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थरूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है, जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मज़दूरी और फ़कीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है। मज़दूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑफ आर्क की फ़कीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफ़ा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान श्रीकृष्ण का

मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना——सच्ची फ़कीरी का अनमोल भूषण है।

मज़दूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मज़दूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हज़ारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज़, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीज़ें मशीन से बनी हुई चीज़ों को मात करती हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है, हम जगत को जीत लें। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्म-दात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत के तीस* करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मज़दूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप-ही-आप आ गिरे।

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़-कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टाल्स्टाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है। वहाँ के गंभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व-ज्ञान हुआ है।

---

*उस समय अविभाजित भारत की जनसंख्या तीस करोड़ थी। देश के विभाजन के पश्चात् अब केवल भारत की जनसंख्या चवालीस करोड़ है। ——सं०

चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनाएँ। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आएँ और सब लोग उसी में मज़दूरी का प्रेमामृत पान करें।

प्रश्न और अभ्यास

१. किसान के कार्य को लेखक ने हवन क्यों कहा है ?

२. **'केवल मज़दूरी देकर ही मज़दूर का ऋण नहीं चुकाया जा सकता।'** इस कथन की विवेचना कीजिए।

३. लेखक ने हाथ से बनी वस्तुओं को यंत्रों से बनी वस्तुओं से क्यों अच्छा बताया है ?

४. **'मजदूरी और प्रेम'** किस प्रकार का निबंध है ? उसकी शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

५. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताइए तथा इनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए:
निवारण, अचिन्तनीय, संकल्प, समष्टि, व्यष्टि।

६. नीचे दिए शब्दों में संधि-विच्छेद कीजिए:
नीरोगता, दर्शनार्थ, स्वाध्याय, पुष्पोद्यान, निर्जीव, पुनरावृत्ति, अन्योन्याश्रय।

७. अधोलिखित उद्धरणों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:

(क) **किसान प्रकृति के जवान साधु हैं।**

(ख) **कामनासहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है।**

(ग) **मजदूरी करना जीवन-यात्रा का आध्यात्मिक नियम है।**

(घ) **मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मा-रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नक़दी बयाना है।**

—

रामचंद्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म बस्ती जिले (उत्तर प्रदेश) के अगौना ग्राम में सन् १८८४ ई० में हुआ था और इनकी मृत्यु सन् १९४० ई० में वाराणसी में हुई। इनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू और अंग्रेज़ी में हुई थी। विधिवत् शिक्षा ये केवल इंटरमीडिएट तक कर सके। प्रारंभ में कुछ वर्षों तक इन्होंने मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में अध्यापन-कार्य किया। बाद में बाबू श्यामसुंदरदास ने इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर हिन्दी-शब्दसागर के संपादन में इन्हें अपना सहयोगी बनाया। फिर ये हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए और बाबू श्यामसुंदरदास के अवकाश ग्रहण करने पर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गए।

स्वाध्याय द्वारा इन्होंने संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगला और हिन्दी के प्राचीन साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। हिन्दी-साहित्य में इनका प्रवेश कवि और निबंधकार के रूप में हुआ और इन्होंने बंगला तथा अंग्रेज़ी से कुछ सफल अनुवाद भी किए। आगे चलकर आलोचना इनका मुख्य विषय बन गई। इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं:

(१) **तुलसीदास,** (२) **जायसी ग्रंथावली की भूमिका,** (३) **सूरदास,** (४) **चिन्तामणि** (२ भाग), (५) **हिन्दी साहित्य का इतिहास,** (६) **रसमीमांसा**।

शुक्ल जी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक आलोचक हैं। इनके '**तुलसीदास**' ग्रंथ से हिन्दी में प्रौढ़ आलोचना-पद्धति का सूत्रपात हुआ। शुक्ल जी ने जहाँ एक ओर आलोचना के शास्त्रीय पक्ष का विशद विवेचन किया वहाँ दूसरी ओर तुलसी, जायसी तथा सूर की मार्मिक आलोचनाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना का भी मार्ग प्रशस्त किया।

निबंध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का स्थान अप्रतिम है। '**चिन्तामणि**' में संगृहीत मनोवैज्ञानिक निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन निबंधों में गंभीर चिन्तन, सूक्ष्म निरीक्षण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुंदर संयोग है। इनकी भाषा प्रांजल और सूत्रात्मक है। गंभीर प्रतिपादन के समय भी ये हास्य का पुट देते चलते हैं।

प्रस्तुत निबंध में शुक्ल जी ने विभिन्न परिस्थितियों के बीच उत्साह मनोभाव का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है और बताया है कि उत्साह के अंतर्गत साहस के साथ-साथ उत्कंठापूर्ण आनंद का होना भी आवश्यक है। इस निबंध में वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण शैली में विषय प्रस्तुत किया गया है।

रामचंद्र शुक्ल

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनंद-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुःखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग से अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप, बिना हाथ-पैर हिलाए, घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जाएगा जिसके कारण उसे इतने

प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जाएगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर, बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत-से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जाएँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जाएगा। उसके लिए मानग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता

और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी बेहया ।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उनकी ओर उनका ध्यान लेश-मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस, भाव की दृष्टि से, कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं ।

समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं ।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न,

डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ़ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परता-पूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा-बहुत आराम, विश्राम, सुभीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुप-चाप ज्यों के त्यों आनंदित होकर बैठे रह जाएँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस-नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं; शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस ज़माने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जाएगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं; और काफ़ी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगें उठती हैं वे ही हमारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थिर रहता है, वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं--समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संबंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है--

१. कर्म-भावना से उत्पन्न,
२. फल-भावना से उत्पन्न, और
३. आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मंद पड़ती है--उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने

पर खिन्न और दुःखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जाएगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह अभावमय और आनंदशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जाएगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस

स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जाएगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जाएँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाए या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है; चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाए। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज़ का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफ़ी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंदपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी, क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जीवन बीता, वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार, उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह

वैद्यों के यहाँ से जब तक ओषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाएँ; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख

की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत-से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. भय और उत्साह तथा साहस और उत्साह में लेखक ने क्या अंतर बताया है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

२. किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है ?

३. उत्साह से कर्म में तत्पर होने वाले का ध्यान, कर्म और फल दोनों में से किस पर अधिक रहता है ? समझा कर लिखिए।

४. "शुक्ल जी के निबंधों में विचार-गांभीर्य के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य का भी पुट पाया जाता है।"—प्रस्तुत निबंध को दृष्टि में रखकर यह कथन कहाँ तक ठीक है—सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

५. निम्नलिखित शब्दों के विलोम दीजिए:
आसक्ति, प्रवृत्ति, उत्कर्ष, निश्चेष्ट, निर्जीव।

६. निम्नलिखित शब्दों में समास बताइए:
कर्मवीर, कर्मसौन्दर्य, उत्कंठापूर्ण, प्रसन्नमुख ।

७. नीचे तीन शब्द दिए गए हैं जो क्रमशः '**मात्र**', '**पूर्वक**' और '**गत**' के योग से बने हैं। इनके योग से कुछ और शब्द बनाइए:
इच्छामात्र, आनंदपूर्वक, अंतर्गत ।

वृंदावनलाल वर्मा

डा० वृंदावनलाल वर्मा का जन्म सन् १८८९ ई० में झाँसी ज़िले (उत्तर प्रदेश) के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ था। बी० ए०, एल-एल० बी० करने के बाद ये झाँसी में वकालत करने लगे। वर्मा जी आखेट-प्रेमी, पर्यटक, ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता तथा साहित्यकार हैं। बुंदेलखंड का मध्यकालीन इतिहास इनके कथा-साहित्य का प्रमुख आधार है।

वर्मा जी ने अनेक उपन्यास, कहानियाँ और नाटक लिखे हैं। **'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई'**, **'मृगनयनी'**, **'माधवजी सिंधिया'**, **'विराटा की पद्मिनी'**, **'गढ़कुंडार'** आदि इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। **'हंसमयूर'**, **'पूर्व की ओर'**, **'ललितविक्रम'**, **'राखी की लाज'** आदि इनके नाटक हैं। **'दबे पाँव'**, **'१८५७ के समरवीर'**, **'ऐतिहासिक कहानियाँ'**, **'अँगूठी का दान'**, **'रश्मि-समूह'** आदि कहानी-संग्रह हैं। इनकी अनेक कृतियाँ हिन्दुस्तानी एकेडमी, भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, साहित्यकार-संसद् आदि संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। इनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट० (सम्मानार्थ) की उपाधि से विभूषित किया है।

वर्मा जी के उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का सुंदर योग है। नाटकों में भी इन्होंने इतिहास को आधार बनाया है।

वर्मा जी कहानी कहने की कला में बड़े सिद्धहस्त हैं। घटना-वैचित्र्य के साथ प्रकृति-चित्रण का भी सम्यक् मेल होने से उनकी कथा बहुत ही सजीव और मर्मस्पर्शी हो उठती है। मानव-प्रकृति का भी उन्हें सूक्ष्म ज्ञान है और इसलिए चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उनका कथा-साहित्य उच्च कोटि का है। अतीत के ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अपनी कल्पना एवं सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के सहारे वे ऐसा मनोरम एवं सजीव चित्र खड़ा कर देते हैं कि पाठक उसमें पूर्णरूप से रम जाता है। निस्संदेह वर्मा जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं।

वर्मा जी की भाषा सरल एवं प्रवाहमयी है और कथा-साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। बुंदेली के शब्दों का भी इन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है।

प्रस्तुत पाठ **'दबे पाँव'** नामक पुस्तक से उद्धृत है। इसमें शिकारी जीवन का एक मनोरंजक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस वर्णन से पाठक को घटना-वैचित्र्य के साथ प्रकृति के मनोरम दृश्यों का भी आनंद प्राप्त होता है।
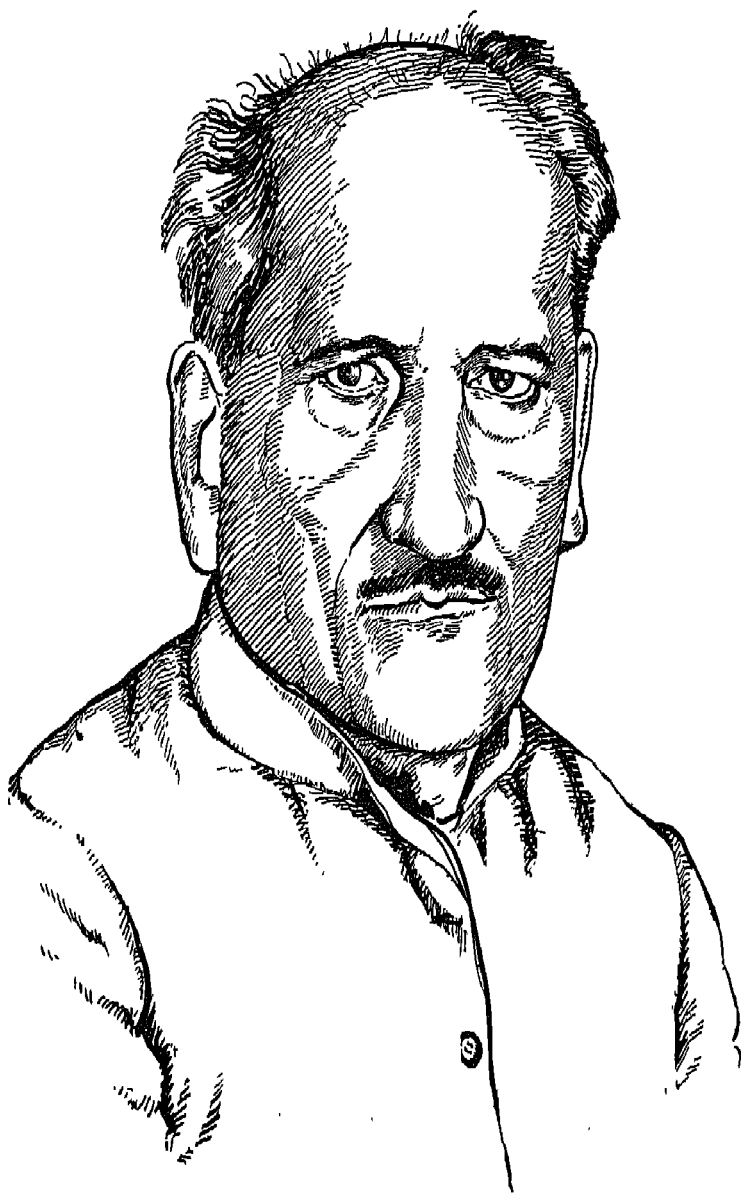
वृंदावनलाल वर्मा

शेर का शिकार

एक बार विन्ध्यखंड के किसी सघन वन का भ्रमण करने के बाद फिर बार-बार भ्रमण की लालसा होती है। इसलिए सन् १९३४ ई० के लगभग मैं कुछ मित्रों के साथ मंडला गया।

मंडला की रेलयात्रा स्वयं एक प्रमोद थी। पहाड़ी में होकर रेल घूमती कतराती गई थी। गहरे-गहरे खड्ड, गर्मियों में भी जल भरे नदी नाले और कौतुकों से भरी हुई नर्मदा। मंडला ज़िले में ही तो कान्हाकिसली का विशाल, किन्तु वर्जित जंगल है। मंडला ज़िले में ही छोटे-से सुंदर नाम और बड़े दर्शन वाला--मोती नाला है। नाम मोती नाला ही है, परंतु इस नाम का जंगल बड़ा और विस्तृत, विहंगम और बीहड़ है। मोती नाला--जंगल में शेर बहुतायत से पाए जाते हैं। मार्ग में जगमंडल नाम का बड़ा वन मिलता है। सरही और सागौन के भीमकाय वृक्ष भरे पड़े हैं। जल-भरे नदी-नालों की कोई कमी नहीं।

जगमंडल नाम के जंगल में ही शेरों की काफ़ी संख्या है। साँभर, चीतल, बाइसन और भैंसे भी मिलते हैं।

एक दिन तो हम लोग टोहटाप में लगे रहे। जिस नाले में निकल जाएँ उसी में शेरों के पद-चिह्न। एक नाले में दोनों किनारों से आड़ी पगडंडियाँ पड़ गई थीं। वहाँ पर रेत में शेरों के इतने निशान मिले कि हम लोग अचरज में डूब गए। झाँसी ज़िले के नालों में जैसे ढोरों के निशान मिलते हैं वैसे शेरों के मिले। कुशल यही रही कि नालों की घास में कोई शेर पड़ा हुआ नहीं मिला।

दूसरे दिन दुपहरी में भटक भटकाकर हम लोग डेरे पर आ गए। साथ में मंडला से आटा ले आए थे, क्योंकि इस ओर गाँवों में दाल-चावल और मिर्च-मसाला तो मिल जाता है, परंतु आटा दुर्लभ है। भोजन शुरू ही किया था कि एक गोंड ने आकर समाचार दिया कि नाहर ने गायरा किया है।

पत्तल छोड़कर हम लोग उठ बैठे। उस समय तीन बजे होंगे। मचान बाँधने का सामान, रस्से इत्यादि, पानी का घड़ा और बिस्तर साथ लिए और चल दिए।

एक नाले में राँझ के नीचे एक बड़ा बैल दबा पड़ा था। उस बैल की कहानी कष्टपूर्ण थी। उस जंगल में रेलवे लाइन पर बिछाए जाने वाले शहतीर—स्लीपर—काटे जा रहे थे और जबलपुर के लिए ढोए जा रहे थे। जबलपुर से एक गाड़ीवाला शहतीरों को ढोने के लिए अपनी गाड़ी लाया। शहतीरों तक नहीं जा पाया था, मार्ग में एक पानीवाला नाला मिला। गाड़ीवाले ने बैल ढील दिए, पुल के नीचे एक चट्टान पर खाना बनाने लगा। बैल ज़रा भटककर डाँग में चले गए। उनमें से एक को शेर ने मार डाला। उसको शेर उठाकर लगभग तीन फर्लांग की दूरी पर ले गया और झांस के नीचे एक छोटे-से नाले में दाब दिया। उस समय उसने बैल को बिलकुल नहीं खाया। सोचा होगा रात आने पर सुभीते में खाएँगे।

बैल को नाले में से निकलवाया। छह आदमी उसको बाहर निकाल सके। लगभग साठ डग पर एक ऊँचा बरगद का पेड़ था। नीचे ज़रा हटकर अचार और तेंदू के छोटे-छोटे गुल्ले थे। इनको साफ़ करवाकर एक पेड़ के ठूँठ को खूँटी का रूप दिया गया। बाँस के खपचे निकालकर उनसे बैल को पेड़ के ठूँठ से जकड़कर बाँध दिया गया।

उस रात चैत की पूर्णिमा थी। दिन में गर्मी रही, परंतु रात का सलोना सुहावनापन तो अनुभव के ही योग्य था। चारों ओर से महक भरे मंद झकोरे आ रहे थे। कहीं से चीतल की कूक और कहीं से साँभर की रेंक सुनाई पड़ रही थी। स्यार भी कभी फेकर जाता था।

हमारा मचान भूमि से लगभग पच्चीस फुट की ऊँचाई पर था। मचान लंबा-चौड़ा था, सीधे डंडों से पुरा हुआ। ऊपर गद्दा और दरी। एक ओर डालों के तिफंसे में जल-भरा घड़ा और कटोरा रखा था। मचान एक ओर से खुला हुआ था और तीन ओर से पत्तों से आच्छादित। उस पर केवल रीछ चढ़कर आ सकता था, शायद तेंदुआ भी,—क्योंकि मैंने तेंदुए को अपनी आँखों पेड़ पर सहजगति से चढ़ते

देखा है,—परंतु शेर चढ़कर नहीं आ सकता था। मचान के सिरहाने की तरफ़ मैं बैठा था, दूसरी ओर मेरे मित्र शर्मा जी। मेरे सामने का भाग ज़्यादा खुला था, शर्मा जी के सामने का कम।

मेरे अन्य मित्र काफ़ी दूर अन्य मचानों पर थे।

आठ बज गए। चाँदनी खूब छिटक आई। मेरे सामने सौ गज़ तक खुला हुआ मैदान था, फिर घनी झाड़ी शुरू हुई थी।

आठ बजे के उपरांत इस खुले हुए मैदान में लगभग अस्सी गज़ की दूरी पर एक सफ़ेद-सफ़ेद-सा ढेर दिखलाई पड़ा। मैंने आँखों को गड़ाया। वह ढेर स्थिर था। सोचा आँखों का भ्रम है। कुछ मिनट बाद वह ढेर हिला और मचान की ओर थोड़ा-सा बढ़ा। विश्वास हो गया कि शेर है और बंदूक की अनी पर आ रहा है। मैंने शर्मा जी को इशारा किया। उन्होंने भी अपने झाँके में होकर देखा। वह लगभग आध घंटे तक, ठिठुरता-ठिठुरता-सा चला। फिर उसने उस नाले पर छलाँग भरी जिसमें वह दिन में मारे हुए बैल को ठूँस आया था। इसके उपरांत वह दृष्टि से लोप हो गया। बाट जोहते-जोहते ग्यारह बज गए। चाँदनी निखर कर छिटक गई थी। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। शर्मा जी ने सिर और आँखों पर हाथ फेर कर नींद की विवशता प्रकट की। मेरे भी सिर में दर्द था। हम दोनों लेट गए। मैंने सोचा, गायरा प्रबल खपचों से बँधा हुआ है, शेर आकर जब बैल को उठाने का उत्कट प्रयत्न करेगा हम लोग सोते ही न पड़े रहेंगे। लेटते ही सो गए, क्योंकि मचान पर किसी विशेष संकट की आशंका न थी।

चाँदनी ठीक ऊपर चढ़कर थोड़ी-सी वक्र हो गई थी। एक बजा था जब मुझको पेड़ के नीचे कुछ आहट मालूम पड़ी। मैं यकायक उठकर नहीं बैठा। मचान पर का ज़रा-सा भी शब्द सुनकर, यदि शेर होगा तो, फिर नहीं आएगा—शायद महीने पंद्रह दिन तक न आए, क्योंकि शेर तेंदुए की तरह ढीठ नहीं होता। मैं बहुत धीरे-धीरे उठा। आँखें मल कर मचान के नीचे झाँका। कोई दो छोटे जानवर बरगद की सूखी पत्तियों को रौंद-रौंदकर बैल की घात लगा रहे थे। बैल को भी देखा—संदेह था कहीं उस समय शेर उसको न घसीट ले गया हो जब सो रहे थे। बैल समूचा पड़ा था। शेर उसके पास नहीं आया था।

मैं कुछ क्षण ही इस तरह बैठा था कि सामने से शेर आता दिखलाई पड़ा। शेर के आने के पहले ही वे दोनों जानवर भाग गए। मैं जब लेटा था, मैंने अपनी राइफ़िल का तकिया बनाया था। शर्मा जी दुनाली बंदूक छाती पर रखे हुए सो रहे थे। मैं राइफ़िल को उठाने के लिए मुड़ नहीं सकता था। मुड़ते ही मेरी गति को शेर देख लेता और भाग जाता, सारी कमी-कमाई मेहनत और लालसा व्यर्थ जाती। मैंने शर्मा जी की छाती पर से धीरे से दुनाली उठा ली। उनके जगाने का समय तो था ही नहीं। बंदूक के घोड़े चढ़े हुए थे और नालों में गोलियों के कार्तूस पड़े थे। परंतु मुझे अपनी राइफ़िल का अधिक भरोसा रहा है––लेकिन, उस मौक़े पर राइफ़िल उठाना मेरे लिए संभव न था। दुनाली लेकर मैंने बैल पर सीधी कर ली, झुक गया और एकाग्र दृष्टि से अपनी ओर आते हुए शेर को देखने लगा।

शेर बड़ी मस्त चाल से आ रहा था। बगल की पहाड़ी पर पतोखी बोली। अलसाते-अलसाते उठाते हुए अपने भारी पैरों को शेर ने एकदम सिकोड़ा, बिजली की तरह गर्दन मरोड़ी, पीछे के पैरों पर सधा और जिस ओर से चिड़ियाँ बोली थीं एकटक देखने लगा। जब वह उस ओर से निश्चिन्त हो गया तब मचान की ओर बढ़ा।

खरी चाँदनी में उसकी छोहें स्पष्ट दिख रही थीं। माथे पर सफ़ेद भाल और छपके चमक रहे थे। भारी भरकम सिर की बगलों में छोटे-छोटे कान विलक्षण जान पड़ते थे। शेर ज़रा-सा मुड़ा, तब उसके भयंकर पंजे और भयानक बाहु और कंधे दिखलाई पड़े। गर्दन ज़बरदस्त मोटी और सिर से पीठ तक ढालू। उसके पट्ठों को देखकर मन पर आतंक-सा छा गया। सोचा यदि बड़े-से-बड़ा खिसारा सुअर इससे भिड़ जाए तो कितनी देर ठहरेगा ? परंतु सुअर इससे भिड़ जाता है और देर तक सामना भी करता है।

शेर फिर मचान के सामने सीधा हुआ। उसने मेरी ओर गर्दन उठाई। चंद्रमा के प्रकाश में उसकी आँखें जल रही थीं। वह टकटकी लगाकर मेरी ओर देखने लगा––और मैं तो आँख गड़ाकर उसकी ओर पहले से ही देख रहा था। एक क्षण के लिए मन चाहा कि गोली छोड़ दूँ, परंतु जंगल का शेर––और इतना बड़ा––जीवन में पहली

बार देखा था, इसलिए उसको देखते रहने का लालच उमड़ा। कभी उसके सिर और कभी उसकी छाती को देखता था। ऐसी चौड़ी छाती जैसी किसी भी जानवर की न होती होगी।

शेर कई पल मेरी ओर देखता रहा। उसको संदेह था। वह जानना चाहता था कि मैं हूँ कौन? पर मैं अडिग और अटल था। उसको बाल बराबर भी हिलता नहीं देखा। जब शेर मेरा निरीक्षण कर चुका तब बैल के पास गया। उसने अपना भारी जबड़ा बैल के ऊपर रखा और दाढ़ें गड़ाकर एक झटका दिया! एक ही झटके में कई आदमियों के बाँधे हुए बाँस के खपचे तड़ाक से टूट गए। दूसरी बार मुँह डाल कर जो उसने झटका दिया तो बैल तीन-चार हाथ की दूरी पर जा गिरा! इस समय उसकी पीठ मेरी ओर थी। उसने बैल को एक और झटका दिया, बैल चार-पाँच डग पर जाकर गिरा। मुझको लगा अब यह चला। सबेरे जब मित्रगण इकट्ठे होंगे तब मेरी इस बात को कोई न सुनेगा कि मैं शेर की लोचों का अध्ययन कर रहा था—सब कहेंगे कि मैं डर गया। मैं मनाने लगा किसी तरह यह मेरे सामने अपनी छाती फेरे।

शेर ने कुछ क्षण के लिए मेरे सामने अपनी छाती की। बंदूक तो मिली हुई हाथ में थी ही। मैंने गोली छोड़ी। शेर ने काफ़ी ऊँची उछाल लेकर गर्जन किया। शर्मा जी जाग उठे, उन्होंने भी सुना और देखा।

शेर ने नीचे गिरकर तुरंत एक तिरछी उचाट ली और आँख से ओझल हो गया।

हम लोग मचान से नहीं उतरे। बातें करते-करते सबेरा हो गया। हम लोगों के मचान से उतरने के पहले ही मित्र लोग वहाँ आ गए। आते ही उन्होंने भूमि का निरीक्षण किया। जहाँ गोली चली थी वहाँ खून की एक बूँद भी न थी।

एक साहब बोले, 'गोली चूक गई।'

मैंने कहा, 'असंभव।'

नीचे उतरकर देखा, शेर के ख़ून की बूँदें मिलीं। ज़रा आगे बढ़े कि हड्डी के टुकड़े और आगे बढ़े तो ख़ून की धार। परंतु

हड्डियों के टुकड़े और रक्त की धार लगभग आध मील तक मिली। एक नाले में उसने पानी पिया और नाले के उस पार के जंगल में की लंबी घनी घास में विलीन हो गया। कई दिन बाद उसकी लाश सड़ी हुई मिली। गोली हँसुली की हड्डी पर पड़ी थी। चोट करारी थी, परंतु फिर भी वह इतनी दूर निकल गया।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक को शेर के शिकार में किस प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ी?— संक्षेप में वर्णन कीजिए।

२. शेर के स्वभाव की विशेषताएँ बताइए।

३. इस पाठ के आधार पर विन्ध्यखंड के वन का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।

४. निम्नलिखित प्रयोगों का भाव स्पष्ट कीजिए :
गायरा करना, अनी पर आना, बाट जोहना, उचाट लेना।

५. इस प्रकार की देखी, सुनी या पढ़ी हुई किसी अन्य घटना का वर्णन कीजिए।

६. इस पाठ को पढ़कर आपके मन में विशेष रूप से किस भाव का संचार होता है :
कुतूहल ? भय ? उत्साह ?

जवाहरलाल नेहरू

श्री जवाहरलाल नेहरू का जन्म इलाहाबाद में सन् १८८९ ई० में हुआ था। इनके पिता स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में से थे, किन्तु गांधी जी के आह्वान पर उन्होंने वकालत छोड़कर राष्ट्र-सेवा का व्रत ले लिया और अंत तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानी बने रहे। जवाहरलाल जी योग्य पिता के योग्य पुत्र थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। बाद की शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई। सन् १९१२ ई० में ये बैरिस्टरी पास करके भारत लौटे और इलाहाबाद में वकालत करने लगे। किन्तु उनका राष्ट्र-प्रेम शीघ्र ही उन्हें स्वातंत्र्य-संग्राम की ओर खींच लाया। अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व के बल पर शीघ्र ही ये महात्मा गांधी के विश्वासपात्र बन गए और देश के प्रमुख नेताओं में इनकी गणना होने लगी। सन् १९२९ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन्हीं की अध्यक्षता में लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का संकल्प किया था। सन् १९६४ में इनका स्वर्गवास हो गया।

नेहरू जी का कार्यक्षेत्र राजनीति तक ही सीमित नहीं था, ये उच्च कोटि के लेखक और साहित्यकार भी थे। इनके साहित्य का माध्यम प्रायः अंग्रेजी भाषा ही है। किन्तु इनकी सभी पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में भी उपलब्ध है। इनमें इतिहासकार, राजनीतिक, विचारक तथा साहित्यकार का अपूर्व संयोग है।

'मेरी कहानी' इनकी आत्मकथा है जिसे वस्तुतः केवल व्यक्ति की आत्म-कथा न कह कर तत्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष की कहानी कहा जा सकता है। **'विश्व इतिहास की झलक'** और **'हिन्दुस्तान की कहानी'** इतिहास की पुस्तकें हैं। **'पिता के पत्र पुत्री के नाम'** बाल-साहित्य की दृष्टि से बड़ी उपयोगी और प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके अतिरिक्त **'हिन्दुस्तान की समस्याएँ'**, **'स्वाधीनता और उसके बाद'**, **'राष्ट्रपिता'**, **'भारत की बुनियादी एकता'**, **'लड़खड़ाती दुनिया'** आदि पुस्तकों में इनके लेखों और भाषणों का संग्रह है।

प्रस्तुत पाठ **'मेरी कहानी'** से लिया गया है। इस ग्रंथ का अनुवाद श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। इसमें देहरादून-जेल में बंदी लेखक की वह कोमल भावना व्यक्त हुई है जो उसके मन में सामान्य पशु-पक्षियों के प्रति विद्यमान है। इससे उनकी भावुक प्रकृति का पता चलता है।

जवाहरलाल नेहरू

जेल में जीव-जंतु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूँ। उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया। उसकी सफ़ेद दीवारों और खुरदरे फ़र्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आँगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था, सो बात नहीं। क्योंकि, वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं।

कोठरियाँ तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशक़ीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गए थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज़ तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे।

केवल एक क़ैदी ही, जो लंबे अर्से तक ऊँची-ऊँची दीवारों के अंदर क़ैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़ रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि ज़ोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह

बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पड़ोसी गगनचुंबी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशक़िस्मती थी कि जब लंबे अर्से तक मैंने कोई मुलाक़ात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानो अंदर-ही-अंदर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही है।

पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गए हैं कितनी दूर !
जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन;
एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्ववतशृंग खड़ा है शांत––
मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।

मैं समझता हूँ कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था। फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था, और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशांत मन को सांत्वना देती थी।

देहरादून में बसंत-ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज़्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिए थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गए थे। जेल के फाटक के सामने जो चार बड़े पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने क़रीब-क़रीब सब पत्ते गिरा दिए थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परंतु अब बसंत-ऋतु आई और उसकी जीवनदायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-संदेश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच

गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अंदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझक कर झाँकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनंददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेज़ी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आए और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियाँ करने लगे। एक अँखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपांतर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है।

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिए गेहुएँ रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद्‌ऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है; लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अंत आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आख़िर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इंद्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पाँच हफ़्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपने को बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़ कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हाँ, शरद्‌ऋतु में फिर आनंद उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ़ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ़ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ़ चुभती हुई ठंडी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कंठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बर्फ़ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे ख़ास तौर पर याद है। वह २४ दिसंबर, १९३२ का दिन था। बड़े ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी

बरसता रहा। जाड़ा इतना सख़्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गए और जब मैंने देखा कि पर्वत श्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बर्फ़-ही-बर्फ़ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहाँ चला गया। दूसरा दिन—बड़ा दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बर्फ़ के आवरण में पर्वत-श्रेणियाँ बहुत ही सुंदर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिए गए तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज़्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आँगन में हर तरह के जीव-जंतु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम क़िस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में ज़रा भी दख़ल दिए बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुँचाता? लेकिन हाँ, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हज़ारों की तादाद में थे। हाँ, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक ततैए ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चंदरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आख़िर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूँगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हाँ, चमगादड़ों को मैं पसंद नहीं करता था, लेकिन उन्हें मैं

मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे संध्या के अंधकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अँधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे से एक इंच की दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था। और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हँसी आने लायक़ ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुँह की तरफ़ से उनको चुपके से झपट-कर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो, झुंड-की-झुंड गिलहरियाँ होती थीं; वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ़ देखती। फिर वह मेरी आँखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूँ। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी माँ उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोए हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हें-नन्हें थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें। लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फ़ाउंटेन-पेन के फिलर में ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहाँ-जहाँ मैं गया कबूतर खूब मिले। और हज़ारों की तादाद में वे शाम को

उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनाएँ भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाज़े के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जातीं और ज़ोर-ज़ोर से चीं-चीं करके खाना माँगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, ज़ोर-ज़ोर से चिंचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समाँ बँध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या! बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे; सिर्फ़ उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आँगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊँची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख़ भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे।

बरेली-जेल में बंदरों की आबादी ख़ासी थी। उनकी कूद-फाँद, मुँह बनाना आदि हरकतें देखने लायक़ होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बंदर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अंदर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नंबरदारों और दूसरे क़ैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाँध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूँ) माँ-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गए। अचानक उनमें से एक बड़ा बंदर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्संदेह

यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वग़ैरा सबके पास डंडे और लाठियाँ थीं, और वे उन्हें चारों तरफ़ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफ़ी थी। लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डंडे और लाठियाँ वहीं पड़ी रह गईं और बंदर अपना बच्चा छुड़ा कर ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जंतु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। ख़ासकर तब, जब बिजली ज़ोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नहीं काटा, क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे---मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उस पर भी। मैंने खासतौर पर एक काले और ज़हरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियाँ वग़ैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाए, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ़ किया और चारों ओर उसे ढूँढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की ख़बर जेल के बाहर चली गई और अख़बारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसंद किया था। जेल-जीवन यों ही काफ़ी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज़ भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता, बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपने को बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कनखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफ़रत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान

पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेज़ी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते-टकराते बचा।

क़ैदियों की, खासकर लंबी सज़ावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नंबरदारों को उनसे ज़्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज़ नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि, नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिए जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफ़सर की थी और जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव कुछ दिनों खलता रहा। हालाँकि जेल में कुत्तों की इजाज़त नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफ़ाक़ से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफ़सर एक कुतिया लाए थे। बाद को उनका भी तबादला हो गया पर वह उसे वहीं छोड़ गए। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिए टुकड़े खाकर अपने दिन काटती रही। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज़ खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिए। कुछ तो और लोग ले गए मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इनमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ़ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार उठकर मुझे उसको सम्हालना पड़ता। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज़्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक़ रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे;

मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धांत के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. पर्वतराज हिमालय के दर्शन से नेहरू जी के मन पर क्या प्रभाव पड़ा ?
२. इस पाठ के आधार पर वसंत के आगमन का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
३. जेल-जीवन में विभिन्न जीव-जंतुओं के संपर्क में लेखक को क्या अनुभव हुए—संक्षेप में लिखिए।
४. इस निबंध से तत्कालीन जेल-जीवन की स्थितियों पर क्या प्रकाश पड़ता है ?
५. इस पाठ के आधार पर श्री नेहरू की चरित्रगत और स्वभावगत विशेषताएँ बताइए।
६. निम्नलिखित वाक्य का भाव स्पष्ट कीजिए:
"पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशांत मन को सांत्वना देती थी।"

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् १८९० ई० में वाराणसी के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था तथा इनकी मृत्यु सन् १९३७ ई० में हुई। इनके पिता श्री देवीप्रसाद 'सुँघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने स्कूल में तो केवल आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की, किन्तु स्वाध्याय द्वारा हिन्दी, संस्कृत, पालि, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास एवं पुरातत्व के ये विद्वान थे।

प्रसाद की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी जिसका ज्वलंत उदाहरण इनके काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी और निबंध आदि विविध रचनाओं में मिलता है। इनकी सबसे पहली कविता **'भारतेन्दु'** में सन् १९०६ ई० में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् **'इंदु'** नामक पत्रिका में, जिसका प्रकाशन इन्हीं की प्रेरणा से प्रारंभ हुआ था, इनकी कहानियाँ, कविताएँ और नाटक आदि प्रकाशित होते रहे। **'चित्राधार'** में इनकी प्रारंभिक रचनाएँ संकलित हैं। इनकी प्रमुख गद्य-रचनाएँ निम्नलिखित हैं:

नाटक—**'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त'** और **'ध्रुवस्वामिनी'**।

उपन्यास—**'कंकाल', 'तितली', 'इरावती'** (अपूर्ण)।

कहानी-संग्रह—**'आकाशदीप', 'इंद्रजाल'**।

निबंध-संग्रह—**'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'**।

आधुनिक युग के निर्माताओं में प्रसाद का स्थान अन्यतम है। उनकी रचनाओं में, विशेष रूप से नाटकों में, प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित हुआ है।

प्रसाद की भाषा संस्कृत-बहुला है। इनकी शब्दावली सरस तथा समृद्ध और शैली अलंकृत एवं चित्रात्मक है।

प्रस्तुत निबंध में प्रसाद ने प्रकृति-सौन्दर्य को ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत एवं अनुपम उदाहरण माना है और उसके विविध रूपों की सुषमा का मनोहारी चित्र अंकित किया है।

'प्रकृति-सौन्दर्य' पाठ प्रसाद के **'चित्राधार'** संग्रह से लिया गया है। प्रारंभिक रचना होने पर भी इस वर्णन में वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं जिनका विकास अधिक स्पष्ट रूप में इनकी प्रौढ़ कृतियों में प्राप्त होता है।
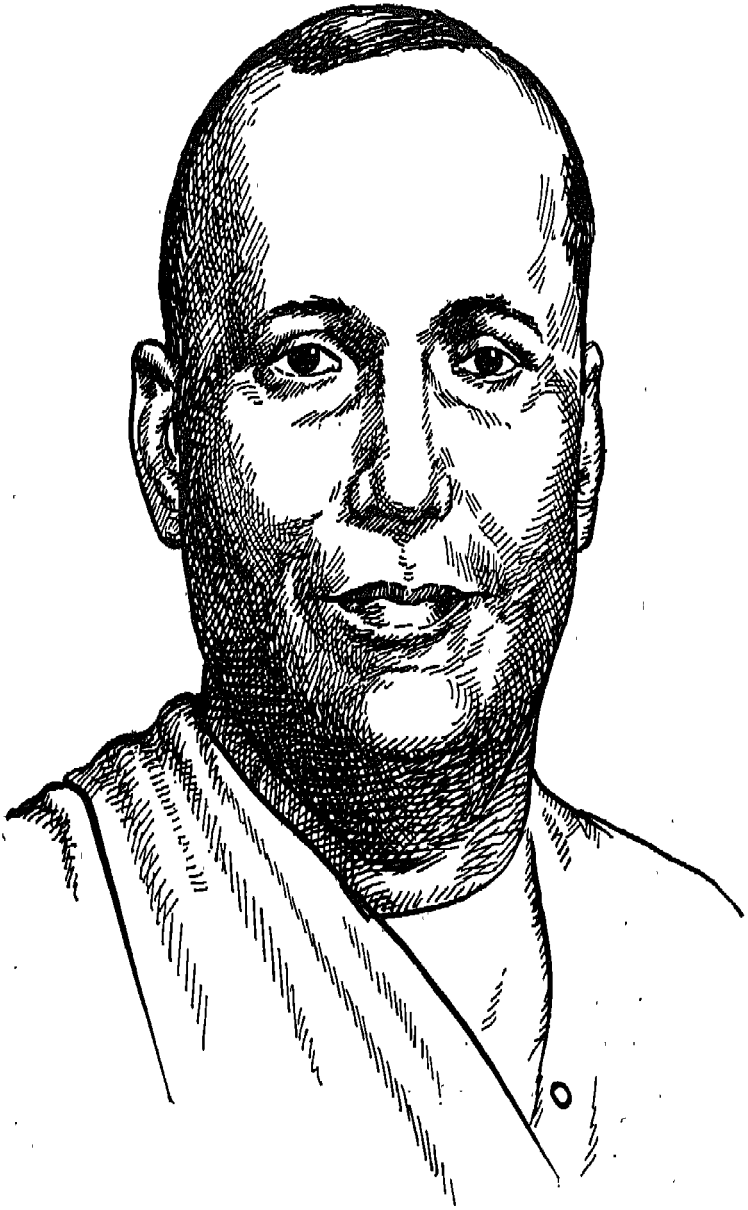
जयशंकर प्रसाद

प्रकृति-सौन्दर्य

प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है, अथवा, उस बड़े शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा-सा नमूना है, या इसी को अद्भुत रस का जन्मदाता कहना चाहिए। संपूर्ण रूप से वर्णन करना तो मानो ईश्वर के गुण की समालोचना करना है।

हे प्रकृति देवी ! तुमको नमस्कार है, तुम्हारा स्वरूप अकथनीय है। द्वीप, महाद्वीप, प्रायद्वीप, समुद्र, नदी, पर्वत, नगर अथवा संपूर्ण जल-स्थल तुम्हारे उदर में हैं। उनमें स्थान-विशेष में ईश्वरीय शिल्प-कौशल के साथ तुम्हारी मनोहारिणी छटा अतीव सुंदर दृष्टिगोचर होती है। अगाध जल के तल में, समुद्र के गर्भ में, कैसी अद्भुत रचना, कैसा आश्चर्य ! अहा ! यह विद्रुम-लता का जल-राशि में लहरों के साथ झूमना, सीपियों तथा छोटे-छोटे जंतुओं का इधर-उधर संचरण तथा विचित्र रूप की लताओं और वनस्पतियों के सन्निकट अद्भुत जंतुओं का समूह, और उनका जलतरंग के साथ-साथ हिलती हुई झाड़ियों में घूमना, अथाह जल के नीचे ऐसे-ऐसे अमूल्य रत्न ! और ऐसा सुंदर मनोहारी दृश्य !

हिम-पूरित तराइयों में, तथा हिमावृत चोटियों पर अद्भुत रंग के नील, पीत, ललित कुसुम-सहित लताओं का शीतल वायु के झोंके से दोलायमान होना, पुनः प्रातः सूर्य की किरणों का छायाभास पड़ने से हिमावृत चोटियों का इंद्रधनुष-सा रँग जाना, कैसा सुंदर जनाई पड़ता है ! समयानुकूल उन पर बर्फ़ की झड़ी और कड़ी वायु का झोंका कैसा हृदय को कँपाए देता है ! शिखरों पर से वेग सहित बहती हुई नदियाँ, तथा उनके प्रवाह से अद्भुत शिलाखंडों का बनाव, और उनकी अद्भुत स्थिति देखकर बोध होता है कि मानो कोई गुप्त बल अभी तक इनको रोके हुए है ! इसी प्रकार अनेक स्थानों, अनेक नगरों में, कतिपय पर्वतों पर तुम्हारा वही पूर्वकथित रूप दृष्टिगोचर

होता है, जिसके पूर्ण वर्णन करने के लिए, मनुष्य की योग्यता और बुद्धि हो ही नहीं सकती ।

तुम्हारा समयानुकूल परिवर्तन भी कैसा सुंदर होता है । ऋतु-विभाग के अनुसार 'बसंत' में कोमल कलित पत्तियों से सहकार वृक्षों को सुहावना बनाती हुई, मधुर मंजरी तुम ही उत्पन्न करती हो । अहा ! उस समय में तुम्हारी अद्भुत छटा देखने ही योग्य होती है ! कहीं परिमित रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए अरविन्दों पर मधुव्रत रस लेते हुए आनंदोल्लास में गूँज रहे हैं । कहीं अर्द्ध-प्रस्फुटित-रक्त तथा कोमल पत्तियों-सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रसमग्न कोकिल अपनी 'कुहुक' सुनाते हुए, कोमल डालियों को दोलायमान करते हैं ! सुरम्य वन, कुंज, लता, उपवन, पर्वत, तटी इत्यादि, जहाँ दृष्टिपात करो, उधर ही कुसुम-पूरित डालियाँ दिखाई देती हैं ! समय का तो कहना ही क्या है, प्रभात बाल-अरुणोदय, पक्षियों का उड़ते हुए कलरव, शीतल सुरभित मलयानिल, भगवान दिनकर की कांचनीय रश्मि, मनुष्यों का अपने कार्यों में लगने का कलरव तथा जनशून्य स्थानों में तुम्हारी ही मनोहर शून्यता क्या ही अनुपम आनंद का अनुभव कराती है ! फिर, वह मध्याह्न के अंशुमाली भगवान का तप्त तेज, प्रचंड वायु, गर्मी की अधिकता का कैसा आतंक हृदय में उत्पन्न होता है । मधुरात्रि के तारागण, मध्यस्थ पूर्ण चंद्रमंडल का अपनी रजत-किरणों से जगत को धवलित करना, चंद्र-किरण-स्पर्शित मधुर मकरंद-पूरित वायु का संचरण ! यह सब तुम्हारी ही अद्भुत छटा है ।

पुनः ग्रीष्म के साथ-ही-साथ तुम्हारा परिवर्तन देखने में भी दुःसह होता है । सूर्य भगवान की अविश्राम तप्त किरणें, लू की सन्नाटा मारते हुए झपट, तेजपूरित उष्ण निदाघ, कुसुमावलीपूरित वृक्षों का मुरझाना, नदियों का शुष्क होते हुए मंद प्रवाह, धरणीतल पर की अविरल शून्यता, विचित्र प्रभाव उत्पन्न करती हैं !

परंतु प्रकृति ! तुम ग्रीष्म में भी अपनी नष्टप्राय वासंतिक शोभा को रजनी में एक बार उद्दीप्त कर देती हो ! वही शुष्क तथा मंदवाहिनी नदियाँ, वे ही उच्च-प्रासाद-वेष्टित नगरावली तथा

सुरम्य पर्वत-तटी, जो दिनकर के तेजपूरित दिन में दुर्दर्शनीय हो रहे थे, कुमुदिनीनायक की सुधाप्लावित किरणों से रजत-मार्जित होने से, कैसे सुंदर तथा मनोहारी दृश्य में परिवर्तित हो जाते हैं ! और वही विषम प्रचंड उष्ण वायु, जो कि शरीर को झुलसाए देती थी, चंद्रकिरण के स्पर्श से कुछ शीतल हुई जाती है । यह सब क्या है ? केवल तुम्हारा ही अनियमित स्वरूप है ।

अरे कहाँ निर्मल चंद्र, कहाँ यह श्याम-सघन घन, कहाँ सुधा-कण-समान विकीर्ण तारागण का मंद प्रकाश, और कहाँ यह सौदामिनी-माला का बारंबार चमकना ! कहाँ दिवाकर-तेज में वृक्षों की उदासीनता और कहाँ मेघावली के जलसिंचन से पत्र-पुंज में हरियाली । वर्षा-ऋतु में भी प्रकृति का कैसा सुंदर तथा मनोहर दृश्य होता है ! नवीन मेघमालाच्छादित गगन-मंडल में दुर्जय वारिद-रूपी दानव के असित शरीर पर इंद्र के वज्रपात से चिनगी छिटकने के समान विद्युल्लता का बारंबार चमकना तथा सघन वृक्षाच्छादित हरित पर्वत-श्रेणी, सुंदर निर्मल जलपूरित नदियों का हरियाली में छिपते हुए बहना, कतिपय स्थानों से प्रकटरूप में वेगसहित प्रवाह, हृदय की चंचल धारा को अपने साथ बहाए लिए जाता है ! मयूरों का उच्च कदंब-शिखर पर बैठे हुए कलनाद, कोकिलगण का कलरव, झिल्ली-समूह के झंकार के साथ पवन-वेग से गुंजित तथा कंपित वृक्षावली सिर हिलाकर चित्त को अपनी ओर बुलाए लेती है। तदु-परांत सघन बुँदियों की अविरल धारा; क्षितिज-पर्यन्त हरियाली, रुकते हुए वर्षा-जल की श्वेत आभा, नेत्रों के सामने कैसा सुंदर दृश्य उपस्थित करती हैं ! तुम्हारा स्वरूप मनुष्य की कल्पना में नहीं आ सकता । पावस निशा में तुम्हारा वह भयावह दृश्य हृदय को कंपाय-मान करता है । गंभीर तमावृत संसार, मेघाच्छन्न आकाश में सौदामिनी के चमकने के साथ घोर वज्रपात शब्द, वर्षा का गंभीर रव, झिल्लियों की झंकार के साथ-साथ बारंबार जुगनू का चमकना हृदय को अधीर किए देता है ।

और यह क्या ? देवि ! यह कैसा अद्भुत दृश्य ! कहाँ वह श्यामघन में सौदामिनी-माला, कहाँ स्वच्छ नील-गगन में पूर्ण चंद्र !

अहा, यह मुझे ही भ्रम हुआ, यही तो शारदीय स्वरूप है ! वह देखो—नगरों की सीमा के बाहर तथा नदी के तट पर कास का विकास और निर्मल जलपूरित नदियों का मंद प्रवाह, शारदीय चंद्र का पूर्ण प्रकाश, सरोवरों में सरोजगण का विकास, कुछ शीत वायु, छिटकी हुई चंद्रिका, हरित वृक्ष, उच्च प्रासाद, नदी, पर्वत, कटे हुए खेत तथा मातृ-धरणी पर रजत-मार्जित आभास ! वाह ! वाह ! यह कैसा नटी की तरह यवनिका-परिवर्तन ! शीत का हृदय कँपानेवाला वेग, हिम-पूरित वायु का सन्नाटा, शस्य क्षेत्र में मुक्ताफल समान ओस की बूँदें, उन पर प्रभात-सूर्य-किरण की छाया ! यह सब दृश्य कैसा आनंद देता है। पुनः कृष्णपक्ष की शिशिर शर्वरी में गंभीर शीतवायु का प्रचंड वेग, गाढ़ांधकार, जिसमें कि सामने की परिचित वस्तु देखने में भी चित्त भय से काँप जाता है।

यह सब क्या है ? हे देवि ! यह सब तुम्हारी ही आश्चर्यजनक लीला है, इससे तुम्हारे अनंत-वर्ण-रंजित मनोहर रूप को देखकर कौन आश्चर्यचकित नहीं हो जाता ?

प्रश्न और अभ्यास

१. प्रकृति-सौन्दर्य को अद्भुत रस का जन्मदाता क्यों कहा गया है ?

२. लेखक ने प्रकृति-सौन्दर्य के अंतर्गत किस-किस प्रकार के प्रकृति-रूपों का वर्णन किया है ? उनका उल्लेख करते हुए उनमें से किसी एक का वर्णन कीजिए।

३. इस पाठ से उद्धरण देते हुए निम्नलिखित कथन की पुष्टि कीजिए :
'प्रसाद के गद्य में काव्यात्मक तथा अलंकरण-प्रधान चित्रात्मक शैली का उत्कृष्ट रूप मिलता है।'

४. प्रत्येक के लिए एक-एक शब्द दीजिए :
   (क) **जो कहा न जा सके।**
   (ख) **पहले कहा हुआ।**
   (ग) **मन को हरनेवाला।**
   (घ) **देखने योग्य।**

५. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ दीजिए :
सौदामिनी, शर्वरी, अंशुमाली, निदाघ।

—

चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म बुलंदशहर ज़िले के अंतर्गत चांदोख ग्राम में सन् १८९१ ई० में हुआ था तथा इनकी मृत्यु सन् १९६० ई० में हुई। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल सिकंदराबाद में हुई थी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ये घर से भाग कर वाराणसी पहुँचे और वहाँ इन्होंने व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया। इसके पश्चात् इन्होंने 'जयपुर संस्कृत कालेज' में आयुर्वेद और साहित्य का अध्ययन किया। फिर ये लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में आयुर्वेद के अध्यापक नियुक्त हुए। परंतु अपने स्वच्छंद विचारों के कारण शीघ्र ही वहाँ से अलग होकर स्वतंत्र रूप से वैद्यक करने लगे।

शास्त्रीजी बड़े ही कर्मठ और समर्थ लेखक थे। इनकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या सौ से अधिक है और अनेक रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने धर्म, इतिहास, राजनीति, आयुर्वेद, रसायन, गृहविज्ञान, बालशिक्षा आदि अनेक विषयों के ग्रंथ लिखे हैं और गद्य की प्रायः सभी विधाओं का सफल प्रयोग किया है। हिन्दी-साहित्य में इनकी ख्याति कथा-साहित्य के कारण है। ऐतिहासिक आधार पर लिखी हुई इनकी कहानियाँ बहुत ही आकर्षक और सजीव हैं। इन कहानियों में चरित्र-विकास और रस-परिपाक दोनों की सिद्धि हुई है।

शास्त्री जी की गद्य शैली प्रवाहपूर्ण, प्रांजल और सशक्त है। विषय के अनुसार शैली में विविधता का समावेश होता रहता है। कहानियों में कवित्व की छटा भी मिलती है। इनके गद्य-गीत मर्मस्पर्शी हैं।

प्रस्तुत पाठ लेखक के **'भारतीय संस्कृति का इतिहास'** नामक ग्रंथ से लिया गया है। इसके द्वारा हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त उन अवशेषों का परिचय मिलता है, जिनसे हमारे देश की प्राचीनतम सभ्यता पर प्रकाश पड़ता है। पूर्ण रूप से तथ्यात्मक होने के कारण, यह विवरण इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा गया है।

चतुरसेन शास्त्री

सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष

यह पाठ '**भारतीय संस्कृति का इतिहास**' ग्रंथ से लिया गया है। सिन्धु घाटी में बहुत से खेड़े हैं जिनपर शताब्दियों से प्रकृति के परिवर्तनों ने मिट्टी की तहें जमा दी थीं। इनकी खुदाई का कार्य तत्कालीन पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष सर जॉन मार्शल और उनके सहयोगी स्व० राखालदास बनर्जी तथा दयाराम साहनी आदि के निरीक्षण में हुआ। इस खुदाई में उन विशाल खेड़ों के नीचे जो अवशेष निकले हैं, उनसे प्रमाणित हुआ है कि पंच-छह सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी में एक अत्यंत समुन्नत सभ्यता विकसित हुई थी। यह सभ्यता दक्षिण में काठियावाड़ और पश्चिम में मकरान से हिमालय तक फैली हुई थी।

अभी तक केवल चालीस खेड़ों की खुदाई हुई है। इस खुदाई में मिट्टी की कई तहें निकली हैं, जिनमें से प्रत्येक नीचे वाली तह ऊपर वाली तह से सैकड़ों वर्ष पुरानी है। पुरातत्त्व विशेषज्ञों का अनुमान है कि सबसे नीचे वाली तह लगभग छह सहस्र वर्ष पुरानी है। इस खुदाई में जिन दो बड़े नगरों के अवशेष मिले हे उनके नाम हड़प्पा और मोहनजोदड़ो हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि उस समय की नगर-निर्माण की योजना कितनी उत्कृष्ट थी।

कुछ अवशेषों का वर्णन इस पाठ में मिलेगा जिससे वहाँ की सभ्यता के विषय में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

आजकल सिन्ध का यह प्रदेश उजाड़ और रेगिस्तान है, परंतु उस काल में संभवतः वहाँ रेगिस्तान नहीं था। यह घाटी हरी-भरी, वनों, नदियों और हरे-भरे मैदानों से परिपूर्ण थी। यहाँ पर जो हाथी, गैंडा, भेड़िए, रीछ आदि अन्य पशुओं के अवशेष मिले हैं उनसे यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इतिहास भी इस बात का समर्थक है। क्योंकि मसीह से पूर्व तीसरी शताब्दी में जब सिकंदर ने सिन्ध पार कर भारत पर आक्रमण किया था तब भी सिन्ध का बहुत-सा प्रदेश हरा-भरा था।

सिन्धु घाटी के निवासी जौ, गेहूँ और खजूर की पैदावार करते और उन्हीं का भोजन मुख्य तौर पर करते थे। गाय, भैंस, कुत्ता, हाथी, ऊँट, बकरा और सूअर पालते थे। वस्त्र बुनना और सूत कातना जानते थे। कमर से नीचे के भाग को भली-भाँति ढके रहते

थे। चीते, गैंडे और वनैले सअरों का शिकार करते थे। वे बहुत संख्या में जानवर पालते थे। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि उनके पास

स्नानागार

जल और चारे की कमी न थी। वे लोग स्नान तथा शृंगार के वहुत शौकीन थे। समय-समय पर मिल-जुलकर मेले-उत्सव करते थे। बच्चे मिट्टी के खिलौनों से खेलते थे जो बहुत भारी संख्या में वहीं मिले हैं। इन खिलौनों में मिट्टी की गाड़ियाँ जिनमें बैल जुते हैं बहुत मिली हैं। कुछ खिलौने ऐसे भी मिले जिनका सिर हिलता है या हाथ-

मिट्टी का खिलौना
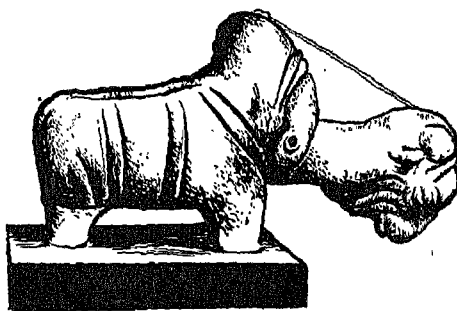
पैर पृथक् हैं। इन खिलौनों में बहुधा नीचे पहिए लगे हैं। वयस्क लोग पासे या चौसर खेलते थे। ये पासे चतुष्कोण मिट्टी और पत्थर के

बहुत संख्या में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं। कुछ पासे हाथी दाँत के भी हैं। पासों पर संख्या लिखी है।

नृत्यगान को भी वे महत्त्व देते थे। नर्तकियों की मूर्त्तियाँ मिली हैं। तबले और ढोल की उत्कीर्ण आकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। तीर कमान से बारहसिंगे का शिकार होता था। शेर का शिकार और तीतर बटेरों की लड़ाई भी कराने के ये लोग शौकीन थे। पुरुष प्राय: दाढ़ी रखते थे, परंतु ऊपर के होंठ को साफ रखते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिली हुई जो मूर्त्तियाँ और आभूषण तथा काँसे और मिट्टी के जो बहुत-से नमूने हैं, उन्हें देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कारीगरी और कला-कौशल में वे अपने समय की सब जातियों में अग्रगण्य थे।

कातना व बुनना, मिट्टी के बर्तनों पर पालिश करना तथा दूर देशों से व्यापार संबंध स्थापित करना वे भली-भाँति जानते थे और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वे इन कामों में संसार की तत्कालीन सभ्य जातियों में सर्वाधिक सभ्य थे। सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात के अलंकार वे और उनकी स्त्रियाँ पहनती थीं। जानवरों की बहुतायत से यह बात प्रमाणित होती है कि उनके यहाँ जंगल बहुत थे और जल की भी कमी न थी। मोहरों और आभूषणों से प्रकट है कि उनकी कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे की थी। उन्होंने पत्थर और जस्ते से मनुष्य की मूर्तियाँ बनाई थीं।

मिट्टी के बर्तन बनाने की कला में यहाँ के लोग बहुत दक्ष थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो टूटे हुए बर्तन मिले हैं वे कुम्हार के चाक पर बनाए गए हैं और उन्हें चित्रों व आकृति से निर्मित किया गया है। कुम्हार लोग पहिले चाक पर बर्तन बनाते और फिर उन पर कोई लेप चढ़ाकर उन पर पालिश करते थे। तब उन पर चित्रकारी की जाती थी। अंत में उन्हें वहीं पर पकाया जाता था। ये बर्तन अत्यंत सुंदर तो होते ही थे, अत्यंत मजबूत भी होते थे।

यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि ये लोग धातुओं के बर्तन और औज़ार उत्तम रीति से बना लेते थे। धातु में ताँबे का ही बाहुल्य

होता था यद्यपि चाँदी, काँसा तथा सीसे का भी प्रयोग होता था। हड़प्पा की खुदाई में चाँदी के तीन बर्तन मिले हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि धनी लोग चाँदी के बर्तनों का उपयोग करते थे। ताँबे और काँसे के बर्तन तो भारी संख्या में मिले हैं जिनकी बनावट सुंदर और कलापूर्ण है।

ताँबे का प्रयोग अधिकतर औज़ारों के लिए ही किया गया है। यहाँ ताँबे का एक कुल्हाड़ा मिला है जिसकी लंबाई ११ इंच है और वज़न दो सेर के लगभग। इसमें लकड़ी के बेंट डालने का छेद भी है। इसकी आकृति वैसी ही है जैसी भारत में आज भी कुल्हाड़ों की होती है। इसी प्रकार ताँबे की एक आरी भी प्राप्त हुई है जिसका हत्था लकड़ी का है। इस आरी में दाँत बने हैं। और इसकी लंबाई १६॥ इंच है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि सिन्धु घाटी के निवासी अब से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व भी आरी का उपयोग करते थे; जबकि यूरोपीय सभ्यता में रोमन युग से पूर्व आरी को लोग जानते ही न थे।

हथियार भी ताँबे या काँसे के मिलते हैं। ये हथियार युद्ध और शिकार में काम आते होंगे। पत्थर काटने की छेनियाँ बहुत मिली हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि पत्थर काटने का शिल्प भी इस युग में उन्नति पर था। मछली पकड़ने के काँसे के काँटे तथा काँसे की अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुईं।

आरी की सत्ता प्राप्त होने से हम कह सकते हैं कि यहाँ बढ़ई का काम भी अच्छी तरह होता था तथा लकड़ी को काट तथा चीर कर उसका इमारतों तथा अन्य स्थानों में उपयोग होता था।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त कुछ मूर्तियाँ और मुद्राएँ तत्कालीन धर्म-संबंधी संकेत प्रकट करती हैं। एक पत्थर की मूर्ति मिली है जो केवल सात इंच ऊँची है और जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। इस मूर्ति में मनुष्याकृति को ऐसा चोगा पहनाया हुआ है, जो बाँएँ कंधे के ऊपर और दाईं भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर पुष्पा-कृति बनी है। इस प्रकार की पुष्पाकृतियाँ मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में

बहुत उपलब्ध हुई हैं। मूर्ति की आँखें मुँदी हुई और ध्यानमग्न दिखलाई गई हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह मूर्ति किसी देवता की है और इसका संबंध वहाँ के धर्म से है। वह पुष्पाकृति भी कोई धार्मिक चिह्न है। मूर्ति की मूछें मुँडी हुई हैं, लेकिन दाढ़ी है। ऐसी ही आकृति की मूर्तियाँ प्राचीन सुमेरिया में भी उपलब्ध हुई हैं जिन्हें दैवी मूर्ति कहा जाता है।

मिट्टी की बनी हुई और पकाई हुई अनेक स्त्री मूर्तियाँ भी यहाँ से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों पर बहुत-से आभूषण हैं। परंतु वे प्रायः नग्न दशा में हैं। केवल कमर के नीचे जाँघों तक एक कपड़ा लपेटा हुआ दिखलाया गया है और सिर की टोपी पंखे के आकार की है, जिसके दो ओर दो दीपक हैं। जिनमें संभवतः तेल या धूप जलाई जाती होगी। ये स्त्री मूर्तियाँ निस्संदेह पूजा के ही काम में आती थीं।
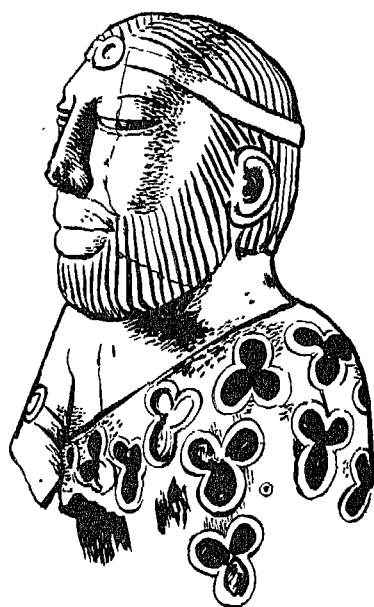
दुपट्टाधारी पुरुष

अनुमान से कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी के लोगों की आजीविका का आधार कृषि था। कृषि के द्वारा वे मुख्यतः गेहूँ और जौ की पैदावार करते थे, दूसरे अन्नों की भी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में खजूर की गुठलियाँ भी प्राप्त हुई हैं और मोहरों पर गाय, बैल, भैंस की आकृतियाँ अंकित हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे लोग इन पशुओं को बहुतायत से पालते थे, और इनके घी, दूध और माँस का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार वे भेड़, बकरी, हाथी, सूअर पालते थे, जो उनके निर्वाह में सहायक थे। संभवतः इस युग में सिन्धु की घाटी में ऊँट नहीं था,

किन्तु घोड़े और गधे थे।

कपास की खेती करना और सूत कातना भी वे लोग जानते थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषों में एक सूती कपड़ा चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। यह कपड़ा खादी के समान है। अनुमान है कि सिन्धु घाटी में सूती कपड़ा बहुत तैयार होता था, और वह सुदूर देशों में ले जाकर बेचा जाता था। पाश्चात्य देशों में उसकी बहुत कद्र व माँग थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े को सिन्धु कहते थे, और ग्रीक भाषा में उसका नाम सिन्दन था। मोहनजोदड़ो में सूत लपेटने के काम आने वाली बहुत-सी लड़ियाँ मिली हैं, जिससे यह पता लगता है कि वहाँ घर-घर सूत काता जाता था।

हड़प्पा में बहुत-से गोदामों के अवशेष मिले हैं, जिनमें अनाज एकत्र किया जाता था, और यहीं पीसने का प्रबंध था। गेहूँ और जौ के अतिरिक्त राई और सरसों की खेती भी होती थी।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में हाथीदाँत का बना हुआ एक फूलदान मिला है जो बहुत सुंदर है। हाथीदाँत के और भी टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि सिन्धु घाटी में हाथी विद्यमान थे।

सूती कपड़ों के निर्माण और व्यापार के लिए ये लोग दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे ही, वे ऊनी और रेशमी कपड़ों का भी निर्माण करते थे। इन वस्त्रों पर फूल और अन्य आकृतियाँ काढ़ी जाती थीं, और छपाई का काम भी होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्हार के बाद जुलाहे का शिल्प इस युग में उन्नत दशा में था।

सिन्धु सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प भी बहुत विकसित था। स्त्री व पुरुष दोनों ही आभूषण पहनने के शौकीन थे। भग्नावशेषों में जो स्त्री व पुरुषों की मूर्तियाँ मिली हैं, वे सब आभूषण पहने हुए हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में बहुत-से आभूषण मिले हैं, जो ताँबे और चाँदी के बर्तनों में सजाकर रखे गए हैं। ये आभूषण मकान में फर्शों के नीचे गड़े हुए मिले हैं, जिन्हें कदाचित् सुरक्षा की भावना से ज़मीन में गाड़ा गया होगा। गहनों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा के एक मकान में फर्श से आठ फुट नीचे गड़ा हुआ मिला है। इसमें जो सोने के गहने और उनके टुकड़े मिले हैं,

उनकी संख्या ५०० के लगभग है जिनमें बाजूबंद और हार से लेकर छोटे-छोटे मनके तक भी हैं। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो में भी अनेक लड़ियों वाले हार, बाजूबंद, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि मिले हैं। कुछ आभूषणों में लाल, पन्ने व मूँगे का प्रयोग भी हुआ है। कुछ गहने चाँदी के हैं, कुछ हड्डी व मिट्टी के हैं।

सब बातों पर विचार कर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सिन्धु घाटी में जो लोग रहते थे, उनके वाणिज्य, व्यापार का संबंध देश-देशांतर से था क्योंकि जिन वस्तुओं के अवशेष वहाँ प्राप्त हुए हैं, वे सब वहाँ की पैदावार नहीं थीं, वे दूर देशों की लाई हुई थीं। सोना, चाँदी, ताँबा सिन्धु घाटी में नहीं पैदा होता था। संभवतः सोना, चाँदी, सीसा व टीन अफ़गानिस्तान व ईरान से प्राप्त करते थे। ताँबा खासतौर से राजपूताने से आता था, और कीमती पत्थर बदख्शाँ से। सीप, कौड़ी, और शंख काठियावाड़ के समुद्र तट से आती थीं। मूँगा, मोती आदि रत्न भी यहीं से आते थे। यहाँ के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के टुकड़े भी मिले हैं, जो केवल हिमालय के अंचल में ही पैदा होते थे और कदाचित् वहीं से लाए जाते थे।

निस्संदेह यह तभी संभव हो सकता था, जब व्यापारियों की सुगठित श्रेणियाँ हों और यातायात के सुलभ साधन हों। व्यापारियों के ये सार्थ जल, थल दोनों मार्गों से आते-जाते थे। जल-मार्ग में जहाज़ों, नावों और बेड़ों का उपयोग होता था, और स्थल-मार्ग में घोड़ों, गधों और बैलगाड़ियों का। यहाँ प्राप्त एक मोहर पर जहाज़ की एक सुंदर आकृति मौजूद है और मिट्टी के एक टुकड़े पर भी जहाज़ का चिह्न बना हुआ है जिससे प्रमाणित होता है कि जहाज़ों और नावों से ये लोग परिचित थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में बहुत-सी बैलगाड़ियों के खिलौने प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा के खंडहरों में काँसे का बना हुआ एक छोटा-सा इक्का भी मिला है। हड़प्पा और चन्हूदड़ो में चार सौ मील का अंतर है। इतने अंतर पर के दो स्थानों में एक ही तरह के इक्कों का मिलना, और इतनी अधिक संख्या में बैलगाड़ी की मूर्तियों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में यातायात और व्यापार के लिए इक्के और बैलगाड़ियों का प्रचलन था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग पश्चिमी मार्गों से व्यापार-संबंध रखते थे। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में हड़प्पा की मुद्राएँ मिली हैं जिनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान है। इसके विपरीत मोहनजोदड़ो में सुमेरियन मुद्राएँ मिली हैं। ईरान के प्राचीन भग्नावशेषों में भी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जो सिन्ध देश की मान ली गई हैं। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन देशों का परस्पर व्यापार-विनिमय अवश्य था। पुरातत्त्वविद् यह स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दि में पश्चिमी एशिया के साथ सिन्ध का व्यापार संबंध था।

सिन्ध की बस्तियों में पत्थर के बने हुए तोल के बहुत-से बाट मिले हैं, जो चौकोर घनाकार हैं। कुछ समय पूर्व तक भारत में एक सेर सोलह छटांक में विभक्त था और आध पाव, एक पाव व आध सेर के बाट भारत में प्रयुक्त किए जाते थे। ऐसे ही बट्टे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के ही अवशेषों में नहीं सिन्धु घाटी की हज़ारों मील की फैली हुई सभ्यता में उपलब्ध हुए हैं। धातु की बनी हुई तराजुओं के भी टुकड़े मिले हैं।

मुद्रा : १
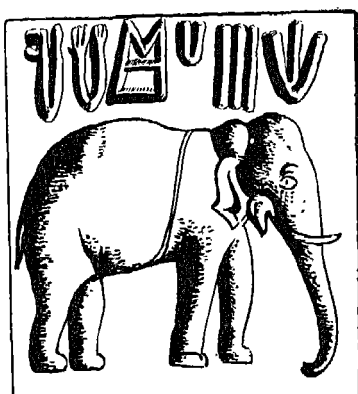
मुद्रा : २

जो मुद्राएँ इन दोनों नगरों में प्राप्त हुई हैं, उन पर किसी पशु, देवता या वृक्ष की प्रतिमा अंकित है। इनके लेख अभी तक नहीं पढ़े

गए हैं। ये मुद्राएँ विक्रय पदार्थों पर छापा लगाने के काम में आती थीं। संसार की अन्य प्राचीन जातियों में भी ऐसी मुद्राओं का चलन था।

सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं पर, ताम्रपट्टों पर और मिट्टी के बर्तनों पर जो उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं, वे अभी तक ठीक-ठीक नहीं पढ़े गए हैं। कुछ विद्वानों ने यह दावा अवश्य किया है कि वे इन लेखों को पढ़ने में सफल हुए हैं। परंतु पुरातत्त्व के विद्वानों को यह दावा स्वीकार्य नहीं है।

चन्हूदड़ो में एक मिट्टी की दवात भी मिली है जिससे इस बात का आभास मिलता है कि वहाँ के निवासी लेखों को केवल उत्कीर्ण नहीं करते थे, स्याही से लिखते भी थे।

नगरों का निर्माण व्यवस्थित और योजना के आधार पर था और हज़ारों मील में फैले हुए इस प्रदेश में एक ही सी व्यवस्था और प्रबंध था इससे यह अनुमान तो होता है कि कदाचित् उस काल में सिन्धु घाटी की यह सभ्यता एक साम्राज्य के रूप में शासित होती हो। सिन्ध, पंजाब, पूर्वी-बिलोचिस्तान और काठियावाड़ तक विस्तृत इस सिन्धु सभ्यता में एक संगठन और एक शासन की सत्ता अवश्य होगी, क्योंकि इस विस्तृत क्षेत्र में एक ही प्रकार के नापतोल के बटखरे, एक ही तरह का भवनों का निर्माण और एक ही तरह की मूर्तियाँ तथा एक ही तरह का प्रचार इस विशाल क्षेत्र की सभ्यता को एकरूपता प्रदान करता है।

निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिन्धु सभ्यता के ये निवासी किस नस्ल, जाति के लोग थे। जो अस्थिपंजर इन नगरों में उपलब्ध हुए हैं, उनसे पता लगता है कि यहाँ के निवासी भिन्न-भिन्न जातियों के थे। विद्वानों ने उन्हें चार नस्लों में विभाजित किया है—एक आदि आस्ट्रेलोयड, दूसरी भूमध्यसागरीय, तीसरी मंगोलियन और चौथी अलपाइन। अधिक अवशेष आस्ट्रेलोयड और भूमध्यसागर की नस्लों के मिले हैं। सबसे अधिक अवशेष भूमध्यसागरीय लोगों के हैं। मंगोलियन और अलपाइन जाति के लोगों की केवल एक-एक ही खोपड़ी यहाँ मिली है।

सिन्धु सभ्यता का विनाश ईसा-पूर्व २००० वर्ष के लगभग हुआ और इससे पूर्व वह शताब्दियों तक संसार की सर्वाधिक विकसित सभ्यता बनी रही।

प्रश्न और अभ्यास

१. सिन्धु घाटी की सभ्यता का पता हमें किस प्रकार लगा ?

२. निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत सिन्धु घाटी-सभ्यता का वर्णन कीजिए :
(क) खेती, (ख) पशुपालन, (ग) कारीगरी, (घ) औज़ार-हथियार, (ङ) मूर्ति-निर्माण, (च) खिलौने, (छ) मुद्राएँ।

३. सिन्धु घाटी के भग्नावशेषों से तत्कालीन नगर-योजना तथा भवन-निर्माण के संबंध में क्या पता लगता है ?

४. नीचे दिए शब्दों के अर्थ लिखिए तथा वाक्यों में उनका प्रयोग कीजिए :
वयस्क, अग्रगण्य, आजीविका, अवशेष, यातायात, विनिमय, उत्कीर्ण, अस्थिपंजर।

५. निम्नलिखित शब्दों से संबद्ध संज्ञाएँ लिखिए :
धार्मिक, विकसित, परिचित, व्यवस्थित, शासित, विस्तृत।

—

विनोबा भावे

आचार्य विनोबा का पूरा नाम विनायक राव भावे है। इनका जन्म सन् १८९५ ई० में गगोदा ग्राम (महाराष्ट्र) में हुआ था। ये बड़े मेधावी छात्र थे। विद्यार्थी जीवन में इन्होंने गणित और संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। माता की प्रेरणा से इन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर देश-सेवा का व्रत ले लिया।

विनोबाजी बहुत दिनों तक साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी के संपर्क में रहे। इनका जीवन सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर आधृत है। महात्मा गांधी कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा का सच्चा अनुयायी देखना हो तो विनोबा को देखो। महात्माजी ने सन् १९४० ई० के व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए इन्हीं को पहला सत्याग्रही चुना था।

विनोबाजी का मूल जीवन-दर्शन है सर्वोदय। भूदान, ग्रामदान और संपत्तिदान के प्रचार द्वारा ये देश में एक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपने इन्हीं सिद्धातों के प्रचार के लिए, विगत बारह वर्षों से ये सारे देश में पद-यात्रा कर रहे हैं।

ये संस्कृत के गंभीर विद्वान हैं और अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। भारतीय दर्शन इनका प्रिय विषय है। ये गांधीवादी विचारधारा के व्याख्याता हैं। इनकी भाषा इनके विचारों की अनुगामिनी है। इनके छोटे और सरल वाक्यों में चिन्तन तथा अनुभूति का बल रहता है।

विनोबाजी की शैली प्रवचन शैली है। प्रवचन शैली में वक्ता की यह चेष्टा होती है कि वह अपने विचार श्रोताओं के हृदय तक पहुँचा दे। वह भाषण की झड़ी नहीं लगाता, किन्तु बूँद-बूँद करके अपने विचार देता है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

इनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नांकित हैं :—(१) **विनोबा के विचार** (दो भाग), (२) **स्वराज्य-शास्त्र**, (३) **गीता-प्रवचन**, (४) **ईशावास्यवृत्ति**, (५) **सर्वोदय विचार**, (६) **भू-दान-यज्ञ**, (७) **जीवन और शिक्षण**, (८) **स्थितप्रज्ञ दर्शन**।

प्रस्तुत पाठ विनोबाजी की पुस्तक '**जीवन और शिक्षण**' से लिया गया है। विनोबाजी की विचार-पद्धति गीता-दर्शन से प्रभावित है। गीता के अनुसार हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं किन्तु फलप्राप्ति ईश्वर पर निर्भर है। इसी गंभीर विचार की विनोबाजी ने सरल और सहज शैली में व्याख्या की है।

विनोबा भावे

प्रार्थना

ओम् असतो मा सद्‌गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।

हे प्रभो, मुझे असत्य में से सत्य में ले जा । अंधकार में से प्रकाश में ले जा । मृत्यु में से अमृत में ले जा ।

इस मंत्र में हम कहाँ हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहाँ जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है । हम असत्य में हैं, अंधकार में हैं, मृत्यु में हैं । यह हमारा जीव-स्वरूप है । हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है । यह हमारा शिव-स्वरूप है ।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा', ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर प्रयत्न करूँगा', इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना । प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता । यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूँ, और ज़बान से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूँ तो इससे क्या मिलने का ? नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फ़ायदा होना है ? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए । प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती । इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूँगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूँगा ।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए । मैं प्रयत्न करनेवाला हूँ । पर फल मेरी

मुट्ठी में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूँगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मैं सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूँ तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंज़िल पर नहीं पहुँच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूँ, पर अंत में मैं रास्ता काटूँगा कि बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बलबूते मैं मंज़िल पर पहुँच जाऊँगा, यह घमंड फ़िज़ूल है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पास का संपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है ।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किए जा सकते। किन्तु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है, वह ज़रूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्त-संगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीता में सात्विक कर्त्ता का यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' इस प्रार्थना का संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहंकार छोड़कर उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूँगा।' यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज़ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—हे प्रभो, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अंधकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

प्रश्न और अभ्यास

१. "**प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती**" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

२. प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय किस प्रकार होता है ? समझाकर लिखिए ।

३. प्रार्थना का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है ?

४. इस पाठ में **असत्य, अंधकार** और **मृत्यु** शब्दों का प्रयोग किन अर्थों में हुआ है ?

५. प्रस्तुत पाठ से कुछ ऐसे स्थल चुनिए जिनमें प्रवचन-शैली की विशेषताएँ मिलती हैं ।

६. अर्थ स्पष्ट कीजिए :

(क) **"अपने पास का संपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है ।"**

(ख) **"प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता ।"**

सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म सन् १८९५ ई० में चिरगाँव, ज़िला झाँसी (उत्तरप्रदेश) में हुआ था। सन् १९६३ ई० में दिल्ली में इनका देहांत हुआ। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के ये छोटे भाई थे। इनकी प्रतिभा को आरंभ से ही साहित्यिक वातावरण में विकसित होने का अवसर मिला।

सियारामशरणजी की प्रतिभा बहुमुखी है। इन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि प्रायः सभी साहित्यिक विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। **'गोद'**, **'नारी'**, **'अंतिम आकांक्षा'** इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। **'पुण्यपर्व'** और **'उन्मुक्त'** (गीति नाटय) नाटक हैं। **'मानुषी'** कहानी-संग्रह, और **'झूठ-सच'** निबंध-संग्रह है।

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और दर्शन का सियारामशरणजी पर गहरा प्रभाव था जो उनके साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वास्तव में गांधीवादी विचारधारा के ये अन्यतम कलाकार हैं। स्वाध्याय, निरीक्षण और चिन्तन से इनकी रचनाओं में निरंतर निखार आता गया।

'झूठ-सच' संकलन में भावात्मक, विचारात्मक आदि कई प्रकार के निबंध संगृहीत हैं जिनमें कुछ व्यक्तिपरक संस्मरण भी हैं। इन निबंधों में वर्ण्य विषय की विविधता भी पर्याप्त रूप से पाई जाती है; इनमें कुछ निबंध ऐसे हैं जिनमें कथा और निबंध के शैली-तत्त्वों का सुंदर समन्वय मिलता है।

गुप्तजी की भाषा सरल और काव्यमयी है। उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनका शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास सहज एवं अकृत्रिम है।

प्रस्तुत पाठ **'कवि-चर्चा'** का मूल भाव यह है कि छोटे-से-छोटा कवि भी अपने सीमित क्षेत्र में जनता का अनुरंजन करता है। बड़े और छोटे कवि में वही अंतर है जो समुद्र और कुएँ में; पर दोनों ही कल्याणकारी हैं।

सियारामशरण गुप्त

कवि-चर्चा

उस दिन चर्चा छिड़ गई कि हमारे गाँव में कवि कितने हैं। गिनती का काम आसान न था। मंडली में कोई ऐसा न था जो दावा करता कि उसका परिचय सबके साथ है। एक मित्र को कहना पड़ा, सबके सब चोर-डाकुओं को पुलिस भी नहीं जानती। जेलखाने में आकर जो उजागर हो गए हैं, उन्हीं को गिनकर ठीक-ठीक नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जैसी बात इनके विषय में, वैसी ही कवियों के विषय में।

फिर भी, मित्र लोग एक परिणाम पर पहुँच गए। आबादी का प्रति सैकड़ा एक-बटा-दो कवि था। स्त्रियों के अन्तःकरण तक हमारी पहुँच न थी, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा।

इतने अधिक कवियों की उपस्थिति से वहाँ किसी को प्रसन्नता न हुई। जान पड़ा, जैसे उन्हें बहुत पीछे खिसकाकर राजा भोज के ज़माने में पहुँचा दिया गया हो। सामयिक पत्रों को देखकर भी उन्हें ऐसा ही अनुभव हुआ था। नए-नए कवि, नए-नए छंद, नए-नए विषय। कहाँ तक वे देखें, कहाँ तक वे पढ़ें। उनका मतलब यह न था कि इन कवियों में पढ़ने योग्य कुछ नहीं मिलता। कविताएँ हैं तो पढ़ने योग्य क्यों न होंगी? और इन्हें पढ़ना भी चाहिए। न पढ़ने से कवि अपमानित होता है। पर कठिनाई यह थी कि जिसे देखो वही कवि बनकर सामने आना चाहता है। सभी कवि हो जाएँगे तो कविता लिखी किसके लिए जाएगी? सभी के सभी परोसनेवाले बन बैठेंगे, तो आहार करनेवाला कहाँ से आएगा? इतनी अधिकता देखकर हमारे वे मित्र घबराने लगते हैं।

किसी को कितनी ही घबराहट हो, कविताएँ लिखी ही जाती रहेंगी। वे बंद न होंगी। आकाश में जब बादल घुमड़ते हैं, तब अपने आप ही घुमड़ते हैं। यह देखना उनका काम नहीं कि नीचे खेत में कोई बीज उनके स्वागत की तैयारी कर रहा है अथवा नहीं। अवसर आया

और खेत का बीज अपने आप अंकुरित हो उठता है। अंकुरित वह हो क्यों नहीं ? यह सोचकर रुके रहना उसके वश के बाहर है कि कोई उसे देखने आता है अथवा नहीं आता है। इसी तरह अन्न का पौधा जब नई-नई बालों से भर जाता है, तब वह भी मीमांसा करने नहीं बैठता कि आजकल लोगों के हाज़मे का क्या हाल है। बाज़ार की तेज़ी-मंदी के तार मँगाने की बात उसके जी में नहीं उठती। उसे तो भर जाना है, नई-नई बालों से ऊपर तक भर जाना है। यह सब अपने आप होता है। पुरवाई हवा बहती है, बादल उमड़ते हैं, आकाश में इंद्रधनुष आभूषित होता है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें पड़ती हैं, और तब अपने आप ही कंठ का स्वर भी फूट उठता है। इस स्वर में शीतलता हो सकती है पुरवाई हवा की, सघनता हो सकती है बादल की, शोभा हो सकती है इंद्रधनुष की और नृत्यभंगी हो सकती है उन बूँदों की। सब कुछ उसका बाहर से लिया हो सकता है। उसका अपना कुछ न हो यह असंभव नहीं। तब भी कंठ फूट न पड़े तो क्या करे ? प्रकृति के साथ उसका ऐसा ही निजता का संबंध है। यह टूट नहीं सकता। नर और नारी के आकर्षण की भाँति यह अपने आप प्रकट हो पड़ता है।

और सच तो यह है, जितने मनुष्य हैं, उतने ही कवि। बच्चे में मनुष्य की तरह कवि भी निहित रहता है। देखते हैं, बच्चा रोता हुआ पैदा होता है। आगे चलकर उसका रोना शब्दों में बदलता है। कुछ आगे चलकर शब्द भाषा का रूप धरते हैं और इसके भी आगे बढ़ने की बात जब आती है, तब भाषा में कवित्व फूटता है। फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता; एक जगह जो बच्चा है, दूसरी जगह वही कवि।

मानना पड़ेगा, जितने बोलनेवाले हैं, सबके सब वक्ता नहीं होते, वक्ता होने का मौलिक गुण ही उनमें रहता है। इसी नियम के अनुसार सबके जीवन में कवि का रूप प्रकट नहीं होने पाता। प्रकट हो सकता है, इतनी बात है। कागज़ लिखने के लिए बनता है, यह कौन नहीं मानेगा ? फिर भी कुछ कागज़ जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं, कुछ रद्दी में चले जाते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जिनका उपयोग दवा की पुड़ियों में हो जाता है। पर इसके लिए हमें अपनी सराहना करनी चाहिए कि

हम कोरे काग़ज़ ही बनकर इस दुनिया में नहीं आते। हम कुछ अधिक हैं, अर्थात् मनुष्य हैं।

मनुष्य होने के कारण ही जीवन को हम अपार में, अनंत में, फ़ैला हुआ देखना चाहते हैं। हमारी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ की, हमारा शरीर मांसल, हमारे हाथ-पैर मज़बूत—इन्हीं सब बातों को लेकर हम चुप नहीं रह सकते। समस्त की, संपूर्ण की, निश्शेष की अनुभूति अपने में किए बिना हमारी तृप्ति नहीं होती। जब तक हम अपने को सब ओर फैला न देंगे, तब तक हमारा मनुष्यत्व अधूरा रहेगा। इस अधूरेपन से निकलकर पूरे होने की चाहना में ही कवित्व का उदय है। हममें से कौन है, जिसके भीतर इसकी अखंड धारा प्रवाहित न हो? पृथ्वी में एक बित्ता ज़मीन ऐसी नहीं, जिसके तल में अथाह समुद्र नहीं पाया जाता। इसी तरह संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसके भीतर कवित्व का यह अगाध रस लहराता नहीं मिलता। जितने काव्य, जितनी कविताएँ, अब तक लिखी गई हैं, वे सब उसके सामने नगण्य हैं। ऐसी हैं, जैसे किसी अगाध में से कोई छोटा सोता फूट निकला हो।

पर शरीर से मनुष्य ससीम है। वह उसी को लिए बैठा रहे और शेष जो कुछ है उससे निज को विच्छिन्न कर ले तो हीन पड़ता है। यह उसे सुहा कैसे सकता है? अनजान में ही सही उसे अपनी कुलीनता का बोध है। उसे आभास-सा है कि निखिल के साथ उसका सीधा संबंध है। इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है। इसके बिना जैसे वह अकेले में कहीं निर्वासित हो, निष्कासित हो। इसी से जब वह दूर तक फैली हुई स्वच्छ चाँदनी को देखता है, तब क्या उछल नहीं पड़ता? तब क्या उसे यह बोध नहीं होता कि इसी तरह अमल-धवल होकर वह यहाँ, वहाँ और सब जगह बिछ नहीं गया है? तब क्या उसके भीतर के प्रकाश से सराबोर होकर मुँह से 'वाह! वाह!' एक दम निकल नहीं पड़ता? यह उल्लास किसी छंद में बँधा हो या न बँधा हो, यह एक उच्च कोटि की कविता है। चिरकाल के अनंत ओठों से घिसकर भी यह पुरानी नहीं पड़ी। इसकी सहायता से मनुष्य पहुँच जाता है नक्षत्रलोक में, मिल जाता है मेघ-

मंडली में, लहरा उठता है अथाह सागर में। कितनी ही दूरी हो, कितनी ही कठिनाई हो, उसे बाधक नहीं होती। वह अनुभव करता है कि सबके साथ वह एकरूप है। इसी से चाहता यह है कि वह वृक्षों में जाकर पल्लवित हो जाए, लताओं में मिलकर खिल उठे, नदी के बहाव में और घुमाव में दुर्गम और दुरूह की यात्रा कर ले। शरीर उसका ससीम है तो क्या हुआ ? हृदय और मन के पंख लगाकर वह कहीं भी उड़ जाता है। कहीं भी ज्ञात और अज्ञात के घर पहुँचकर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए उसे हिचक नहीं होती।

पर जितना भी यह आनंद है, सब बाहरी है। अपना भी मनुष्य का कुछ होना चाहिए। निजी उसका कुछ न हो तो उसका गौरव गिर जाता है। इसीसे उसके पास अपनी भी व्यक्तिगत कुछ पूँजी है और यह है उसकी वेदना। वह आनंद प्रकाश है तो यह वेदना छाया। एक वह दिन है तो दूसरी यह रात। अर्थात् एक के द्वारा हम दूसरे को पाते हैं। नहीं तो वह पाना पाना नहीं रह जाता। वेदना के घाट पर आकर ही आनंद की धारा तीर्थ-रूप होती है।

इसीसे जब हम किसी की आँख में आँसू देखते हैं तो उसका खारीपन हमारे भीतर के किसी घाव में लगकर चुभता है। इसीसे जब हम किसी का क्रंदन सुनते हैं तो हमें यह नहीं लगता कि यह किसी दूसरे का है। जान पड़ता है, हमारा अपना ही कुछ जैसे यह दूसरे के कंठ से निकल पड़ा हो। 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे की तरह खिसक जाती है और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं। आनंद की उपलब्धि से वेदना की यह उपलब्धि श्रेष्ठ है।

बात यह है कि चाँदनी की निर्मल धारा में जब हम नहाते हैं, तब हम आत्मीय के नाते उसकी शीतलता निस्संकोच ले लेते हैं। लेकर भी देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं होता। हम कुछ दक्षिण पवन नहीं, जो उसके, उस चाँदनी के, कोमल विस्तार पर सुगंधि का लेपन कर सकें। हम न हों तब भी वह मलिन न पड़ जाएगी। पर किसी के आँसू या रुदन के विषय में ऐसा नहीं।

हम न हों, तो किसी के आँसुओं का मूल्य क्या ? जहाँ वे अपने में बरस रहे हैं, वहाँ तो पहले ही सागर या नद हिलोरें ले रहा है।

हमारी मिट्टी में आकर ही किसी के आँसू सफल हैं। हमारे क्षेत्र में आकर ही वे संसार की हरियाली बढ़ाते हैं, फूल और सुगंधि बनकर हँसते और फैलते हैं। दूसरे का रुदन भी हमारे बिना अपना भार अपने आप नहीं झेल सकता। वह निरर्थक हो जाता है। जब वह हमारे भीतर के तंत्र को स्पर्श करता है, तभी उसमें से अपनी रागिनी निखरती है। इसीसे वेदना को आनंद से श्रेष्ठ कहा है। वह दो को एक करती है। उसके कारण हमारी छोटी सीमा टूटती है और हम विराट की ओर बढ़ते हैं और विराट हमारी ओर आता है।

आनंद और वेदना का यह महाकाव्य आदि काल से आज तक प्रत्येक मानव के भीतर रचित और संचित हो रहा है। सभी के सभी इसके कवि और सभी के सभी इसके रसिक और सभी के सभी इसके भोक्ता हैं। यह ठीक है कि कुछ छोटे होते हैं। उन्हें हम 'खद्योत सम' कहते हैं। यह इसलिए कि उनकी अभिव्यक्ति अपने आपके घेरे से आगे नहीं बढ़ती, उतनी के लिए भी उन्हें अँधेरा आवश्यक होता है। और कुछ बड़े होते हैं, ऐसे होते हैं कि उन्हें हम सूर और शशि कह कर अभिनंदित करते हैं। कुछ हो, जाति दोनों की विभिन्न नहीं। क्षण भी काल है और युग भी काल है।

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। छोटा ही बड़े होने का आधार है। बड़े-से-बड़े की प्रीति, विस्तार और अभिव्यक्ति आरंभ में छोटी ही थी। एक युवक याद आ रहा है। उसके अनुराग की मूर्ति अपने पिता के घर है। भादों का महीना है, रात अँधेरी। मूसलाधार पानी बरस रहा है। पथ का, नाले का, नदी का और नद का भेद पकड़ में नहीं आता। सब एकाकार हो गए हैं। युवक रुकता नहीं, चल देता है। किस तरह वह ससुराल के पिछवाड़े पहुँचता है, यह आश्चर्य की बात है। इससे भी आश्चर्य की बात तो यह कि दीवार पर यह रस्सी लटकती है और वह भी रेशम-सी मुलायम और मज़बूत। हो सकता है यह साँप हो, पर युवक तो अजगर जैसे पथ के पेट से निकलकर यहाँ पहुँचा है। वह भय से अतीत है। रस्सी में उसने साँप नहीं देखा, वरन् साँप ही उसके लिए रस्सी बन गया है। छत पर एकांत में वह अपनी अनुरागवती के पास

पहुँचता है। वह चकित होती है, स्तंभित रह जाती है। कहती है— "मुझ-जैसी—मुझ-जैसी न-कुछ के प्रति तुम्हारा यह प्रेम! जिन्होंने भगवान को पा लिया है, वे भी इतनी कड़ी साधना न करते होंगे।" सचमुच युवक का प्रेम क्षुद्र के प्रति था, एक के प्रति था। पर उसी एक ने इस स्थान पर एक ऐसा मणिदीप[1] एक ऐसी जीभ की देहरी के द्वार पर रख दिया, जिसने युग के युग में भीतर और बाहर एक-सा उजाला फैला दिया है। एक क्षण में युवक का 'मानस' किसी एक का न रहकर सबके लिए खुल पड़ा। अभी तक छोटा जो था, वह बड़ा हो गया; और उथला जो था, वह अगाध हो गया; और व्यक्ति जो था, वह समाज और राष्ट्र हो गया। हम छोटों को निराश होने का कारण नहीं। हम सब उसी युवक के अनुयायी हैं। अभी इस घने अँधियारे में जा रहे हैं, इसलिए हमें कोई देख नहीं पाता। यहाँ तक कि हम स्वयं भी अपने को नहीं देख पाते। तब भी हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। चले चलो, बढ़े जाओ! क्या ठीक, आगे कोई हमारे लिए भी वैसा ही मणिदीप हाथ में लिए हो। हम निराश नहीं होंगे, हम आशा का साथ नहीं छोड़ेंगे। आशा जीवन है और निराशा मृत्यु। इस आशावादिता में, वे मित्र भी हमारे सहयोगी हुए बिना न रहेंगे, जो इस छोटे गाँव में हम छोटे-मोटे कवियों की इतनी संख्या देखकर खीज उठे हैं।

और मैं यह मानने को तैयार नहीं कि वे मेरे मित्र स्वयं ही कवि नहीं हैं। मानूँगा, मैंने उनकी कोई छंदोबद्ध-रचना नहीं देखी। फिर भी उनकी कविता का उपयोग नहीं किया, यह किस तरह मान लूँ? मैंने उनका प्यार पाया है, स्नेह पाया है, उनकी झिड़की खाई है, उनका क्रोध पाया है। जो कुछ पाया है, सबका सब हृदय-रस में डूबा हुआ। हृदयरस ही कविता है। जितनी कविताएँ हों, वे सबकी सब छंद में गूँजकर काग़ज़ पर रख दी जाएँ, यह आवश्यक नहीं। सारा

---

[1] तुलसी के इस दोहे की प्रतिध्वनि है:

राम नाम मनिदीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर॥

(संपादक)

का सारा जल घाट के जलाशय में ही बँध जाए और गंगा और यमुना की धारा में ही बहता रहे, यह नहीं हो सकता। थल की सतह पर भी उसका अस्तित्व है। वहाँ वह लहरों में उछलता नहीं मिलता; तट पर क्रीड़ा करता नहीं पाया जाता; प्रवाह के कल-कल में और गंभीर घरघराहट में घूमता, फिरता, दौड़ता और थमककर चलता हुआ नहीं दिखाई देता। वहाँ उसका दूसरा रूप है। वहाँ वह छोटी-छोटी दूब में दूर तक बिछा है, वहाँ वह वृक्षों की हरी-हरी पत्तियों में और डालों में झूलता है, वहाँ वह लताओं के अंचल में रंग-बिरंगा होकर झूमता है। वहाँ वह उद्यान है, वहाँ वह सघन वन है।

पुराने समय के कुछ ही कवियों को हम जानते हैं। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इतने ही कवि उस समय रहे होंगे। इतिहास में थोड़े ही व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, पर उस काल में उनको छोड़कर और कोई न होगा, यह हम नहीं मानते। आजकल की भाँति ही सब कालों में कवि असंख्य रहे हैं और रहेंगे।

पृथ्वी पर कहीं समुद्र है, कहीं खाड़ी है, कहीं गंगा-यमुना है, कहीं झरना है और कहीं सरोवर है। नए-नए घाट और नए-नए तीर्थ। जहाँ ये नहीं हैं, क्या वहाँ लोग प्यासों मरेंगे? वहाँ हम कुएँ के छोटे-से घाट पर ही तृप्त होते हैं। कुएँ का जल ही वहाँ हमें शीतल करता है। कुआँ छोटा हो, तब भी वह हमारे लिए है। वह हमारे लिए आश्वासन है कि कहीं भी उसे पाकर हम जीवित रह सकते हैं। हम छोटे-मोटे कवि इन्हीं कुओं जैसे हैं, जो आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ प्रकट होते हैं। हम अपने प्रति अकृतज्ञ क्यों हों? क्यों हम अपने को निस्सार समझें? बड़े-बड़े तीर्थ कुछ लोगों के लिए, कुछ भाग्यवानों के लिए हैं, क्योंकि वे सब जगह नहीं जा सकते। हम छोटे हैं इसलिए हमें यह रुकावट नहीं। हमारी पहुँच घर-घर है। कहीं भी पहुँचने में हमें प्रयास नहीं पड़ता। और कुआँ कहकर यदि हम अपने को कुछ अधिक कहते हों तो मिट्टी की गगरी होकर भी हम हीन नहीं होंगे। उसका जल और भी शीतल और स्वादिष्ट और सुलभ होगा। वह मांगलिक है।

प्रश्न और अभ्यास

१. संवेदना के द्वारा हम किस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विस्तार करते हैं ? पाठ के आधार पर उत्तर दीजिए ।

२. छोटे-छोटे कवियों का महत्त्व लेखक ने किस रूप में प्रतिपादित किया है ?

३. विषय-प्रतिपादन तथा भाषा की दृष्टि से सियारामशरण गुप्त की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।

४. निम्नलिखित वाक्यों का भाव स्पष्ट कीजिए :

(क) फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता।

(ख) इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है ।

(ग) वेदना के घाट पर आकर ही आनंद की धारा तीर्थरूप होती है ।

(घ) 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे की तरह खिसक जाती है और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं ।

(ङ) हमारी मिट्टी में आकर ही किसी के आँसू सफल हैं ।

५. नीचे 'निस्' का योग तीन शब्दों के साथ निश्', 'निष्' और 'निस्' के रूप में दिखाया गया है । तीनों प्रकार के दो-दो उदाहरण और दीजिए :

निस्+चेष्ट=निश्चेष्ट

निस्+कपट=निष्कपट

निस्+सार=निस्सार

रामवृक्ष बेनीपुरी

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म मुज़फ्फरपुर ज़िले (बिहार) के बेनीपुर गाँव में एक साधारण किसान परिवार में सन् १९०२ ई० में हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहांत हो गया। सन् १९२० ई० में गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने पर ये अध्ययन छोड़ राष्ट्र-सेवा में लग गए। **'रामचरितमानस'** के पठन-पाठन से इनकी रुचि साहित्य की ओर हुई। पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही ये पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के पुरस्कार स्वरूप इन्हें अपने जीवन का एक बड़ा अंश कारागार में बिताना पड़ा। ये **'बालक'**, **'तरुण भारती'**, **'किसान मित्र'**, **'नई धारा'**, आदि अनेक पत्रों का संपादन कर चुके हैं।

उपन्यास, नाटक, कहानी, यात्रा-विवरण, संस्मरण, निबंध आदि सभी गद्य-विधाओं में बेनीपुरीजी की अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका पूरा साहित्य **'बेनीपुरी ग्रंथावली'** के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ निम्नलिखित हैं:

'पतितों के देश में' (उपन्यास), **'चिता के फूल'** (कहानी), **'माटी की मूरतें'** (रेखाचित्र), **'अंबपाली'** (नाटक), **'गेहूँ और गुलाब'** (निबन्ध और रेखा-चित्र), **'पैरों में पंख बाँधकर'** (यात्रा-विवरण) तथा **'जंजीरें और दीवारें'** (संस्मरण) आदि।

बेनीपुरी जी एक कर्मठ देशभक्त हैं; इनका साहित्य इनकी अनुभूतियों और कल्पनाओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। भाषा ओजपूर्ण और सशक्त है। कुछ प्रांतीय शब्द आ जाने पर भी वह खड़ीबोली के परिष्कृत रूप का ही अनुगमन करती है।

'नई संस्कृति की ओर' निबंध में इन्होंने प्रतिपादित किया है कि आर्थिक और राजनीतिक प्रगति सदा एकांगी ही रहेगी। मानव-विकास के लिए संस्कृति के विकास की भी आवश्यकता है। यह कार्य निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिए और इसके लिए साहित्यकारों एवं कलाकारों का सहयोग आवश्यक है।

रामवृक्ष बेनीपुरी

नई संस्कृति की ओर

हिन्दोस्तान आज़ाद हो गया। आज़ाद हिन्दोस्तान का ध्यान एक नए समाज के निर्माण की ओर केन्द्रित हो रहा है।

यह नया समाज कैसा हो ?—उसका मूल आधार कैसा हो, उसका विकास किस प्रकार किया जाए ? हिन्दोस्तान का हर देश-भक्त इन प्रश्नों पर सोच-विचार कर रहा है।

समाज को अगर एक वृक्ष मान लिया जाए, तो अर्थनीति उसकी जड़ है, राजनीति तना; विज्ञान आदि उसकी डालियाँ हैं और संस्कृति उसके फूल।

इसलिए नए समाज की अर्थनीति या राजनीति आदि पर ही हमें ध्यान देना नहीं है बल्कि उसकी संस्कृति की ओर सबसे अधिक ध्यान देना है; क्योंकि मूल और तने की सार्थकता तो उसके फूल में ही है।

फिर इन तीनों का संबंध परस्पर इतना गहरा है कि आप इन्हें अलग-अलग कर भी नहीं सकते। नई अर्थनीति और राजनीति के साथ एक नई संस्कृति का विकास हमारी आँखों के सामने हो रहा है—भले ही हम उसे देख न पाएँ या उसकी ओर से अपनी आँखें मूँद लें।

गत पचास वर्षों के राजनीतिक, आर्थिक संघर्षों ने हमारे दिमाग़ को इतना कुंठित बना दिया है कि संस्कृति की सुकुमार दुनिया हमारी पथराई आँखों के सामने आकर भी नहीं आ पाती।

गेहूँ हमारी आँखों पर इस क़दर छाया हुआ है कि गुलाब को हम देखकर भी नहीं देख पाते।

गेहूँ के सवाल को हल कीजिए, और ज़रूर हल कीजिए, किन्तु किसलिए ? सदा याद रखिए, आदमी सिर्फ़ चारा या दाना खानेवाला जानवर नहीं है।

समाज की सारी साधनाओं की परिणति उसकी संस्कृति में

है। जड़ में खाद-पानी दीजिए, तनों की डालियों की रक्षा कीजिए; किन्तु नज़र रखिए फूल पर।

फूल पर, गुलाब पर, संस्कृति पर।

नए समाज की वह हर योजना अधूरी है, जिसमें नई संस्कृति के लिए स्थान नहीं।

* * *

सूरज डूबने जा रहे थे, उन्होंने कहा कौन मेरे पीछे इस संसार को आलोक देगा ?

चाँद थे, सितारे थे——सब चुप रहे। छोटा-सा मिट्टी का दीया। उसने बढ़कर कहा——देवता, यह भारी बोझ मेरे दुबले कंधों पर।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की यह एक कड़ी है।

जब राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री दूसरी बड़ी-बड़ी योजनाओं में लगे हैं; ओ कलाकारो चलो, हम अपनी परिमित शक्ति से इस क्षेत्र में कुछ काम कर दिखाएँ।

आखिर यह क्षेत्र भी तो हमारा ही है। गुलाब की खेती के माली तो हमीं हैं; फूलों के संसार के भौंरे तो हमीं हैं। हम न करेंगे तो यह काम करेगा कौन ?

हमारी यह गुलाब की दुनिया——फूलों की दुनिया——रंगों की दुनिया——सुगंधों की दुनिया——इतनी सुकुमार, इतनी नाज़ुक दुनिया है कि कहीं अर्थशास्त्रियों के हथौड़े और राजनीतिज्ञों के कुल्हाड़े उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचंद के शब्दों में——'रक्षा में हत्या' न हो जाए !

इसलिए, हमें ही यह करना है। उन्हें कुछ दूर-दूर ही रखना है।

* * *

नई संस्कृति——नए समाज के लिए नई संस्कृति ! किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम पुरानी संस्कृति के निन्दक या शत्रु हैं। पुरानी संस्कृति की सरज़मीन ही पर तो नई संस्कृति की अट्टालिका खड़ी करनी है हमें।

पुरानी संस्कृति से हम प्रेरणा लेंगे, पाठ लेंगे। वह हमारी विरासत है, हम उसे क्यों छोड़ेंगे ?

किन्तु पुरानी संस्कृति नष्ट हो रही है; क्योंकि उसमें सड़न आ गई है--घुन लगा हुआ है। इसलिए नई संस्कृति की रूपरेखा नई होगी ही; नए साधनों को अपनाने से भी हम न हिचकेंगे।

हमारा उद्देश्य होगा, जीवन के हर सांस्कृतिक पहलू का इस प्रकार विकास करना कि हमारा सामाजिक जीवन स्वतंत्रता, समता और मानवता के आधार पर पुनर्गठित हो और वह सौन्दर्य एवं आनंद को पूर्ण रूप से उपलब्ध कर सके।

हाँ, स्वतंत्रता, समता, मानवता। नई संस्कृति के आधार तो यही हो सकते हैं।

किन्तु इसका अर्थ हम सिर्फ़ राजनीतिक और आर्थिक अर्थों में नहीं लगाते। तीसरा शब्द मानवता हमारे उद्देश्य को स्पष्ट और पुष्ट कर देता है।

हम सारी दासताओं से--सारी विषमताओं से मानवों को मुक्त कर उनके परस्पर के संबंध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनंद की उपलब्धि कर पाएगा।

सौन्दर्य और आनंद ! नई संस्कृति को इसी ओर चलना है, बढ़ना है।

आज के समाज में कुरूपता ही कुरूपता है, पीड़ाओं की विविधता है; बहुलता है। हम इसे सुंदर बनाएँगे--हम इसे सुखी बनाएँगे।

लेखकों को, कवियों को, पत्रकारों को हम इकट्ठा करेंगे कि वे परस्पर विचार-विनिमय करके जनता के जीवन के अभावों और अभियोगों का सही चित्रण करें और साहित्य को उस पथ से ले चलें जिसके द्वारा जनता स्वतंत्र और पूर्ण जीवन का उपभोग कर सके।

इतना ही नहीं--जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेंगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृतियों में जनता की इच्छाओं और

आकांक्षाओं को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बनाकर उसे आनंद से परिपूरित करें।

इस तरह हम उन सभी कलाकारों का आह्वान कर रहे हैं जो अपनी लेखनी या कूची, वाणी या वाद्यों द्वारा समाज को 'सत्यं' 'शिवं' 'सुंदरम्' की ओर ले जाने में लगे हैं किन्तु एक व्यापक संगठन न होने के कारण जिनकी साधनाएँ इच्छित फल नहीं दे पा रही हैं।

इनका संगठन करके हम शहरों और गाँवों में ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र खोलना चाहते हैं जिनमें उनकी कलाकृतियों का प्रदर्शन हो सके और जहाँ से नई संस्कृति का संदेश भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा हम देश के कोने-कोने में फैला सकें।

* * *

हम बार-बार जनता पर ज़ोर दे रहे हैं—क्योंकि हमने देखा है और दुःख के साथ अनुभव किया है कि आज की संस्कृति कुछ अभिजात लोगों तक ही सीमित और परिमित है।

नया समाज जनता का समाज होगा; संस्कृति को भी जनता की संस्कृति होना है।

नए समाज का भविष्य महान है; नई संस्कृति का भविष्य महान है।

अब तक की संस्कृति मानवता के सैकड़े एक का भी सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती थी। जो सौ में सौ का प्रनिनिधित्व करेगी, वह कितनी बड़ी चीज़ होगी—कल्पना कीजिए।

कितनी बड़ी चीज़, कितनी रंग-बिरंगी चीज़!

सौ में सौ की इच्छा-आकांक्षा, हर्ष-उल्लास, मिलन-विरह, शौर्य-बलिदान, दया-क्रोध, पीर-रुदन का वह चित्रण और उनकी ही कलम या कूची, वाणी या वाद्य द्वारा।

सदियों से अवरुद्ध निर्झरिणी जब एकाएक शैल श्रृंग से फूट पड़ेगी। युगों से पिंजरबद्ध विहगी जब वन-विटपी की फुनगी पर पर तोलते हुए कलरव कर उठेगी।

कल्पना कीजिए, खुश होइए और आइए हमारे इस सद्उद्योग में हाथ बटाइए।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक ने गेहूँ और गुलाब को किसका प्रतीक माना है ?

२. पुरानी संस्कृति नष्ट क्यों हो रही है ? पाठ के आधार पर उत्तर लिखिए।

३. लेखक ने नई संस्कृति का क्या आधार माना है ?

४. प्रस्तुत पाठ की भाषा-शैली के गुण-दोषों का निर्देश कीजिए।

५. निम्नलिखित अंशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :

(क) हमारी यह गुलाब की दुनिया——फूलों की दुनिया——रंगों की दुनिया——सुगंधों की दुनिया——इतनी सुकुमार, इतनी नाजुक दुनिया है कि कहीं अर्थशास्त्रियों के हथौड़े और राजनीतिज्ञों के कुल्हाड़ उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचंद के शब्दों में——'रक्षा में हत्या' न हो जाए।

(ख) हम सारी दासताओं से——सारी विषमताओं से मानवों को मुक्त कर उनके परस्पर के संबंध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनंद की उपलब्धि कर पाएगा।

(ग) इतना ही नहीं——जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेंगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृतियों में जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बना कर उसे आनंद से परिपूरित करें।

वासुदेवशरण अग्रवा

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का जन्म सन् १९०
संपन्न परिवार में हुआ था। इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय
डी० और डी० लिट० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। ये हिन्दी,
विशिष्ट विद्वान हैं; इतिहास, पुरातत्त्व, भारतीय सं
विशेष विषय हैं। ये अनेक वर्षों तक भारत सरकार के पु
पदों पर कार्य कर चुके हैं और आजकल हिन्दू विश्वविद्या
महाविद्यालय के प्राचार्य हैं।

'पृथिवीपुत्र', **'कल्पवृक्ष'**, **'कल्पलता'**, **'कला और**
संग्रह हैं। कालिदास के **'मेघदूत'** और बाण के **'हर्ष-**
सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। जायसी के **'पदमाव**
व्याख्या' अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ है जिस पर इन्हें साहि
मिल चुका है।

विषय का प्रतिपादन ये स्वाभाविक शैली में करते
प्रति इन्हें मोह नहीं है परंतु इनकी भाषा सरल होते हुए
पांडित्य का परिचय देती है। कहीं-कहीं उसमें सूत्रात्मक
मिलती हैं जो विचारों को केन्द्रित करने में सहायक होत

'राष्ट्र का स्वरूप' इनके **'पृथिवीपुत्र'** निबंध-संग्रह
इन्होंने बताया है कि पृथिवी, जन और संस्कृति तीनों के
का स्वरूप बनता है। पृथिवी के प्रति मातृ-भावना राष्ट्रीय

वासुदेवशरण अग्रवाल

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसनेवाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनंत काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथिवी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथिवी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथिवी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथिवी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुंदरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हज़ारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथिवी से जिस वस्तु का संबंध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसका कुशल-प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथिवी का सांगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनंदप्रद कर्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों में सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथिवी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ानेवाले मेघ जो प्रतिवर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अंतर्गत आने चाहिएँ। उन मेघजलों से परिवर्द्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अंधकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं जिनके कारण वह वसुंधरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा ? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथिवी के गर्भ में पोषण मिला है । दिन-रात बहनेवाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथिवी की देह को सजाया है । हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिए इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यंत आवश्यक है । पृथिवी की गोद में जन्म लेनेवाले जड़-पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यंत सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं । नाना भाँति के अनगढ़ नग विन्ध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उनको जब चतुर कारीगर पहल-दार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुंदरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं । देश के नर-नारियों के रूप-मंडन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है; अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है ।

पृथिवी और आकाश के अंतराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथिवी के चारों ओर फैले हुए गंभीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिएँ । राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोए हुए के समान हैं ।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है । यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए । हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना रीता न रहे । तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूप-मंडन प्राप्त किया जा सकता है ।

जन

मातृभूमि पर निवास करनेवाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग

हैं। पृथिवी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असंभव है। पृथिवी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप संपादित होता है। जन के कारण ही पृथिवी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथिवी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

—भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।

जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमंडल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथिवी के साथ अपने सच्चे संबंध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का संबंध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के संबंध को पहचानता है उसी क्षण आनंद और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृभूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।

—माता पृथिवी को प्रणाम है। माता पृथिवी को प्रणाम है।

यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बंधन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथिवी के साथ माता और पुत्र के संबंध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथिवी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवाभाव पुत्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना संबंध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथिवी पर बसनेवाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच

का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथिवी पर निवास करनेवाले जनों का विस्तार अनंत है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलनेवाले और अनेक धर्मों के माननेवाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो संबंध है उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथिवी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़ कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र को जागरण और प्रगति की एक-जैसी उदार भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनंत होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती हैं तब तक राष्ट्रीय जन का जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिए आज भी अजर-अमर हैं। जन का संततवाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है, जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबंधमात्र है;

संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है । संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि संभव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिए जाएँ तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए । जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है । संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अंतर्निहित है । ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है । भूमि पर बसनेवाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं । जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है । प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है । इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक-पृथक् संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परंतु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है ।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं । जिस प्रकार जल के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है ।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं । आत्मा का जो विश्वव्यापी आनंद-भाव है वह इन विविध रूपों में साकार होता है । यद्यपि बाह्यरूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखाई पड़ते हैं, किन्तु आंतरिक आनंद की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है । जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद-पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनंदित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है ।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छंद जन्म लेनेवाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं में संस्कृति का अमित भंडार भरा हुआ है, जहाँ से आनंद की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचयकाल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है ।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म-विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण किन तत्त्वों से होता है ?

२. पृथिवी को वसुंधरा क्यों कहते हैं ?

३. **"पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथिवी का पुत्र है"**—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

४. प्रयोग के द्वारा निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :

(क) **तादात्म्य, प्रतीक, सूत्रपात, सांगोपांग, अंतराल ।**

(ख) **निम्नलिखित प्रयोगों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :**
निष्कारणधर्म, रूपमंडन, सौन्दर्य-प्रसाधन, संततवाही जीवन ।

५. अधोलिखित उद्धरणों की व्याख्या कीजिए :

(क) **जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते है, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिल कर राष्ट्र में रहते हैं।**

(ख) **जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।**

—

दौलतसिंह कोठारी

डा० कोठारी का जन्म सन् १९०६ ई० में उदयपुर (राजस्थान) में हुआ था तथा इनकी शिक्षा इलाहाबाद और कैम्ब्रिज (इंग्लैण्ड) में हुई। सन् १९३५ ई० में ये दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के शिक्षक नियुक्त हुए। आजकल ये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष हैं। इस आयोग के अध्यक्ष होने से पहले ये प्रतिरक्षा-मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार भी रह चुके हैं। इन्होंने **'परमाणु-विस्फोट और उसके प्रभाव'** नाम से अंग्रेजी में एक ग्रंथ लिखा है जिसमें परमाणु-युद्धों से होनेवाले प्रभावों का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक बरट्रेंड रसेल ने डा० कोठारी को ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखने पर बधाई भेजी थी। इस पुस्तक का जर्मन, जापानी आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

देश के गिने-चुने चोटी के वैज्ञानिकों में डा० कोठारी की गणना है। परंतु विज्ञान के प्रति इनका जितना गहरा विश्वास है आध्यात्मिकता पर भी उतनी ही दृढ़ आस्था है। इनका विश्वास है कि विज्ञान का आध्यात्मिकता, साहित्य और कला के साथ ऐसा सामंजस्य होना चाहिए जिससे विश्वबंधुत्व का प्रसार हो तथा मानव सच्चे अर्थों में संस्कृत, सुखी और संपन्न हो सके। ये प्रत्येक प्रश्न पर राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण से विचार करते हैं। डा० कोठारी ने हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से वैज्ञानिक साहित्य के प्रचार और प्रसार के बुनियादी कार्य—पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण—के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की हैं और आजकल वे भारत सरकार द्वारा नियुक्त पारिभाषिक-शब्दावली-आयोग के भी अवैतनिक अध्यक्ष हैं।

डा० कोठारी अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखते हैं। इनकी शैली सहज और बोधगम्य रहती है; बौद्धिकता के साथ ही भावात्मकता का पुट भी रहता है।

इस निबंध में परमाणु और हाइड्रोजन बमों से होनेवाले प्राणिविनाश का स्पष्ट और रोमांचकारी चित्र अंकित किया गया है। लेखक के अनुसार आज मानव-जाति सर्वनाश के कगार पर खड़ी है, अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में ही मानवता की रक्षा संभव है।
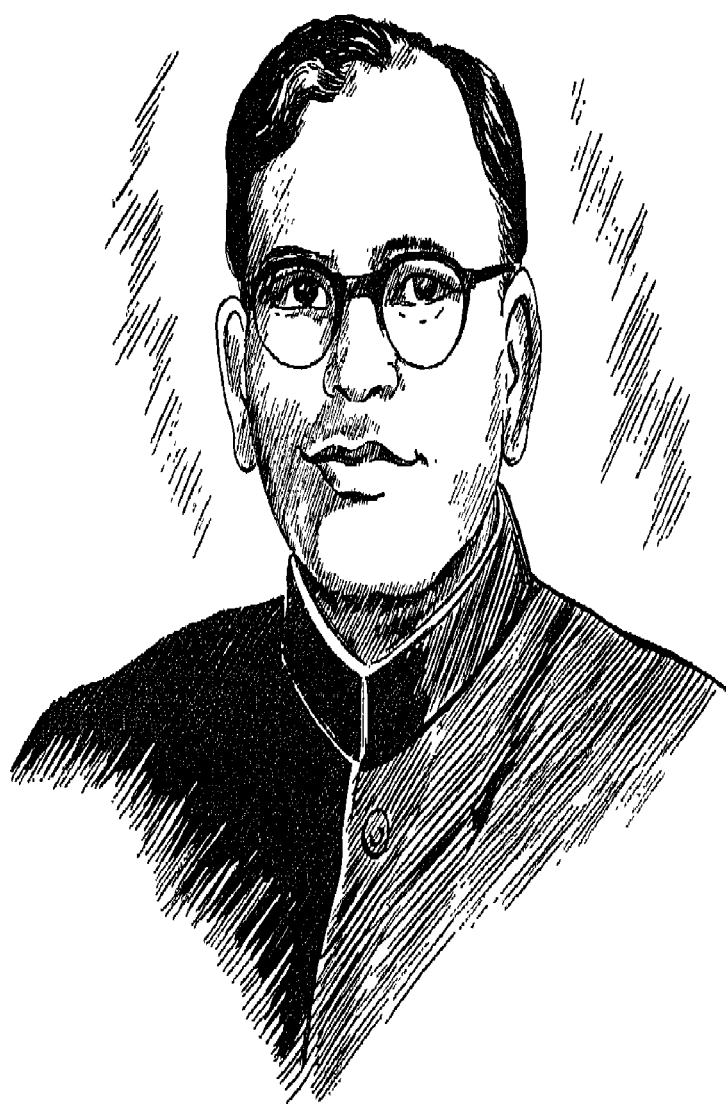
दौलतसिंह कोठारी

परमाणु-विस्फोट और मानव-जाति का भविष्य

"आज हमारे सामने वर्तमान युग की एक ऐसी उलझनभरी, दुस्साध्य और भयानक समस्या उपस्थित है, जिससे बचा नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि क्या हम सदा के लिए युद्ध बंद करने की घोषणा कर सकते हैं, या इसके विपरीत हम मनुष्य-जाति को समूल नष्ट करना चाहते हैं ? यदि हम सदैव के लिए युद्ध से विमुख हो जाते हैं तो हम एक ऐसे सुखी समाज का निर्माण कर सकते हैं जिसमें ज्ञान और विज्ञान की सतत प्रगति हो सकती है। क्या इस स्वर्गीय आनंद के बदले विनाशक मृत्यु को हम इसलिए चाहते हैं, क्योंकि हम अपने झगड़े समाप्त नहीं कर सकते ? हम आपसे मनुष्य होने के नाते, मनुष्यता के नाम पर, यह प्रार्थना करते हैं कि आप सब कुछ भूलकर केवल अपनी मानवता को याद रखें। यदि आप यह कर सकते हैं तो निश्चय ही नए और महान् भविष्य के लिए रास्ता खुला है। किन्तु यदि आपको यह मंजूर नहीं है तो आपके सामने मानव-मात्र की मृत्यु का संकट उपस्थित है।"

उपर्युक्त कथन उस वक्तव्य का अंश है जो जुलाई १९५५ में संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने परमाणु-शक्ति के गलत उपयोग के बारे में दिया था। इनमें विख्यात दार्शनिक बरट्रेंड रसेल और जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० अल्बर्ट आइन्स्टाइन भी थे।

जो बातें उपर्युक्त वक्तव्य में कही गई थीं वे मनुष्य-जाति के लिए आज और भी अधिक लागू होती हैं, क्योंकि आज मानवता परमाणु-विस्फोट रूपी व्यापक और सघन दावानल के मुँह तक पहुँच चुकी है और परमाणु-शक्ति के जाने अथवा अनजाने गलत इस्तेमाल से संपूर्ण मानव-जाति के विनष्ट होने और हमारी सभ्यता के विलुप्त होने का पूरा-पूरा खतरा पैदा हो गया है।

यह भयावह स्थिति इसलिए पैदा हो गई है क्योंकि विज्ञान और राजनीति, व्यवहार तथा नैतिक मूल्यों के बीच पड़ी हुई दरार

तेज़ी से बढ़ती जा रही है जिसके कारण विज्ञान और अध्यात्म, परमाणु और अहिंसा का संतुलन गड़बड़ा गया है। इसलिए आज संपूर्ण मानव-जाति के लिए इस असंतुलन के कारणों की खोज करके उनको ख़त्म करना अनिवार्य हो गया है। जिस तेज़ी से संसार के बड़े राष्ट्रों में परमाणु-अस्त्रों की होड़ बढ़ रही है उसकी गति यदि इतनी ही रही तो मनुष्य जाति के विनष्ट होने का पूरा ख़तरा है।

परमाणु-विस्फोट की भयानक शक्ति का कुछ अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक मल्टी-मेगाटन के परमाणु-विस्फोट से (जैसा कि अमरीका में मार्च १९५४ के और रूस में नवम्बर १९५६ के परीक्षणों के समय हुआ था) इतनी विस्फोटक शक्ति मुक्त होती है जितनी कि आज तक के इतिहास में किए गए कुल विस्फोटों से पैदा हुई है। इसमें द्वितीय महायुद्ध में हुए विस्फोट भी शामिल हैं। यदि एक मेगाटन (मेगा=दस लाख) धारिता के परमाणु बम से मुक्त शक्ति को टी० एन० टी० या बारूद जैसे रासायनिक विस्फोटकों से प्राप्त किया जाए तो इन विस्फोटक पदार्थों का मूल्य ही केवल २० अरब से ३० अरब रुपए तक होगा। इसमें विस्फोटकों को लाने-लेजाने का खर्चा शामिल नहीं किया गया है। इन विस्फोटक पदार्थों की मात्रा का एक अन्दाज़ इस बात से भी लगाया जा सकता है कि एक मेगाटन बम की विस्फोटक शक्ति के तुल्यांक बारूद या टी० एन० टी० को यदि मालगाड़ी के डिब्बों में भरा जाए और उनको एक के बाद एक करके लगाया जाए तो उन सबकी लंबाई कश्मीर से कन्याकुमारी तक की दूरी से कई गुनी होगी। फिर इन रासायनिक विस्फोटों की तुलना में परमाणु विनाशक अस्त्रों को बनाने में लागत कम लगती है। उदाहरण के लिए एक हाइड्रोजन बम की कीमत केवल कुछ करोड़ रुपए ही आती है। इसका कारण यह है कि इन बमों के बनाने के लिए अब ऐसी विधियाँ विकसित कर ली गई हैं जिनमें महँगे यूरेनियम–२३५ के स्थान पर सस्ते यूरेनियम–२३८ का इस्तेमाल किया जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में इस विराट शक्ति से होनेवाले विनाश के अनुमान लगाए गए हैं। अकेला एक हाइड्रोजन बम ही विनाश का

इतना विराट तांडव उपस्थित करता है कि इसके द्वारा होनेवाली मृत्यु-संख्या का अनुमान लगाने के लिए एक नए पैमाने की आवश्यकता होती है जिसको 'मेगा-डेथ' कहते हैं, और जो १० लाख मौतों के बराबर होती है। परमाणु बम से लगभग १० वर्गमील क्षेत्र का ही संपूर्ण विनाश होता है, किन्तु हाइड्रोजन बम से निकली केवल लपटें (ब्लास्ट) और आग ही लगभग एक हज़ार वर्गमील क्षेत्र को नष्ट कर देती हैं। इसके अतिरिक्त १० हज़ार वर्गमील का क्षेत्र उससे निकले स्थानीय फॉल आउट यानी रेडियो-सक्रिय विस्फोट-पदार्थों द्वारा नष्ट हो जाता है। इस तरह एक हाइड्रोजन बम से निकली केवल लपटें और आग ही संसार के बड़े-से-बड़े नगर को नष्ट करने के लिए काफी हैं। यदि १० हज़ार मेगाटन के परमाणु अस्त्रों से अमरीका पर हमला किया जाए तो उसकी पूर्ण जनसंख्या का केवल दसवाँ भाग ही जीवित रह सकेगा, शेष ९० प्रतिशत भाग मारा जाएगा। स्मरण रहे कि इस अनुमान में उस विनाश का हिसाब नहीं लगाया गया जो परमाणु-विस्फोटों से पैदा हुए दूसरे कारणों से होगा। (यह अनुमान अमरीका के सिविल-डिफेंस आर्गनाइज़ेशन के आँकड़ों पर आधारित है।)

भविष्य के परमाणु युद्ध की विनाश लीला केवल युद्ध में रत देशों तक ही सीमित नहीं रहेगी वरन् इसके संहारकारी प्रभावों से तटस्थ देश भी नहीं बच सकेंगे। परमाणु अस्त्रों से मुक्त रेडियो-सक्रिय पदार्थ और विकिरण तटस्थ देशों के वातावरण में भी घुल-मिल जाएँगे जिसके कारण बिना लड़े ही उनकी जनसंख्या का ५ से १० प्रतिशत भाग नष्ट हो जाएगा।

ऐसी भयानक लड़ाई के लिए आज ज़ोरों से तैयारियाँ हो रही हैं। अनुमान किया जाता है कि अब तक दोनों ओर के देशों में इतना कच्चा माल इकट्ठा कर लिया गया है कि उससे लगभग ६० हज़ार मेगाटन शक्ति के परमाणु बम बनाए जा सकते हैं।

इस भयानक स्थिति तक पहुँचने के बाद भी अभी तक हमारी आँखें नहीं खुलीं। तभी तो निस्संकोच परमाणु-विस्फोट-संबंधी परीक्षण होते चले जा रहे हैं। १९६२ के आरंभ तक हुए परीक्षणों

से लगभग ३०० मेगाटन विस्फोटक शक्ति मुक्त हो चुकी है। इसमें रूस द्वारा किए गए कुल परीक्षणों से १७० मेगाटन, अमरीका और इंग्लैण्ड द्वारा किए गए परीक्षणों से १२५ मेगाटन और फ्रांस द्वारा आयोजित परीक्षणों से एक मेगाटन से कुछ कम शक्ति शामिल है। इसमें अमरीका द्वारा १९६२-६३ में किए गए परमाणु परीक्षणों से मुक्त शक्ति शामिल नहीं है जो लगभग ३० मेगाटन के बराबर होगी। परीक्षणों से मुक्त यह शक्ति द्वितीय महायुद्ध में सभी स्रोतों से मुक्त विस्फोटक शक्ति से सैकड़ों गुनी अधिक है। यह हाल तो आज शांति-कालीन परीक्षणों से मुक्त संहारक शक्ति का है, यदि परमाणु युद्ध हो गया तो क्या हाल होगा ?

शांतिकालीन परीक्षणों से ही इतने भयंकर दुष्परिणाम होने-वाले हैं, जो मनुष्य जाति की आँखें खोलने के लिए काफी हैं। अब तक हुए परीक्षणों से जितना स्ट्रोंशियम-९० नामक तत्त्व मुक्त हुआ है केवल वही आने वाले ३० वर्षों में ल्यूकेमिया रोग के रूप में डेढ़ लाख व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बनेगा और इसी अवधि में ५० हजार लोगों की मृत्यु इससे उत्पन्न हड्डी की गिल्टी या बोन-ट्यूमर रोग के कारण होगी। इससे अवशिष्ट प्रभाव से मनुष्य-जाति की मृत्यु-संख्या की दर एक व्यक्ति प्रति दो सप्ताह और बढ़ जाएगी। स्मरण रहे कि हमारे जैसे देश में, जहाँ पर कैलशियम की आवश्यकताएँ वनस्पति स्रोतों से पूरी की जाती हैं, स्ट्रोंशियम-९० के कारण मृत्यु-संख्या और भी अधिक होगी।

परीक्षण से मुक्त रेडियोसक्रिय कार्बन-१४ के कारण ३० लाख मौतें होंगी जिनमें से एक प्रतिशत से कुछ कम यानी १५ हजार अगली पीढ़ी में ही हो जाएँगी। इसके अतिरिक्त इन परीक्षणों से जो रेडियोसक्रिय पदार्थ मुक्त हुए हैं उनके कारण ४ लाख मौतें प्रायः गर्भावस्था में होंगी। इन आँकड़ों से यह ज़ाहिर है कि अब तक जो परीक्षण हुए हैं उनसे होनेवाला विनाश ही काफ़ी भयंकर है। इसलिए स्ट्रोंशियम-९० वातावरण में आज भी किस स्तर तक मौजूद है, इसका अध्ययन ज़रूरी हो गया है।

परमाणु अस्त्रों की विभीषिका आज ऐसी भयानक स्थिति तक

पहुँच गई है कि लड़नेवाले दोनों पक्षों ने हज़ारों मेगाटन शक्ति के परमाणु अस्त्र न केवल बनाकर रख लिए हैं, वरन् उन्हें इस भाँति सजाया हुआ है कि कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों में ही उन्हें पूर्व-निश्चित लक्ष्यों पर छोड़ा जा सकता है।

ये लक्ष्य आमतौर पर या तो बड़े-बड़े नगर हैं या अत्यधिक जन-संख्या वाले क्षेत्र हैं, क्योंकि इनसे एक साथ ही न केवल लाखों-करोड़ों लोगों की मृत्यु होती है वरन् आम जनता का आत्म-विश्वास और नैतिक बल भी समाप्त हो जाता है। विनाश के इस तांडव-नृत्य को मनुष्य पृथ्वी पर ही नहीं, अन्य ग्रहों पर भी ले जाने की कल्पनाएँ करने लगा है—यहाँ तक कि चंद्रमा को भी सैन्य अड्डा बनाकर उससे पृथ्वी के किसी भी क्षेत्र में हाइड्रोजन बमों से सुसज्जित पूर्व निर्दिष्ट प्रेक्षण-अस्त्र छोड़ने की बात भी सैन्य अधिकारियों द्वारा कही गई है। (देखिए–ए० आई० एफ० स्टोंस वीकली, २० अक्तूबर, १९५८)।

आज मनुष्य-जाति एक ऐसे चौराहे पर खड़ी है जहाँ से वह चाहे तो उस मार्ग को चुन सकती है जो विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय से बननेवाली दुनिया की ओर ले जाता है और चाहे तो वह ऐसे रास्ते पर जा सकती है जहाँ संपूर्ण मानव अपने से ही टकरा कर चकनाचूर हो जाएगा। हमें कौन-सा रास्ता चुनना है, यह सोचने में हम जितनी देर लगाएँगे उतना ही संकट बढ़ता जाएगा। यह निश्चित है कि यदि मनुष्य अपने को परमाणु-अस्त्रों के भँवर में फँसने से बचा सका, तो आज उसने अपने प्रयत्नों से ऐसी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हैं जिनके कारण वह शीघ्र ही विराट विश्व का नागरिक बन सकता है।

प्रश्न और अभ्यास

१. परमाणु और हाइड्रोजन बमों के शांतिकालीन परीक्षणों के भविष्य में क्या परिणाम होंगे ?

२. यदि तृतीय महायुद्ध हुआ तो इस विश्व की क्या स्थिति होगी ?

३. विज्ञान को उचित दिशाओं में किस प्रकार मोड़ा जा सकता है ?

४. निम्नलिखित गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :

(क) यह भयावह स्थिति इसलिए पैदा हो गई है क्योंकि विज्ञान और राजनीति, व्यवहार तथा नैतिक मूल्यों के बीच पड़ी हुई दरार तेजी से बढ़ती जा रही है जिसके कारण विज्ञान और अध्यात्म, परमाणु और अहिंसा का संतुलन गड़बड़ा गया है। इसलिए आज संपूर्ण मानव-जाति के लिए इस असंतुलन के कारणों की खोज करके उनको खत्म करना अनिवार्य हो गया है।

(ख) यह निश्चित है कि यदि मनुष्य अपने को परमाणु-अस्त्रों के भँवर में फँसने से बचा सका, तो आज उसने अपने प्रयत्नों से ऐसी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हैं जिनके कारण वह शीघ्र ही विराट विश्व का नागरिक बन सकता है।

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तरप्रदेश) में सन् १९०७ ई० में हुआ था। सन् १९३३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ये प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या नियुक्त हुईं और तब से वहीं कार्य कर रही हैं। इनकी विविध साहित्यिक, शैक्षिक तथा सामाजिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने उनको **'पद्मभूषण'** अलंकार से सम्मानित किया है।

महादेवी जी छायावाद युग की प्रतिनिधि कलाकार हैं। इनकी कविताओं में वेदना का स्वर प्रधान है और भाव, संगीत तथा चित्र का अपूर्व संयोग है।

'स्मृति की रेखाएँ' और **'अतीत के चलचित्र'** में इनका कविहृदय गद्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इन ग्रंथों में इन्होंने कुछ उपेक्षित प्राणियों के चित्र अपनी करुणा से रंजित कर इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं कि हम उनके साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। **'पथ के साथी'** में इस युग के प्रमुख साहित्यिकों के अत्यंत मार्मिक व्यक्ति-चित्र संकलित हैं। **'शृंखला की कड़ियाँ'** में आधुनिक नारी की समस्याओं को प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत कर उन्हें सुलझाने के उपायों का निर्देश किया गया है।

इनकी गद्य-शैली प्रवाहपूर्ण, चित्रात्मक तथा काव्यमयी है और भाषा संस्कृत-प्रधान है। इस शैली के दो स्पष्ट रूप हैं—विचारात्मक तथा भावात्मक। विचारात्मक गद्य में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता है तथा भावात्मक गद्य में कल्पना और अलंकार की।

'घर और बाहर' निबंध का प्रतिपाद्य है—आज की शिक्षित नारी की समस्या : **'घर'** और **'बाहर'** इन दोनों क्षेत्रों को अलग-अलग रखना ही समस्या का मूल कारण है और सामंजस्य ही उसका समाधान है।

महादेवी वर्मा

घर और बाहर

समय की गति के अनुसार न बदलनेवाली परिस्थितियों ने स्त्री के हृदय में जिस विद्रोह का अंकुर जम जाने दिया है, उसे बढ़ने का अवकाश यही घर-बाहर की समस्या दे रही है। जब तक समाज का इतना आवश्यक अंग अपनी स्थिति से असंतुष्ट तथा अपने कर्तव्य से विरक्त है, तब तक प्रयत्न करने पर भी हम अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य नहीं ला सकते। केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् हमारे सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना विशेष कार्य-क्षेत्र चुनने को स्वतंत्र हो। गृह की स्थिति भी तभी तक निश्चित है जब तक हम गृहणी की स्थिति को ठीक-ठीक समझ कर उससे सहानुभूति रख सकते हैं और समाज का वातावरण भी तभी तक सामंजस्यपूर्ण है, जब तक स्त्री तथा पुरुष के कर्तव्यों में सामंजस्य है।

आधुनिक युग में घर और बाहर भी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जो स्त्री के सहयोग की उतनी ही अपेक्षा रखते हैं, जितनी पुरुष के सहयोग की। राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में पुरुष को सहयोग देने के अतिरिक्त समाज की अन्य ऐसी अनेक आवश्यकताएँ हैं जो स्त्री से सहानुभूति और स्नेहपूर्ण सहायता चाहती हैं। उदाहरण के लिए हम शिक्षा के क्षेत्र को ले सकते हैं। हम अपनी आगामी पीढ़ी को निरक्षरता के शाप से बचाने के लिए अधिक-से-अधिक शिक्षालयों की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। आज भी श्रमजीवियों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी अपनी एक विशेष अवस्थावाले छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को ऐसे स्थानों में भेजने के लिए बाध्य होते हैं, जहाँ या तो दंडधारी कठोर आकृति-वाले जीवन से असंतुष्ट गुरुजी या अनुभवहीन हठी कुमारिकाएँ उनका निष्ठुर स्वागत करती हैं। एक विशेष अवस्था तक बालक-बालिकाओं को स्नेहमयी शिक्षिकाओं का सहयोग जितना अधिक

मिलेगा, हमारे भावी नागरिकों का जीवन उतने ही अधिक सुंदर साँचे में ढलेगा। हमारे बालकों के लिए कठोर शिक्षक के स्थान में यदि ऐसी स्त्रियाँ रहें जो स्वयं माताएँ भी हों तो कितने ही बालकों का भविष्य इस प्रकार नष्ट न हो सकेगा जिस प्रकार आजकल हो रहा है। एक अबोध बालक या बालिका को हम एक ऐसे कठोर तथा अस्वाभाविक वातावरण में रखकर विद्वान या विदुषी बनाना चाहते हैं, जो उसकी आवश्यकता, उसकी स्वाभाविक दुर्बलता तथा स्नेह, ममता की भूख से परिचित नहीं, अतः अंत में हमें या डर से सहमे हुए या उद्दंड विद्यार्थी ही प्राप्त होते हैं।

यह निर्भ्रान्त सत्य है कि बालकों की मानसिक शक्तियाँ स्त्री के स्नेह की छाया में जितनी पुष्ट और विकसित हो सकती हैं, उतनी किसी अन्य उपाय से नहीं। पुरुष का अधिक संपर्क तो बालक को असमय ही कठोर और सतर्क बना देता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि बालक-बालिकाओं को स्त्री के अंचल की छाया में ही पालना उचित है तो उनकी प्रारंभिक शिक्षा का भार माता पर ही क्यों न छोड़ दिया जाए। वे एक विशेष अवस्था तक माता की देख-रेख में रहकर तब किशोरावस्था में विद्यालयों में पहुँचाए जाएँ तो क्या हानि है?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल है। मनुष्य ऐसा सामाजिक प्राणी है, जिसे केवल अपना स्वार्थ नहीं देखना है, जिसे समाज के बड़े अंश को लाभ पहुँचाने के लिए कभी-कभी अपने लाभ को भूलना पड़ता है, अपनी इच्छाओं को नष्ट कर देना होता है और अपनी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना पड़ता है। परंतु सामाजिक प्राणी के ये गुण, जो दो व्यक्तियों को प्रतिद्वंद्वी न बनाकर सहयोगी बना देते हैं, तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब उन्हें बालकपन से समूह में पाला जाए। जो बालक जितना अधिक अकेला रखा जाएगा, उसमें अपनी प्रवृत्तियों के दमन की, स्वार्थ को भूलने की, दूसरों को सहयोग देने तथा पाने की शक्ति उतनी ही अधिक दुर्बल होगी। ऐसा बालक कभी सच्चा सामाजिक व्यक्ति बन ही न सकेगा। मनुष्य क्या, पशुओं में भी बचपन के संसर्ग से ऐसा स्नेह-सौहार्द उत्पन्न हो जाता है जिसे

देखकर विस्मित होना पड़ता है। जिस सिंह-शावक को बकरी के बच्चे के साथ पाला जाता है, वह बड़ा होकर भी उससे शत्रुता नहीं कर पाता।

अकेले पाले जाने के कारण ही हमारे यहाँ बड़े आदमियों के बालक बढ़कर खजूर के वृक्ष के समान अपनी छाया तथा फल दोनों ही से अन्य व्यक्तियों को एक प्रकार से वंचित कर देते हैं। उनमें वह गुण उत्पन्न ही नहीं हो पाता जो सामाजिक प्राणी के लिए अनिवार्य है। न उनको बचपन से सहानुभूति के आदान-प्रदान की आवश्यकता का अनुभव होता है न सहयोग का। वे तो दूसरों का सहयोग अन्य आवश्यक वस्तुओं के समान खरीदकर ही प्राप्त करना जानते हैं, स्वेच्छा से मनुष्यता के नाते जो आदान-प्रदान धनी-निर्धन, सुखी-दुःखी के बीच में संभव हो सकता है उसे जानने का अवकाश ही उन्हें नहीं दिया जाता। बिना किसी भेद-भाव के धूल-मिट्टी, आँधी-पानी, गर्मी-सर्दी में साथ खेलनेवाले बालकों का एक-दूसरे के प्रति जो भाव रहता है, वह किसी और परिस्थिति में उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक माता को केवल उसी की संतान का संरक्षण सौंप देने से उसके स्वाभाविक स्नेह को सीमित कर देना होगा। जिस जल के दोनों ओर कच्ची मिट्टी रहती है वह उसे भेद-कर दूर तक के वृक्षों को सींच सकता है, परंतु जिसके चारों ओर हमने चूने की पक्की दीवार खड़ी कर दी है वह अपने तट को भी नहीं गीला कर सकता। माता के स्नेह की यही दशा है। अपनी संतान के प्रति माता का अधिक स्नेह स्वाभाविक ही है, परंतु निरंतर अपनी संतान के स्वार्थ का चिन्तन उसमें इस सीमा तक विकृति उत्पन्न कर देता है कि वह अपने सहोदर या सहोदरा की संतान के प्रति भी निष्ठुर हो उठती है।

बालक-बालिकाओं के समान ही किशोर वयस्क कन्याओं और युवतियों की शिक्षा के लिए भी हमें ऐसी महिलाओं की आ-वश्यकता होगी, जो उन्हें गृहणी के गुण तथा गृहस्थ-जीवन के लिए उपयुक्त कर्तव्यों की शिक्षा दे सकें। वास्तव में ऐसी शिक्षा उन्हीं के

द्वारा दी जानी चाहिए, जिन्हें गृह-जीवन का अनुभव हो और जो स्वयं माताएँ हों। आजकल हमारे शिक्षा-क्षेत्र में विशेष रूप से वे ही महिलाएँ कार्य करती हैं, जिन्हें न हमारी संस्कृति का ज्ञान है, न गृह-जीवन का, अतः हमारी कन्याएँ विवाहित जीवन का ऐसा सुनहला स्वप्न लेकर लौटती हैं जो उनके गृहजीवन को अपनी तुलना में कुछ भी सुंदर नहीं ठहरने देता। संभव है, उस जीवन को पाकर वे इतनी प्रसन्न न होतीं, परंतु उसकी संभावित स्वच्छंदता उन्हें गृह के बंधनों से विरक्त किए बिना नहीं रहती।

जब तक हम अपने यहाँ गृहणियों को बाहर आकर इस क्षेत्र में कुछ करने की स्वतंत्रता न देंगे, तब तक हमारी शिक्षा में व्याप्त विष बढ़ता ही जाएगा। केवल गार्हस्थ्य-शास्त्र या संतान-पालन-विषयक पुस्तकें पढ़कर कोई किशोरी गृह से प्रेम करना नहीं सीख जाती, इस संस्कार को दृढ़ करने के लिए ऐसी स्त्रियों के सजीव उदाहरण की आवश्यकता है, जो आकाश के मुक्त वातावरण में स्वच्छंद भाव से अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक उड़ने की शक्ति रखकर भी बसेरे को प्यार करनेवाले पक्षी के समान कार्य-क्षेत्र में स्वतंत्र, परन्तु घर के आकर्षण से बँधी हों।

स्त्री को बाहर कुछ भी कर सकने का अवकाश नहीं है और बाहर कार्य करने से घर की मर्यादा नष्ट हो जाएगी, इस पुरानी कहानी में विशेष तथ्य नहीं है और हो भी तो नवीन युग उसे स्वीकार न कर सकेगा। यदि किसान की स्त्री घर में इतना परिश्रम करके, खेती के अनेक कामों में पति का हाथ बटा सकती है या साधारण श्रेणी के श्रमजीवियों की स्त्रियाँ घर-बाहर के कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं और उनका घर वन नहीं बन जाता तो हमारे यहाँ अन्य स्त्रियाँ भी अपनी शक्ति, इच्छा तथा अवकाश के अनुसार घर के बाहर कुछ करने के लिए स्वतंत्र हैं। अवकाश के समय का दुरुपयोग वे केवल अपनी प्रतिष्ठा की मिथ्या भावना के कारण ही करती हैं और इस मिथ्या भावना को हम बालू की दीवार की तरह गिरा सकते हैं।

यह सत्य है कि हमारे यहाँ ऐसी सुशिक्षिता स्त्रियाँ कम हैं जो

शिक्षा के क्षेत्र में तथा घर में समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती हों, परंतु यह भी कम सत्य नहीं कि हमने उनकी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर उनके जीवन को पंगु बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी। यदि वे अपनी बहिनों तथा उनकी संतान के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य करें तो घर उन्हें जीवन भर के लिए निर्वासन का दंड देगा, जो साधारण स्त्री के लिए सबसे अधिक कष्टकर दंड है। यदि वे जीवन भर कुमारी रहकर संतान तथा सुखी गृहस्थी का मोह त्याग सकें तो इस क्षेत्र में उन्हें स्थान मिल सकता है अन्यथा नहीं। विवाह करते ही सुखी गृहस्थी के स्वप्न सच्ची हथकड़ी-बेड़ी बनकर उनके हाथ-पैर ऐसे जकड़ देते हैं कि उनमें जीवनशक्ति का प्रवाह ही रुक जाता है। किसी बड़भागी के सौभाग्य का साकार प्रमाण बनने के उपलक्ष्य में वे घूमने के लिए कार पा सकती हैं, पालने के लिए बहु-मूल्य कुत्ते-बिल्ली मँगा सकती हैं और इससे अवकाश मिले तो बड़ी-बड़ी पार्टियों की शोभा बढ़ा सकती हैं, परंतु काम करना, चाहे वह देश के असंख्य बालकों को मनुष्य बनाना ही क्यों न हो, उनके पति की प्रतिष्ठा को आमूल नष्ट कर देता है। इस भावना ने स्त्री के मर्म में कोई ठेस नहीं पहुँचाई है, यह कहना असत्य कहना होगा, क्योंकि उस दशा में विवाह से विरक्त युवतियों की इतनी अधिक संख्या कभी नहीं मिलती। कुछ व्यक्तियों में वातावरण के अनुकूल बन जाने की शक्ति अधिक होती है और कुछ में कम, इसीसे किसी का जीवन निरानंद नहीं हो सका और किसी का सानंद नहीं बन सका। परंतु परिस्थितियाँ प्राय: एक-सी ही रहीं।

आधुनिक शिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ अच्छी गृहणियाँ नहीं बन सकतीं, यह प्रचलित धारणा पुरुष के दृष्टिबिन्दु से देखकर ही बनाई गई है, स्त्री की कठिनाई को ध्यान में रखकर नहीं। एक ही प्रकार के वातावरण में पले और शिक्षा पाए हुए पति-पत्नी के जीवन तथा परिस्थितियों की यदि हम तुलना करें तो संभव है आधुनिक शिक्षित स्त्री के प्रति कुछ सहानुभूति का अनुभव कर सकें। विवाह से पुरुष को तो कुछ छोड़ना नहीं होता और न उसकी परिस्थितियों में कोई अंतर ही आता है, परंतु इसके विपरीत स्त्री के लिए विवाह

मानो एक परिचित संसार छोड़कर नवीन संसार में जाना है, जहाँ उसका जीवन सर्वथा नवीन होगा। पुरुष के मित्र, उसकी जीवनचर्या, उसके कर्तव्य सब पहले जैसे ही रहते हैं और वह अनुदार न होने पर भी शिक्षिता पत्नी के परिचित मित्रों, अध्ययन तथा अन्य परिचित दैनिक कार्यों के अभाव को नहीं देख पाता। साधारण परिस्थिति होने पर भी घर में इतर कार्यों से स्त्री को अवकाश रहता है, संयुक्त कुटुंब न होने से बड़े परिवार के प्रबंध की उलझनें भी नहीं घेरे रहतीं, उसके लिए पुरुष-मित्र वर्ज्य हैं, और उसे मित्र बनाने के लिए शिक्षिता स्त्रियाँ कम मिलती हैं, अतः एक विचित्र अभाव का उसे बोध होने लगता है। कभी-कभी पति के, आने-जाने जैसी छोटी बातों में, बाधा देने पर वह विरक्त भी हो उठती है। अच्छी गृहिणी कहलाने के लिए उसे केवल पति की इच्छा के अनुसार कार्य करने तथा मित्रों और कर्तव्यों से अवकाश के समय उसे प्रसन्न रखने के अतिरिक्त और विशेष कुछ नहीं करना होता, परंतु यह छोटा-सा कर्तव्य उसके महान अभाव को नहीं भर पाता।

ऐसी शिक्षिता महिलाओं के जीवन को अधिक उपयोगी बनाने तथा उनके कर्तव्य को अधिक मधुर बनाने के लिए हमें उन्हें बाहर भी कुछ कर सकने की स्वतंत्रता देनी होगी। उनके लिए घर-बाहर की समस्या का समाधान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है, अन्यथा उनके मन की अशांति, घर की शांति और समाज का स्वस्थ वातावरण नष्ट कर देगी। हमें बाहर भी उनके सहयोग की इतनी ही आवश्यकता है जितनी घर में, इसमें संदेह नहीं।

शिक्षा के क्षेत्र के समान, चिकित्सा के क्षेत्र में भी स्त्रियों का सहयोग वांछनीय है। हमारा स्त्री-समाज कितने रोगों से जर्जर हो रहा है, उसकी संतान कितनी अधिक संख्या में असमय ही काल का ग्रास बन रही है, यह पुरुष से अधिक स्त्री की खोज का विषय है। जितनी अधिक सुयोग्य स्त्रियाँ इस क्षेत्र में होंगी उतना ही अधिक समाज का लाभ होगा। स्त्री में स्वाभाविक कोमलता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है, साथ ही पुरुष के समान व्यवसाय-बुद्धि प्रायः उसमें नहीं रहती, अतः वह इस कार्य को अधिक सहानुभूति तथा

स्नेह के साथ कर सकती है। अपने सहज स्नेह तथा सहानुभूति के कारण ही रोगी की परिचर्या के लिए नर्स ही रखी जाती है। यह सत्य है कि न सब पुरुष ही इस कार्य के उपयुक्त होते हैं और न सब स्त्रियाँ, परंतु जिन्हें इस गुरुतम कर्तव्य के लिए रुचि और सुविधाएँ दोनों ही मिली हैं, उन स्त्रियों का इस क्षेत्र में प्रवेश करना उचित ही होगा। कुछ इनी-गिनी स्त्री-चिकित्सक हैं भी, परंतु समाज अपनी आवश्यकता के समय ही उनसे संपर्क रखता है। उनका शिक्षिकाओं से अधिक बहिष्कार है, कम नहीं। ऐसी महिलाओं में से, जिन्होंने सुयोग्य और संपन्न व्यक्तियों से विवाह करके बाहर के वातावरण की नीरसता को घर की सरसता से मिलाना चाहा, उन्हें प्रायः असफलता ही प्राप्त हो सकी। उनका इस प्रकार घर की सीमा से बाहर कार्य करना पतियों की प्रतिष्ठा के अनुकूल न सिद्ध हो सका, इसलिए अंत में उन्हें अपनी शक्तियों को घर तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे पारिवारिक जीवन में कितनी सुखी हुईं, यह कहना तो कठिन है, परंतु उन्हें इस प्रकार खोकर स्त्री-समाज अधिक प्रसन्न न हो सका। यदि झूठी प्रतिष्ठा की भावना इस प्रकार बाधा न डालती और वे अवकाश के समय का कुछ अंश इस कर्त्तव्य के लिए भी रख सकतीं तो अवश्य ही समाज का अधिक कल्याण होता।

चिकित्सा के समान कानून का क्षेत्र भी स्त्रियों के लिए उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। यदि स्त्रियों में ऐसी बहिनों की पर्याप्त संख्या रहती, जिनके निकट कानून एक विचित्र वस्तु न होता तो उनकी इतनी अधिक दुर्दशा न हो सकती। स्त्री-समाज के ऐसे प्रतिनिधि न होने के कारण ही किसी भी विधान में, समय तथा स्त्री की स्थिति के अनुकूल कोई परिवर्तन नहीं हो पाता और न साधारण स्त्रियाँ अपनी स्थिति से संबंध रखनेवाले किसी कानून से परिचित ही हो सकती हैं। साधारण स्त्रियों की बात तो दूर रही, शिक्षिताएँ भी इस आवश्यक विषय से इतनी अनभिज्ञ रहती हैं कि अपने अधिकार और स्वत्वों में विश्वास नहीं कर पातीं। सहस्रों की संख्या में वकील और बैरिस्टर बने हुए पुरुषों के मुख से इस कार्य को आत्मा का हनन तथा असत्य का पोषण सुन-सुनकर उन्होंने असत्य

को इस प्रकार त्यागा कि सत्य को भी न बचा सकीं। वास्तव में ऐसे विषयों में स्त्री की अज्ञता उसी की स्थिति को दुर्बल बना देती है, क्योंकि उस दशा में न वह अपने अधिकार का सच्चा रूप जानती है और न दूसरे के स्वत्वों का, जिससे पारस्परिक संबंध में सामंजस्य उत्पन्न हो ही नहीं पाता ! वकील-बैरिस्टर महिलाओं की संख्या तो बहुत ही कम है और उनमें भी कुछ ही गृहजीवन से परिचित हैं।

प्रायः पुरुष यह कहते सुने जाते हैं कि बहुत पढ़ी-लिखी या कानून जाननेवाली स्त्री से विवाह करते उन्हें भय लगता है। जब एक निरक्षर स्त्री बड़े-से-बड़े विद्वान से, कानून का एक शब्द न जाननेवाली वकील या बैरिस्टर से और किसी रोग का नाम भी न बता सकने वाली बड़े-से-बड़े डाक्टर से विवाह करते भयभीत नहीं होती तो पुरुष ही अपने समान बुद्धिमान तथा विद्वान स्त्री से विवाह करने में क्यों भयभीत होता है ? इस प्रश्न का उत्तर पुरुष के उस स्वार्थ में मिलेगा जो स्त्री से अंधभक्ति तथा मूक अनुसरण चाहता है। विद्या-बुद्धि में जो उसके समान होगी, वह अपने अधिकार के विषय में किसी दिन भी प्रश्न कर ही सकती है, संतोषजनक उत्तर न पाने पर विद्रोह भी कर सकती है, अतः पुरुष क्यों ऐसी स्त्री को संगिनी बनाकर अपने साम्राज्य की शांति भंग करे। जब कभी किसी कारण से वह ऐसी जीवनसंगिनी चुन भी लेता है तो सब प्रकार के कोमल-कठोर साधनों से उसे अपनी छाया-मात्र बना कर रखना चाहता है, जो प्रायः संभव नहीं होता।

इन कार्यक्षेत्रों के अतिरिक्त स्त्री तथा बालकों के लिए अन्य उपयोगी संस्थाओं की स्थापना कर उन्हें सुचारु रूप से चलाना, स्त्रियों में संगठन की इच्छा उत्पन्न करना, उन्हें सामयिक स्थिति से परिचित कराना आदि कार्य भी स्त्रियों के ही हैं और इन्हें वे घर से बाहर जाकर ही कर सकती हैं। इन सब कार्यों के लिए स्त्रियों को अधिक संख्या में सहयोग देना होगा, अतः यह आशा करना कि ऐसे बाहर के उत्तरदायित्व को स्वीकार करनेवाली सभी स्त्रियाँ परिवार को त्याग, गृह-जीवन से विदा लेकर बौद्ध भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करें, अन्याय ही है। कुछ स्त्रियाँ ऐसा जीवन भी बिता सकती हैं, परंतु

अन्य सबको घर और बाहर सब जगह कार्य करने की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए।

इस संबंध में आपत्ति की जाती है कि जब स्त्री अपना सारा समय घर की देख-रेख और संतान के पालन के लिए नहीं दे सकती तो उसे गृहणी बनने की इच्छा ही क्यों करनी चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण तो हमारे समाज की सामयिक स्थिति ही कर सकती है। स्त्री के गृहस्थी के प्रति कर्तव्य की मीमांसा करने के पहले यदि हम यह भी देख लेते कि आजकल का व्यस्त पुरुष पत्नी और संतान के प्रति ध्यान देने का कितना अवकाश पाता है तो अच्छा होता। जिस श्रेणी की स्त्रियों को बाहर भी कुछ कर सकने का अवकाश मिल सकता है उनके डाक्टर, वकील या प्रोफेसर पति अपने दैनिक कार्य, सार्वजनिक कर्त्तव्य तथा मित्रमंडली से केवल रात के बसेरे के लिए ही अवकाश पाते हैं और यदि मनोविज्ञान से अपरिचित पत्नी ने उस समय घर या संतान की कोई चर्चा छेड़ दी तो या तो उनके दोनों नेत्र नींद से मुँद जाते हैं या तीसरा क्रोध का नेत्र खुल जाता है।

परंतु ऐसी गृहणियों को जब हम अन्य सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिए आमंत्रित करेंगे तब समाज की इस शंका का कि इनकी संतान की क्या दशा होगी, उत्तर भी देना होगा। स्त्री बाहर भी अपना कार्यक्षेत्र बनाने के लिए स्वतंत्र हो और यह स्वतंत्रता उसे निर्वासन का दंड न दे सके, इस निष्कर्ष तक पहुँचने का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री प्रत्येक दशा में सार्वजनिक कर्त्तव्य के बंधन से मुक्त न हो सके। ऐसी कोई माता नहीं होती, जो अपनी संतान को अपने प्राण के समान नहीं चाहती। पुरुष के लिए बालक का वह महत्त्व नहीं है, जो स्त्री के लिए है, अतएव यह सोचना कि माता अपने शिशु के सुख की बलि देकर बाहर कार्य करेगी, मातृत्व पर कलंक लगाना है। आज भी सार्वजनिक क्षेत्रों में कुछ संतानवती स्त्रियाँ कार्य कर रही हैं और निश्चय ही उनकी संतान कुछ न करनेवाली स्त्रियों की संतान से अच्छी ही है। कैसा भी व्यस्त जीवन बितानेवाली श्रांत माता अपने रोते हुए बालक को हृदय से लगाकर सारी क्लांति भूल सकती है, परंतु पुरुष के लिए ऐसा कर सकना संभव ही नहीं है। फिर केवल

हमारे समाज में ही माताएँ नहीं हैं, अन्य ऐसे देशों में भी हैं, जहाँ उन्हें और भी उत्तरदायित्व सँभालने होते हैं। हमारे देश में भी साधारण स्त्रियाँ मातृत्व को ऐसा भारी नहीं समझतीं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि पुरुष पंख काटकर सोने के पिंजरे में बंद पक्षी के समान स्त्री को अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा की बंदिनी न बनाए। यदि विवाह सार्वजनिक जीवन से निर्वासन न बने तो निश्चय ही स्त्री इतनी दयनीय न रह सकेगी। घर से बाहर भी अपनी रुचि, शिक्षा और अवकाश के अनुरूप जो कुछ वह करना चाहे उसमें उसे पुरुष के सहयोग और सहानुभूति की अवश्य ही अपेक्षा रहेगी और पुरुष यदि अपनी वंशक्रमागत अधिकारयुक्त अनुदार भावना को छोड़ सके तो बहुत-सी कठिनाइयाँ स्वयं दूर हो जाएँगी।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखिका के अनुसार आज की शिक्षा बालिकाओं को गृहस्थ-जीवन से विरक्त क्यों बना देती है?

२. गृहस्थ जीवन के बाहर समाज के किन क्षेत्रों में नारी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है?

३. सामाजिक जीवन को संतुलित और सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिए लेखिका ने क्या परामर्श दिए हैं?

४. निम्नलिखित शब्दों के विपर्यय दीजिए :
निरक्षर, अनभिज्ञ, नीरसता, उपयुक्त, विरक्त।

५. नीचे दिए शब्दों का संधि-विच्छेद कीजिए :
निरंतर, निरानंद, निरक्षर, अनुदार, अनभिज्ञ।

६. निम्नलिखित उद्धरण की व्याख्या कीजिए :

इस संस्कार को दृढ़ करने के लिए ऐसी स्त्रियों के सजीव उदाहरण की आवश्यकता है जो आकाश के मुक्त वातावरण में स्वच्छंद भाव से अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक उड़ने की शक्ति रख कर बसेरे को प्यार करनेवाले पक्षी के समान कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र, परंतु घर के आकर्षण से बँधी हों।

नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र का जन्म अतरौली, ज़िला अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश) में सन् १९१५ ई० में हुआ था। ये अंग्रेज़ी तथा हिन्दी-साहित्य के एम० ए० हैं। आगरा विश्व-विद्यालय से इन्होंने सन् १९४७ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्राप्त की। आरंभ में, कुछ वर्षों तक, दिल्ली के कॉमर्स कालेज में अंग्रेज़ी साहित्य का अध्यापन किया; फिर आकाशवाणी में हिन्दी-समाचार-विभाग के अधीक्षक रहे और आजकल ये दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

नगेन्द्र जी ने कवि-रूप में साहित्य में प्रवेश किया पर शीघ्र ही **समालोचना** इनका विशेष क्षेत्र बन गई। **'सुमित्रानंदन पंत'** इनकी पहली आलोचना-पुस्तक है। इसके उपरांत **'साकेत : एक अध्ययन'**, **'आधुनिक हिन्दी नाटक'**, **'विचार और अनुभूति'**, **'रीतिकाव्य की भूमिका'**, **'देव और उनकी कविता'**, **'अनुसंधान और आलोचना'**, **'आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ'**, **'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका'**, **'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ'** आदि इनके अनेक आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने **'अभिनवभारती'**, **'ध्वन्यालोक'** आदि ग्रंथों के हिन्दी-भाष्यों का संपादन किया है और इन ग्रंथों की मार्मिक भूमिकाएँ लिखी हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित **'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास'** के षष्ठ भाग का संपादन भी इन्होंने किया है।

नगेन्द्र जी काव्यशास्त्र, रीति-साहित्य और आधुनिक काव्य के मर्मज्ञ आलोचक हैं। तत्त्वचिन्तक होने के साथ ही इन्होंने कवि-हृदय भी पाया है। इनकी चिन्तन-शक्ति जहाँ कवि की कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण और उपयुक्त मूल्यांकन करने में समर्थ है वहाँ इनकी भावुकता सहज ही कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

शास्त्रीय आलोचना के अतिरिक्त नगेन्द्र जी के कुछ ऐसे निबंध भी हैं जिनका मूल स्वर वैयक्तिक है। वहाँ वे आलोचक की गंभीर मुद्रा छोड़ जीवन के उल्लासपूर्ण क्षेत्र में विचरण करने लगते हैं।

इनकी शैली सतर्क एवं प्रखर है। ऐसा प्रतीत होता है लेखक प्रत्येक शब्द का नाप-तोल कर प्रयोग कर रहा है। प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अंग-उपांग-सहित व्यवस्थित और सुगठित रहता है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने यह स्थापित किया है कि भाषागत विभिन्नताएँ होते हुए भी संपूर्ण भारतीय साहित्य मूलतः एक है।

नगेन्द्र

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है---जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिन्धी, कोंकणी, तुरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषत: पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङमय का संचयन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङमय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनंत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भांडार---हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्टच है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं। किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्टच कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है : सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं, परंतु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है। यही बात बंगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०), और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रंथ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बंगला के चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अंत के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लादचरित' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोक-गीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका

उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरंभ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्राय: समान ही हैं। प्राय: सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्व-मध्यकाल की समाप्ति मुग़ल-वैभव के अंत अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंग्रेज़ी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरंभ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्राय: समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानांतर विकास-क्रम का आधार अत्यंत स्पष्ट है और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुग़ल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ संपर्क बना रहा। मुग़लों की सत्ता खंडित हो जाने के बाद भी यह संपर्क टूटा नहीं। मुग़ल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामंतीय शासन-प्रणाली प्राय: एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय

सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धांत-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन संप्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-संप्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफ़ी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-संप्रदाय वेदांत-दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफ़ी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सफ़ी संतों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश-भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनंदमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाए और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से

योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है। विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ संपर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नए जीवन की बौद्धिक कुंठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नए प्रयोग और अंत में स्वतंत्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार——यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङमय के विकास की रूप-रेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य——अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अमर ग्रंथ——नाटयशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रस-गंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरंतर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यंत समन्वयकारी रहा है और इनसे

प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है, किन्तु काव्य-शैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियाँ—महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश-परंपरा की भी अनेक शैलियाँ, जैसे चरित-काव्य, प्रेमगाथा-शैली, रास, पद-शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छंदों के अतिरिक्त अनेक देशी छंद—दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छंदों का—जैसे प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदों, संबोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी और मुक्त-छंद, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यंत निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली

में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बंगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परंपरा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-काव्य में घटनेवाली आकस्मिक या ऐकांतिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पंद्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बड़गीतों में अत्यंत मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यों का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं——कश्मीरी, सिन्धी, पंजाबी, और उर्दू—— में विद्यमान तत्संबंधी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरितमानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृद्गत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहाँ के कृष्ण-

काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंत:साहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जाएगा और उधर भारतीय चिन्ताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखंड एकता का उद्‌घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत तक ही सीमित है, प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाए। पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमें तो रूपांतर, यहाँ तक कि लिप्यंतर भी, आवश्यक नहीं है। जैसे, बंगला और असमिया में या हिन्दी और मराठी में, या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यंतर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अंत:साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरंभिक अवस्था में ही है। इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने-आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस

प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

प्रश्न और अभ्यास

१. भारत में **"राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है"** लेखक के इस विचार को स्पष्ट कीजिए।

२. लेखक के अनुसार भारतीय साहित्य की एकता के मूल तत्त्व क्या हैं ?

३. पूर्व और पश्चिम के संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म किस प्रकार हुआ ?

४. इस पाठ से उदाहरण देकर लेखक की भाषा-शैली की विशेषताएँ बताइए।

५. निम्नलिखित उद्धरण का भाव स्पष्ट कीजिए :

जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास धीरे-धीरे हो रहा है।

टिप्पणियाँ

मदालसा

गंधर्व	—संगीत के लिए प्रसिद्ध देव-जाति-विशेष ।
तुंबरू	—एक प्रसिद्ध गंधर्व ।
साष्टांग दंडवत	—आठ अंगों के योग से किया जाने वाला प्रणाम । ये आठ अंग हैं—सिर, हाथ, पैर, आँख, जाँघ, हृदय, वचन और मन ।
विद्याधर	—एक कलाविद देव-जाति ।

बातचीत

पुलपिट	—(अंग्रेज़ी) वेदिका, सभामंच ।
पुण्याह्वाचन	—स्वस्तिवाचन, मंगलाचरण ।
नांदीपाठ	—वह मंगल-श्लोक जिसका पाठ सूत्रधार नाटक के आरंभ में करता है ।
रॉबिनसन क्रूसो	—डेनियल डिफ़ो (सन् १६६०-१७३१ ई०) नामक अंग्रेज़ लेखक की पुस्तक का नायक ।
फ्राइडे	—'र बिनसन क्रूसो' पुस्तक का एक जंगली पात्र । फ्राइडे क्रूसो को शुक्रवार के दिन मिला था, इसीलिए उसने इसका नाम फ्राइडे (शुक्रवार) रख दिया था ।
फार्मैलिटी	—(अंग्रेज़ी) औपचारिकता ।
शेक्सपियर	—(सन् १५६४-१६१६ ई०) विश्वविख्यात अंग्रेज़ कवि और नाटककार ।
मिल्टन	—(सन् १६०८-१६७४ ई०) 'पैराडाइज़ लॉस्ट' महाकाव्य का रचयिता एक अंग्रेज कवि ।
स्पेन्सर	—प्रख्यात अंग्रेज़ दार्शनिक ।
हम चुनीं दीगरे नेस्त	—(फ़ारसी) हम जैसा दूसरा नहीं है ।
रसाभास	—रस और भाव यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुए हों तो उन्हें यथाक्रम रसाभास और भावाभास कहते हैं । "अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः"—(२६२ श्लोकः तृतीय परिच्छेद, साहित्यदर्पण)

बरकाना —बचाना।
सर्फ़राज़ —कृतार्थ।

हमारे साहित्य की विशेषताएँ

ऐहिक —इस लोक का।

श्री सत्यनारायण कविरत्न

मालतीमाधव —संस्कृत के नाटककार भवभूति का प्रसिद्ध नाटक। सत्यनारायण कविरत्न ने इसका हिन्दी-अनुवाद किया है।
पारिजात —पाँच देव-वृक्षों में से एक।

जीवन में साहित्य का स्थान

टॉम काका की कुटिया —अमरीकी उपन्यास 'अंकिल टॉम्स केबिन' का हिन्दी-अनुवाद जिसमें दास-प्रथा का विरोध किया गया है। इसकी लेखिका हैं श्रीमती हैरियट एलिज़ाबेथ।

मजदूरी और प्रेम

ब्रह्माहुति —वैदिक साहित्य में ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्मा न सृष्टि के लिए अपनी आहुति दी।
ऋषियों ने देखा था सुना न था—ऋषि द्रष्टा को कहते हैं। "ऋषिस्त्रिकालदर्शी स्यात्", "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः"
ध्रुपद —एक गान-शैली।
मल्हार —एक राग जो वर्षा ऋतु में गाया जाता है।
जोन ऑफ आर्क —(सन् १४१२-१४३१ ई०) फ्रांस की एक देशभक्त वीरांगना।
टाल्सटाय —(सन् १८२८-१९१० ई०) विश्वविख्यात रूसी साहित्यकार।
उमरखैयाम —(सन् १०४८-११३१ ई०, अनुमित) फ़ारस के एक प्रसिद्ध कवि जिनकी रुबाइयाँ प्रसिद्ध हैं।
रस्किन —(सन् १८१९-१९०० ई०) कला, अर्थशास्त्र,

समाजशास्त्र आदि विषयों का प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ।

उत्साह

मुद्राराक्षस नाटक —संस्कृत-नाटककार विशाखदत्त का एक प्रसिद्ध नाटक । भारतेन्दु ने हिन्दी में इसका अनुवाद किया है ।

शेर का शिकार

बाइसन —एक जंगली भैंसा ।
राँझ —झाड़ी ।
डाँग —घना जंगल ।
झाँस —झाड़ियों का समूह ।
गुल्ले —पौधे ।
फेकरना —शब्द करना ।
तिफंसा —तीन शाखाओं से बना हुआ आश्रय ।
झांक —मचान का वह छेद जो झाँकने को बनाया जाता है ।
पतोखी —एक प्रकार की चिड़िया जो रात में बोलती है ।
छोहें —शेर के शरीर की धारियाँ ।
छपके —बाँस के चीरे हुए लंबे पतले टुकड़े ।
खिसारा —लंबे दाँतोंवाला ।
उचाट —उछाल ।

प्रकृति-सौन्दर्य

सहकार —आम
शैवालिनी —नदी
मधुव्रत —भौंरा
कांचनीय —कंचनवर्ण की

सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष

सार्थ — कारवाँ ।

प्रार्थना

मुक्तसंग — संग अथवा आसक्ति रहित; अनासक्त

राष्ट्र का स्वरूप

निष्कारण धर्म — ऐसा कर्तव्य जिसमें स्वार्थ आदि की कोई भावना नहीं रहती।

संततवाही — सदा प्रवाह में रहने वाला। स्थायी।

कबंध — सिर-रहित धड़।

परमाणु-विस्फोट और मानव-जाति का भविष्य

मेगाटन — १० लाख टन।

मल्टी मेगाटन — १० लाख टन का बहुगुणित परिमाण।

टी. एन. टी. — इसका पूरा नाम 'ट्राई नाइट्रो टौल्यून' है। प्रथम विश्व युद्ध में यह तोप के गोलों में विस्फोटक की तरह इस्तेमाल किया गया था। आजकल इसका अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर विस्फोटक की तरह प्रयोग किया जाता है।

कार्बन-१४ — कार्बन एक मौलिक तत्त्व है। पत्थर का कोयला अधिकांश में कार्बन ही है। अधिकांश तत्त्वों के परमाणु सभी बातों में समान नहीं होते। 'कार्बन-१४' और 'कार्बन' में भी यही अंतर है। रासायनिक दृष्टि से इन दोनों के परमाणु समान होते हुए भी इन दोनों के परमाणुओं का भार अलग-अलग है।

यूरेनियम-२३५ और यूरेनियम-२३८ — यूरेनियम एक धातु होती है। इसमें भी रासायनिक दृष्टि से समान पर भार में अलग-अलग परमाणु होते हैं। यूरेनियम-२३५ और यूरेनियम-२३८ ऐसे ही परमाणु वाले तत्त्व हैं। इनके परमाणु रासायनिक दृष्टि से समान होते हैं। मुख्य अंतर उनके भार में होता है। यूरेनियम-२३५ यूरेनियम-२३८ से कुछ हल्का होता है।

फॉल-आउट — परमाणु-विस्फोट से निकले रेडियो-सक्रिय पदार्थों के कणों के आकाश से पृथ्वी पर गिरने को 'फॉल आउट' कहते हैं।

रेडियो-सक्रिय विस्फोट पदार्थ — परमाणु-भंजन प्रक्रिया द्वारा परमाणु-विस्फोट से मुक्त रेडियो-सक्रिय पदार्थ।

स्ट्रोंशियम-९०	— स्ट्रोंशियम कैल्शियम वर्ग की एक धातु है। स्ट्रोंशियम-९० काफ़ी लंबे समय तक अपनी रेडियो-सक्रियता को क़ायम रखता है। इसलिए यह स्वास्थ्य के लिए बड़ा खतरा है क्योंकि यह मनुष्य की विशेषकर बढ़ती हुई हड्डियों में से कैल्शियम निकाल कर उनको कमज़ोर बना देता है।
ल्यूकेमिया	— यह एक घातक रोग है। इसके कारण रक्त में श्वेताणु बढ़ जाते हैं और रक्त के लाल कोषाणु कम हो जाते हैं।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

मुद्रांकित	— छाप से युक्त।
स्वारूप्य	— व्यक्तित्व, वैशिष्ट्य।
इलियट	— टी. एस., जन्म सन् १८८८ ई०; आधुनिक अंग्रेज़ कवि और आलोचक। इन्हें सन् १९४८ ई० में नोबेल पुरस्कार मिला।
रिक्थ	— विरासत।
कालिदास	— संस्कृत के कवि और नाटककार।
बाण	— हर्षवर्धन के राजकवि : कादंबरी के रचयिता।
श्रीहर्ष	— नैषध काव्य के रचयिता, संस्कृत-कवि।
अमरुक	— संस्कृत के प्रख्यात मुक्तक कवि।
जयदेव	— संस्कृत-कवि, 'गीतगोविन्द' के रचयिता।
नाट्यशास्त्र	— भरत द्वारा प्रणीत नाट्यविषयक प्रसिद्ध शास्त्र।
ध्वन्यालोक	— आनंदवर्धन-रचित काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रंथ।
काव्यप्रकाश	— मम्मट का प्रसिद्ध ग्रंथ जिसमें काव्य के विविध अंगों का विवेचन है।
साहित्यदर्पण	— कविराज विश्वनाथ का लिखा प्रसिद्ध काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ।
रसगंगाधर	— पंडितराज जगन्नाथ का लिखा प्रसिद्ध काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ।

A Panic
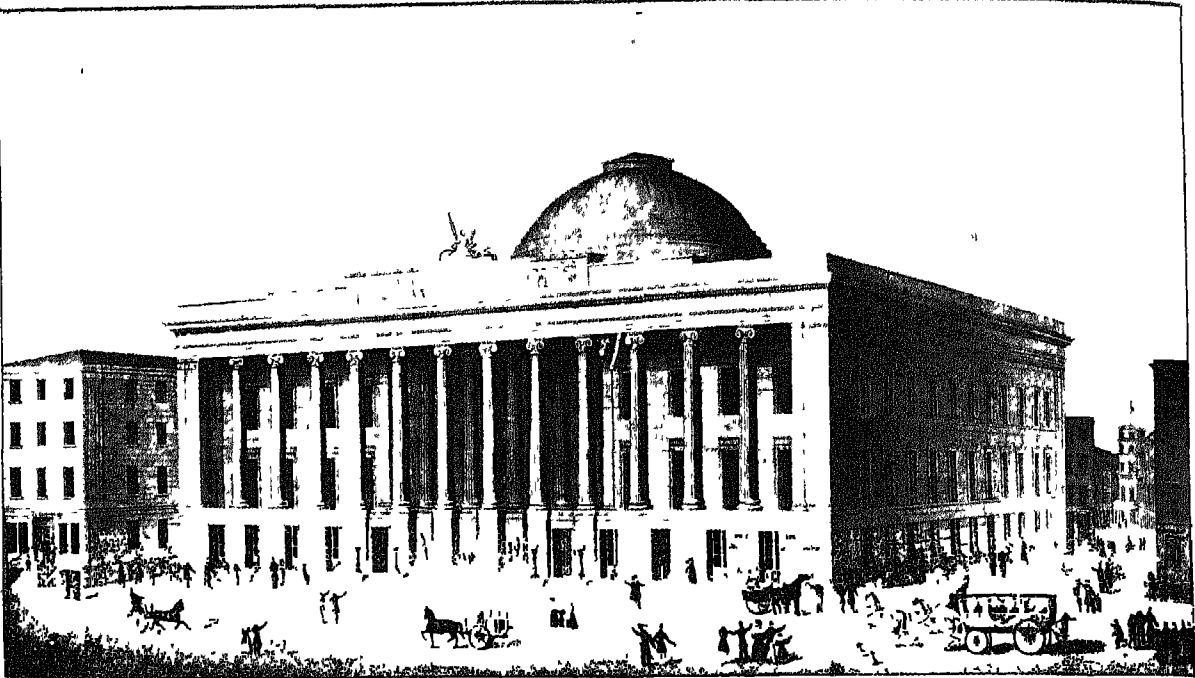
Courtesy Eno Collection, The New York Public Library

With the failure of mercantile establishments, banks could not meet the demand for gold and silver coins, and soon specie payments were suspended

Courtesy, Chase Bank Collection of Moneys of the World, New York

There being no coins available for paying wages or debts, business institutions and even municipalities began issuing private notes which circulated like money.
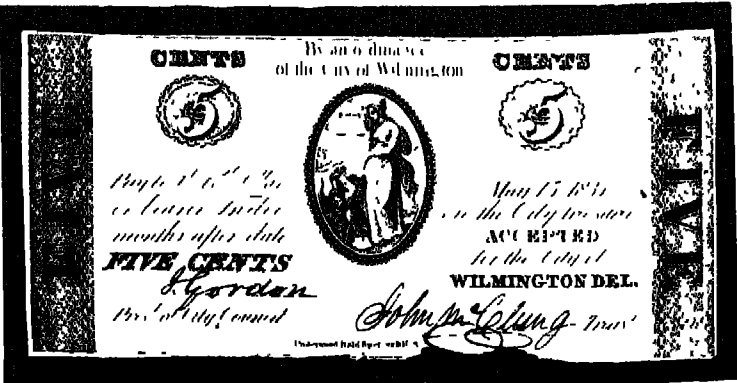
Courtesy Chase Bank Collection of Moneys of the World, New York

Industry

The financial depression quickly extended to the industries of the country—
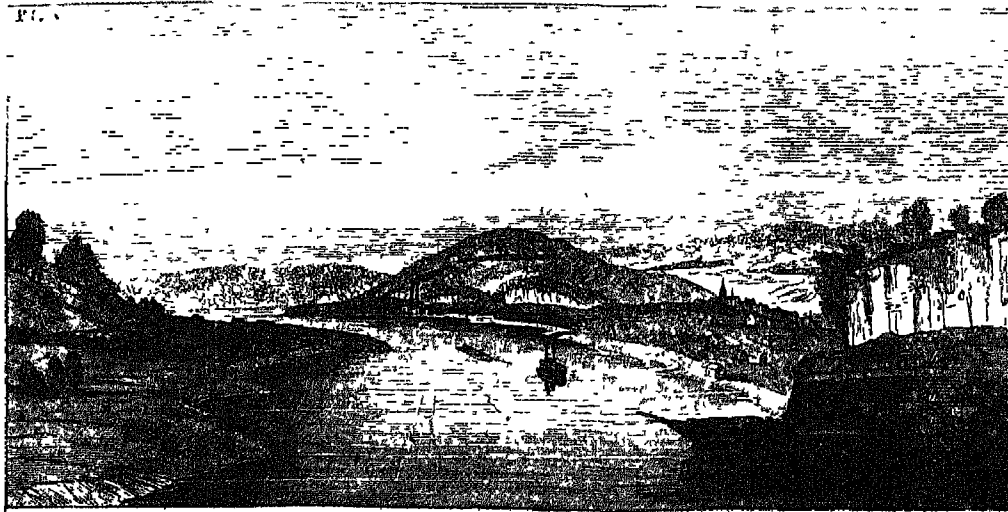
Coal Mines

View of the great Coal Seam on the Monongahela at Brownsville, Pennsylvania.

Charles Lyell, *Travels in North America, 1811-1842* 1845

Salt Works

The view *opposite* is in present West Virginia, which was, at the time of the picture, a part of Virginia.

View of the Salt-Works on the Kanawha.

Henry Howe, *Historical Collections of Virginia* 1849

Lead Mines

Courtesy, Chicago Historical Society, Ill

Lead-Bearing Rocks and Furnace near Galena, Ill.

Transatlantic Steamships

In the midst of the economic disruption, there occurred an event of great economic significance. On April 22, 1838, the British steamer *Sirius* arrived at New York from London—the first ship propelled wholly by steam to reach the United States from Europe It had crossed the Atlantic in 16½ days.

The following day, another steamship from England, the *Great Western*, arrived in New York Harbor.
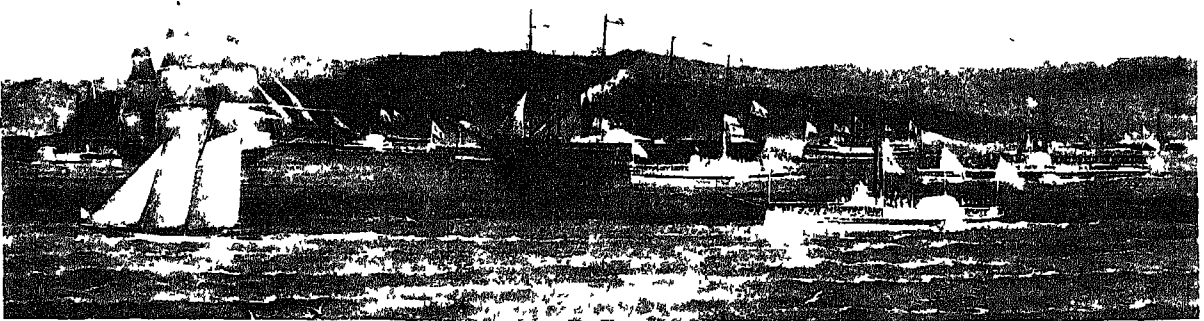
The Arrival of the *Great Western* at New York, April 23, 1838
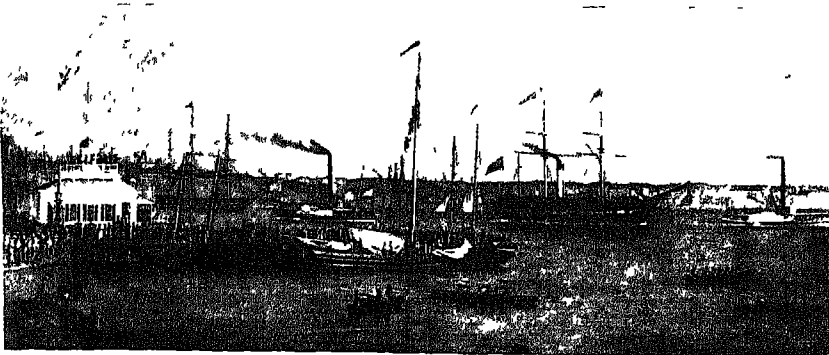
With the arrival at New York in 1839 of the *British Queen*, built expressly for such service, transatlantic steam transportation became an established fact.

Left, The *British Queen* Arriving at New York, July 28, 1839
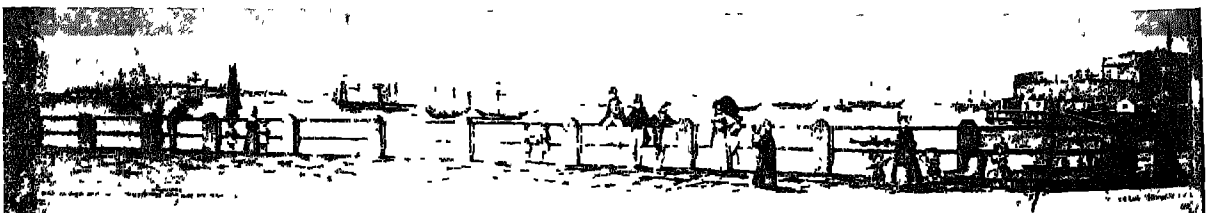
Bay of New York from the Battery. 1838

All illustrations shown on this page are through the courtesy of the Stokes Collection, The New York Public Library

Whaling

From Nantucket, New Bedford, Sag Harbor and other ports, whaling ships went forth in search of whale oil and whale bone. Often these ships were out as long as four or five years on a single voyage. By 1846, there were more than 700 American whaling ships at sea, and New Bedford was the whaling capital of the world.

Courtesy, Allan Forbes, Esq

Capturing a Sperm Whale

The view *above* is from a painting by William Page made from a sketch by C B Hulsart, who lost an arm in the Pacific fisheries while aboard a ship out of New London.

Right Whaling scene in the California Lagoons

Charles M Scammon, *The Marine Mammals of the North Western Coast of North America* 1874

Below.
Sperm Whale

Charles M Scammon, *The Marine Mammals of the North Western Coast of North America* 1874

Opposite
Heavy draft whaler being carried over the shoal at entrance to Nantucket

Courtesy, Captain John A Cook
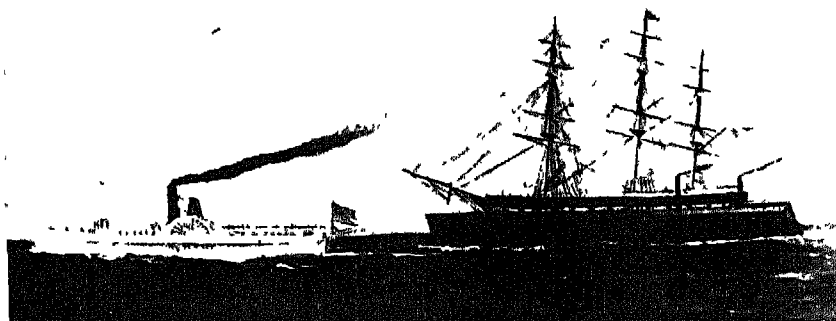
Railroads, Inclined Planes and Canals

Courtesy, The Historical Society of Pennsylvania, Philadelphia

View of North Queen Street, Philadelphia 1843

Opposite
Inclined plane near Philadelphia 1840.

From a lithograph by J T Bowen
Courtesy Transportation Library,
University of Michigan Ann Arbor

Opposite
View of Northumberland with the Pennsylvania State Canal in the foreground 1842.

Ladies Repository August, 1842

Bridges, Waterpower and Rafts

Below is shown the Tonnewanta Railroad Bridge across the Erie Canal at Rochester, N. Y., in 1837. Note the locomotive and coach entering the bridge, and the canal boat being towed along below.
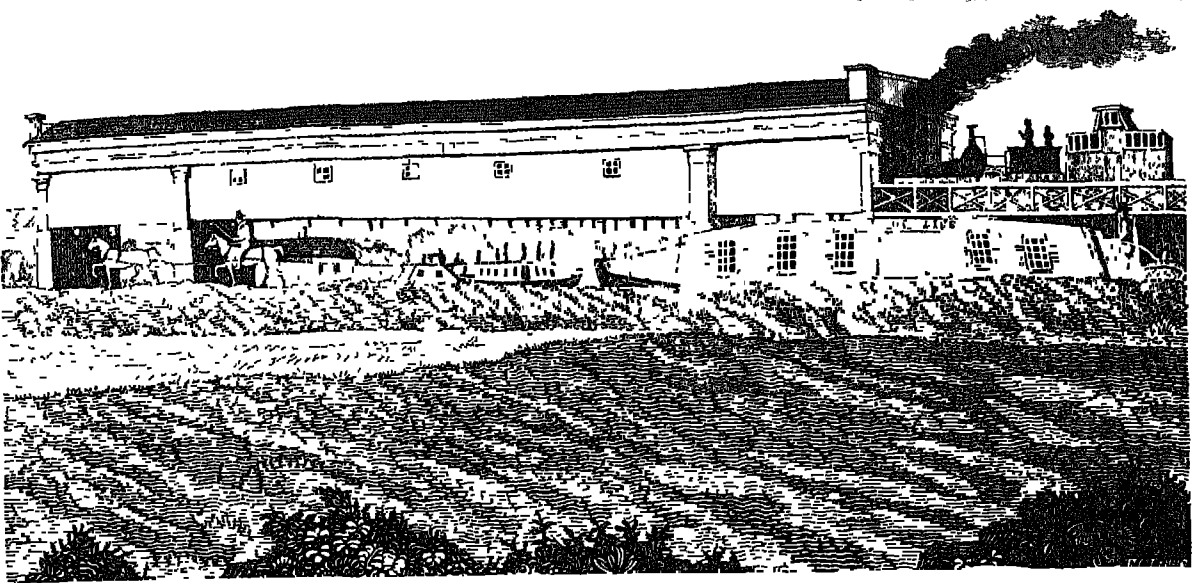
Henry O Reilly, *Sketches of Rochester* 1838

Opposite. View of the falls of the Genesee River at Rochester, N. Y., about 1838. The falls provided the water power that contributed greatly to Rochester's rapid growth and economic importance

From an engraving by J Cousen, from a sketch by W H Bartlett
Courtesy, Rochester Historical Society, N Y

Opposite. Rafts descending the Susquehanna River and canal boats being towed in the canal beside the river.

Nathaniel P Willis, *American Scenery* 1840

Railroads and Stages

Opposite Pen sketch of Main Street, Branchville, S. C., looking toward the South Carolina Railroad. The artist is not known, but the time represented is probably the 1840's.

Courtesy Southern Railway Company, Washington, D C

Opposite is another view of Branchville, looking toward Charleston—made by the same artist as above.

Courtesy, Southern Railway Company, Washington, D C

FRINK & WALKER'S STAGE OFFICE.
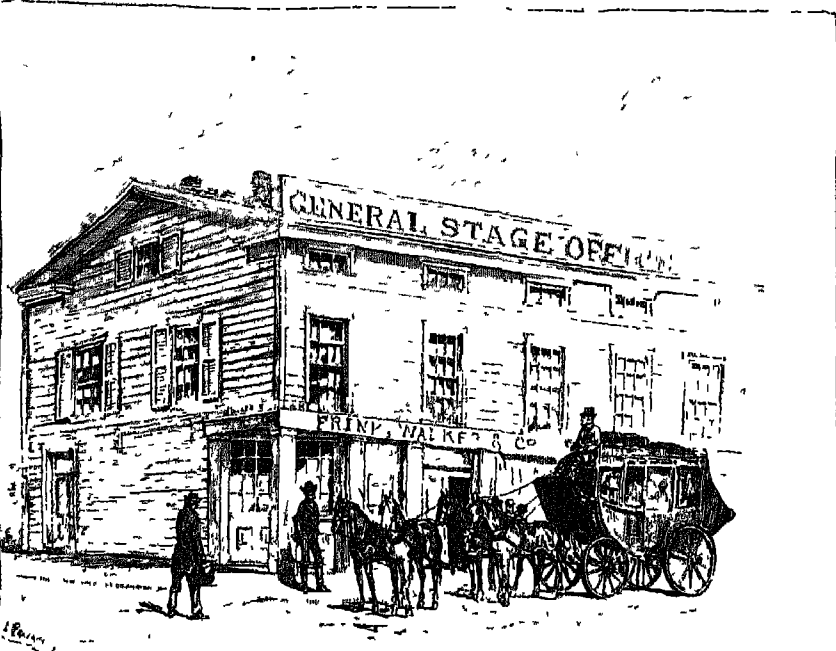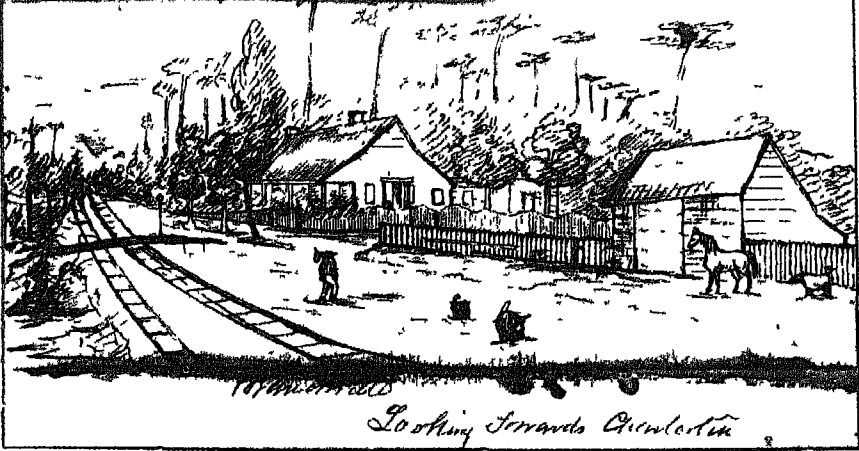
In Illinois and adjoining states the Frink & Walker Company operated a line of stagecoaches.

A T Andreas, *History of Chicago* 1884

State Agricultural Fairs
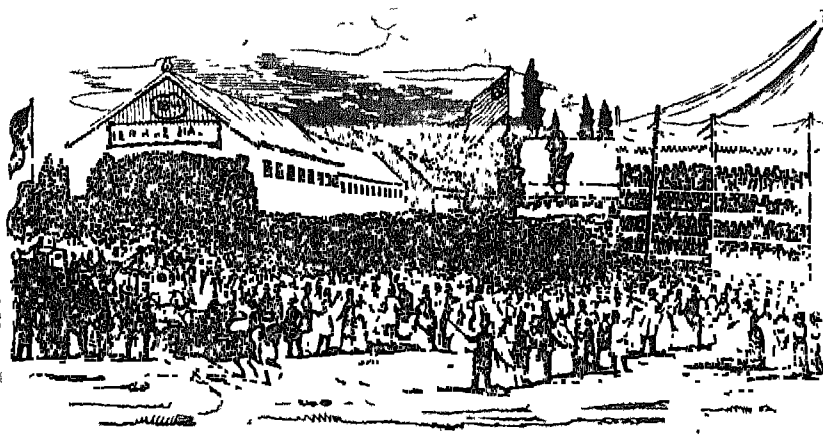
From the first county fairs (see page 165) had grown great state fairs *Opposite* we have a view of the New York State Cattle Show held at Poughkeepsie in 1844.

The Farmer's Museum, October, 1844
Courtesy, New York State Library, Albany

Right is a plan of the Poughkeepsie fair grounds. The four buildings in the center are (G) Floral Hall, (H) Ladies' Home, (I) Manufacturer's Lodge, (K) Farmer's Hall

The Farmer's Museum October, 1844
Courtesy, New York State Library, Albany
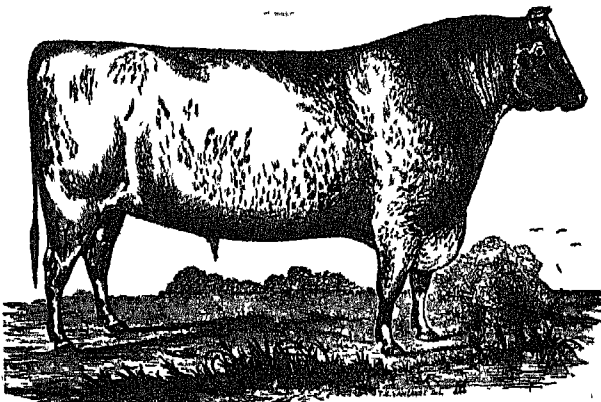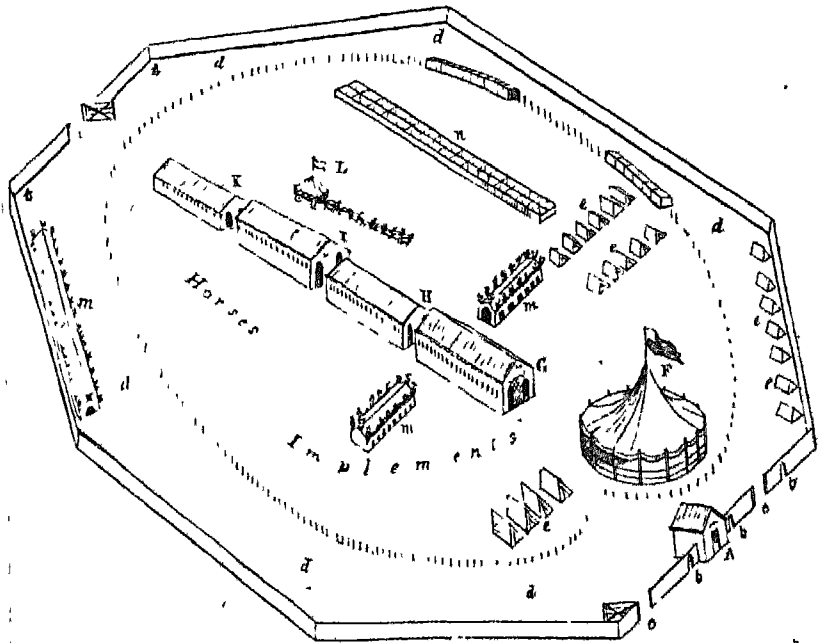
The American Agriculturist, June, 1843

Durham Bull, "Archer" The property of Col J. M. Sherwood of Auburn, N. Y.

Right Durham Heifer, "Esterville." The property of E. P. Prentice of Mount Hope, N. Y.

The American Agriculturist, April, 1845
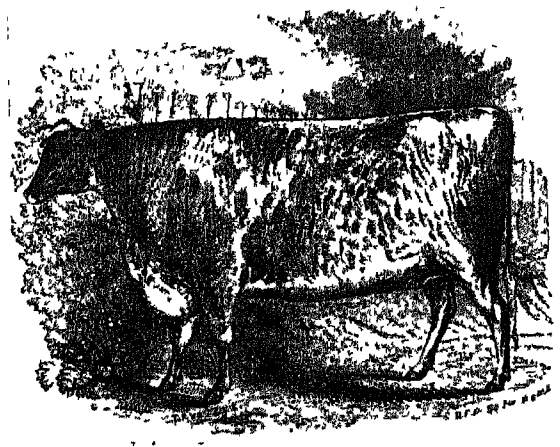
Better Livestock, More Grain, Improved Plows
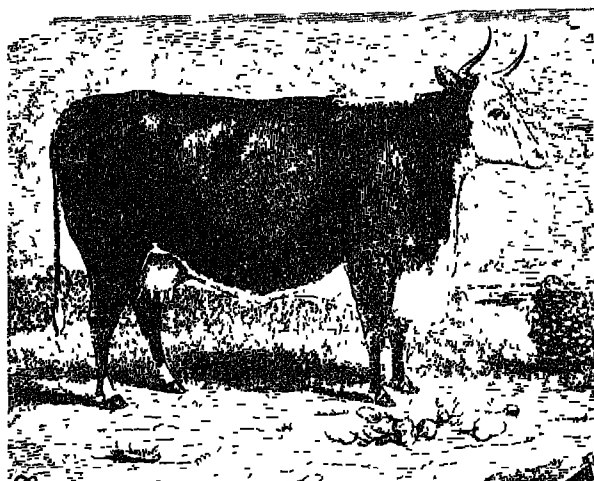
The American Agriculturist, April, 1843

Hereford Cow, "Matchless" (Imported) Property of Messrs. Corning and Sotham, Albany, N Y

Cotswold Sheep Property of Messrs Corning and Sotham, Albany, N Y

The American Agriculturist, April, 1843
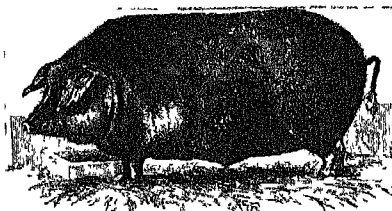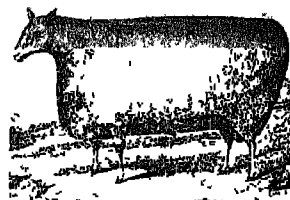
Berkshire Hog bred at Herkimer, N Y It weighed 721 net when butchered

The American Agriculturist June, 1845
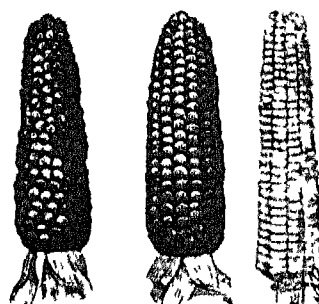
Corn

The American Agriculturist, May, 1845

About 1837 a young blacksmith named John Deere opened a shop at Grand Detour, Ill He soon found that the plows brought from the East did not work well in prairie soil Deere made a plow with a steel mouldboard so shaped that it "scoured" itself in the rich soil of the west. A new name was being added in the field of invention and industry (see page 354)
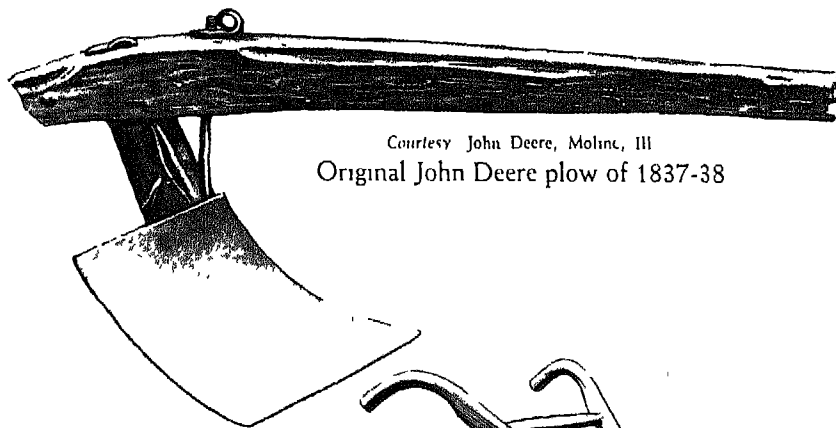
Courtesy John Deere, Moline, Ill

Original John Deere plow of 1837-38

The American Agriculturist April, 1845

Wheat

Reconstruction of original John Deere plow

Courtesy, John Deere, Moline, Ill
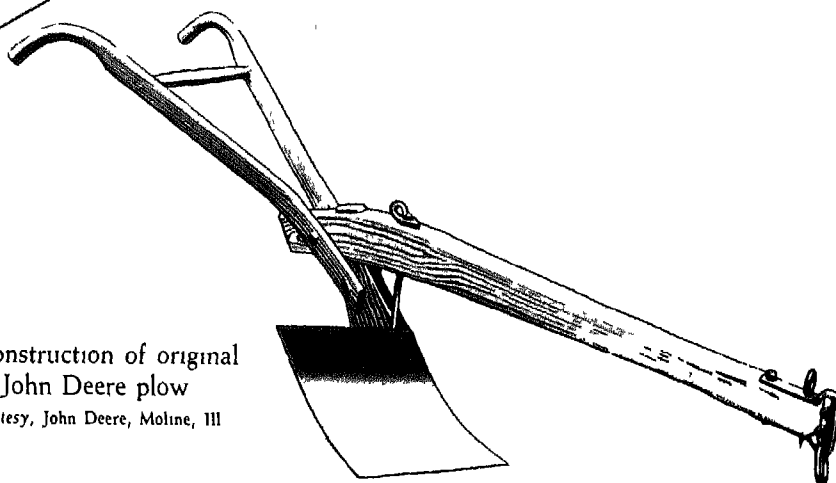
Mr. Colt's Revolving Pistols, Shotguns and Rifles

In February, 1836, Samuel Colt, then twenty-two years old, received a patent for a revolving firearm. The following month he formed the Patent Arms Company and opened a factory in an unused section of a silk mill at Paterson, N. J.
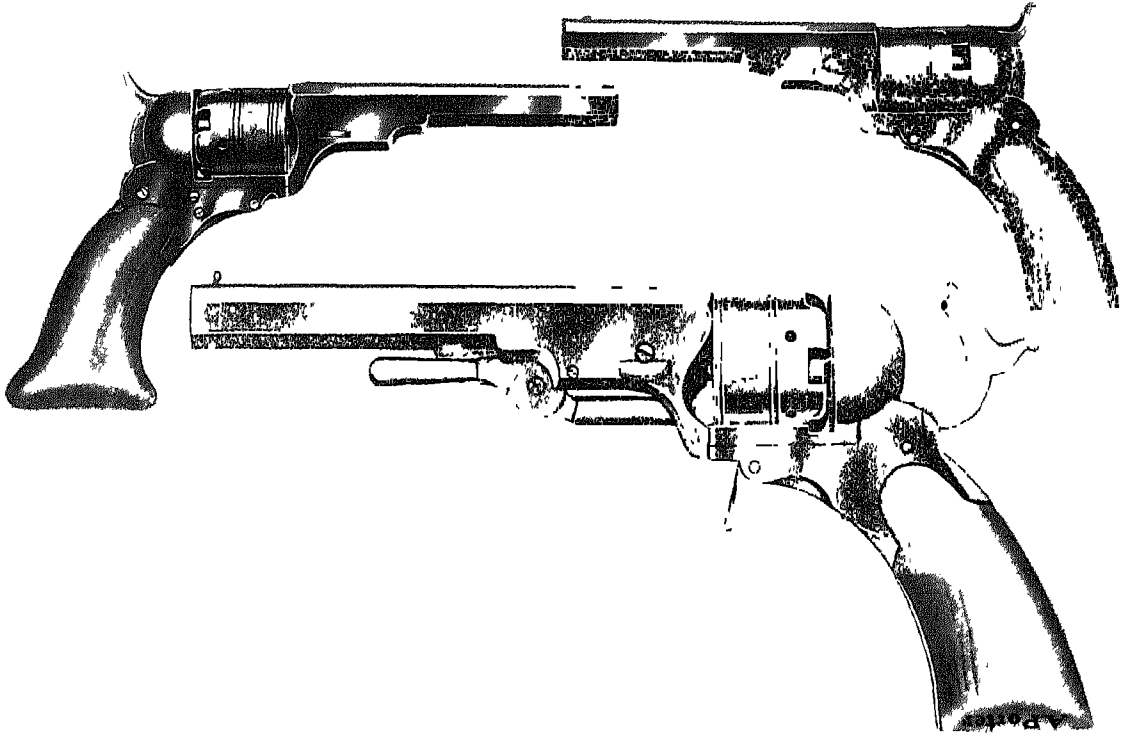
There he manufactured the famous Paterson Revolving Pistols shown *above* They were of 34 caliber and fired five shots At the same time, he made revolving rifles and shotguns as shown *below*
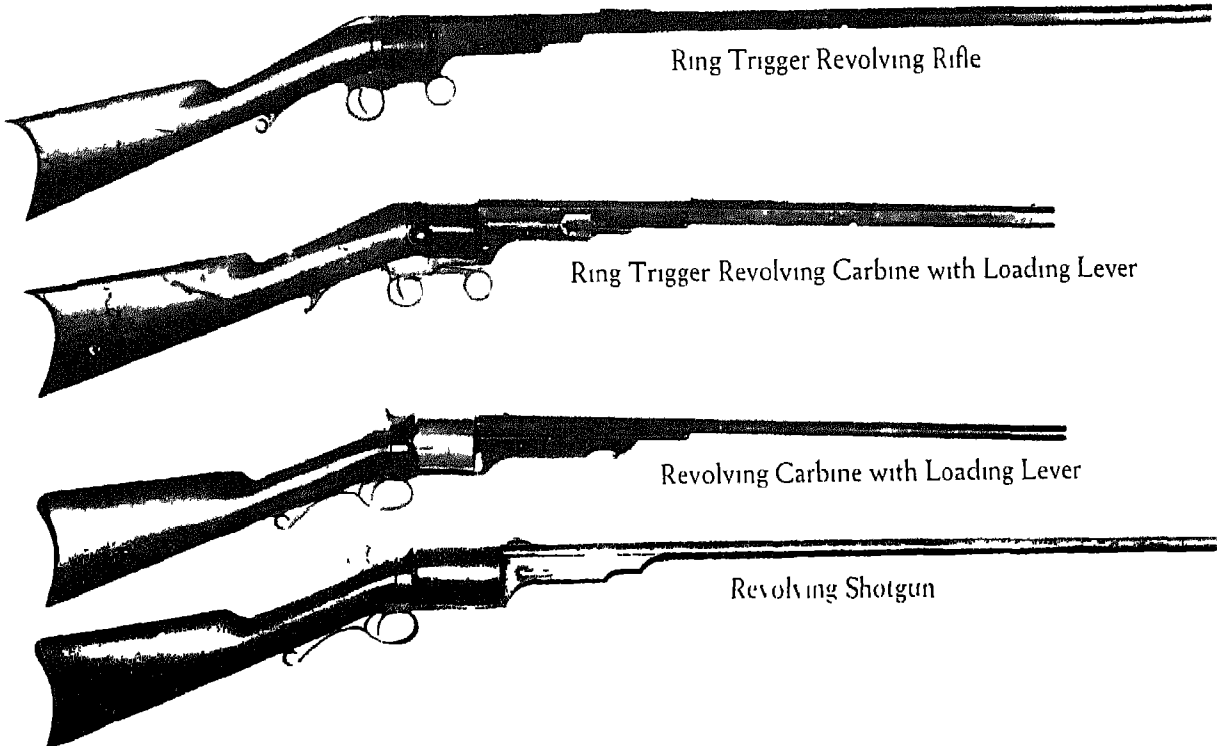
In 1841 the Government, after a test at Carlisle Barracks, Pa , bought 160 of the revolving carbines at $45.00 each.

All illustrations shown on this page are through the courtesy of the Colt's Patent Fire Arms Manufacturing Company, Hartford Conn

Boston in 1837
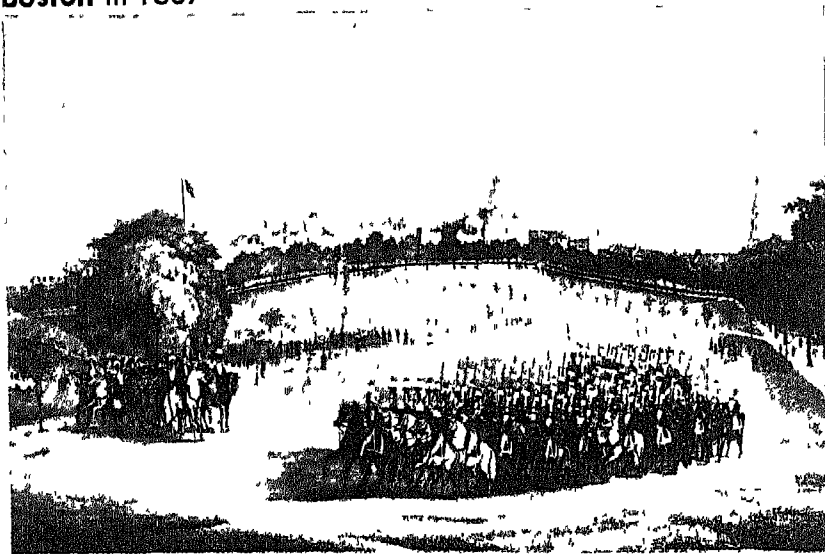
THE NATIONAL LANCERS WITH THE REVIEWING OFFICERS ON BOSTON COMMON

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Opposite

New York Harbor in 1838

showing the Narrows from Fort Hamilton.

Nathaniel P Willis, *American Scenery* 1840

Left

Philadelphia in 1838
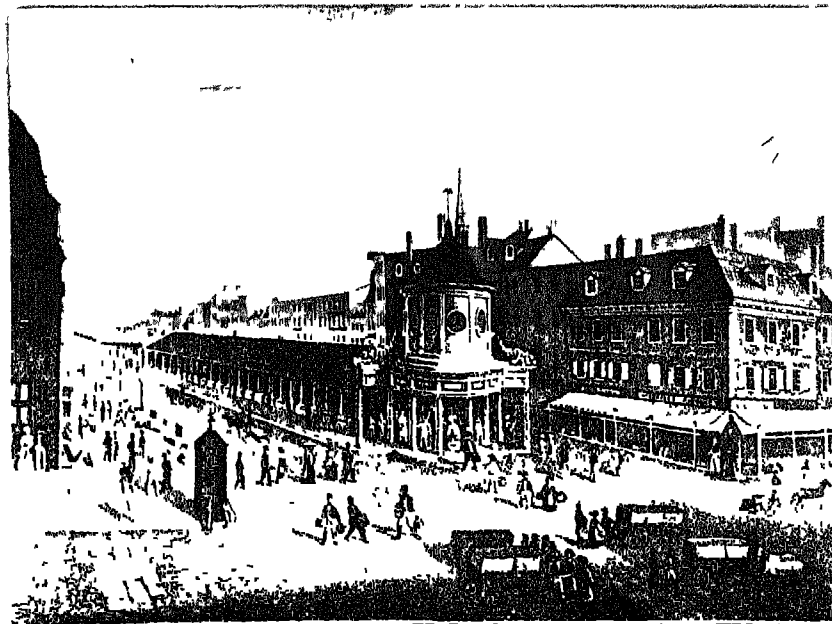
MARKET STREET,
from Front St
PHILADELPHIA

Courtesy, The Historical Society of Pennsylvania, Philadelphia

Northampton, Mass., in 1840

Below we see a typical New England village in the 1840's. Note the churches and homes surrounding the green—viewed from the porch of the inn.
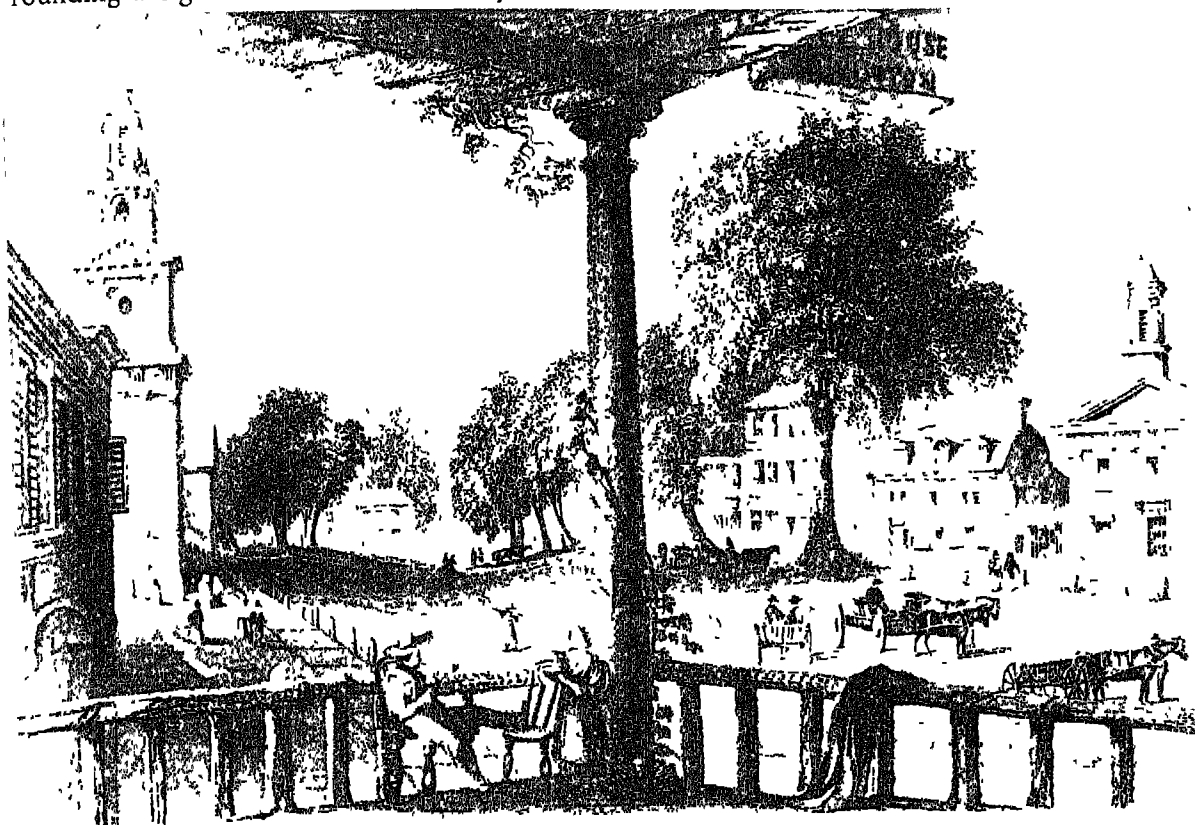
Nathaniel P Willis, *American Scenery* 1840

Left

The Palisades—Hudson River—in 1837

Nathaniel P Willis, *American Scenery* 1840
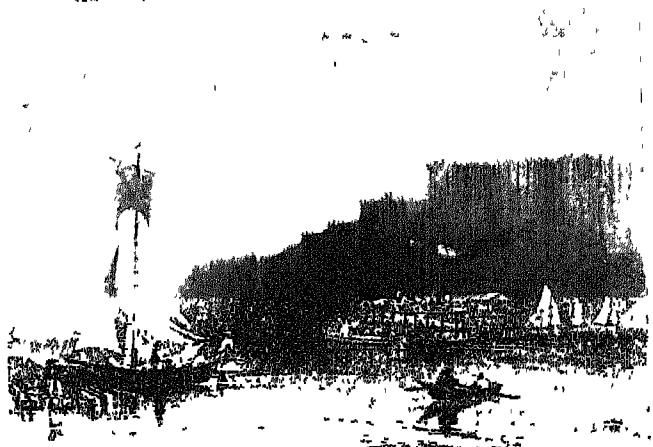
Troy, N. Y. in 1838

Stimulated by the Erie Canal and the railroads, Troy was definitely becoming an important manufacturing city

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library
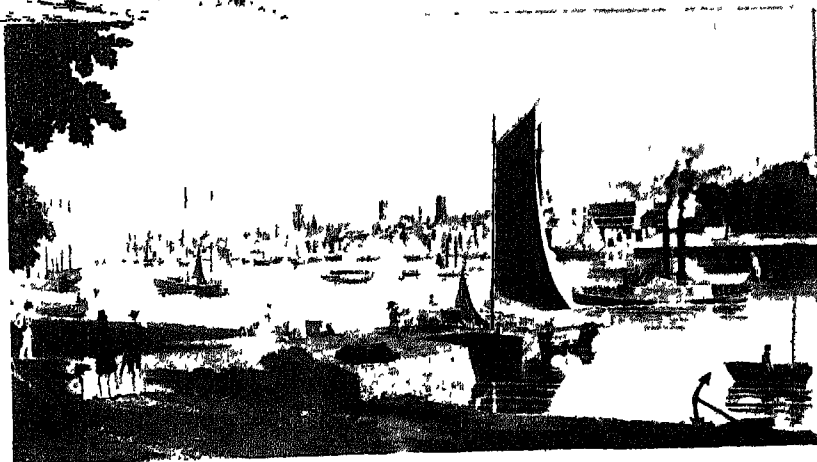
TROY

"Tippecanoe and Tyler Too!"

As a challenge to the strong executive power wielded by Jackson and Van Buren, a new political party came into being—the Whigs.

Courtesy, The Municipal Museum of the City of Baltimore, Md
National Convention of Whig Young Men, Baltimore, May 4, 1840

For President the Whig Party nominated William Henry Harrison, hero of the Battle of Tippecanoe (see page 124), and for Vice-President, John Tyler of Virginia. The campaign was conducted by the Whigs on an emotional basis. Log cabins (see one on wheels in picture *above*) and hard cider, both connecting Harrison with the "Common Man," held spectacular places in the appeal for votes
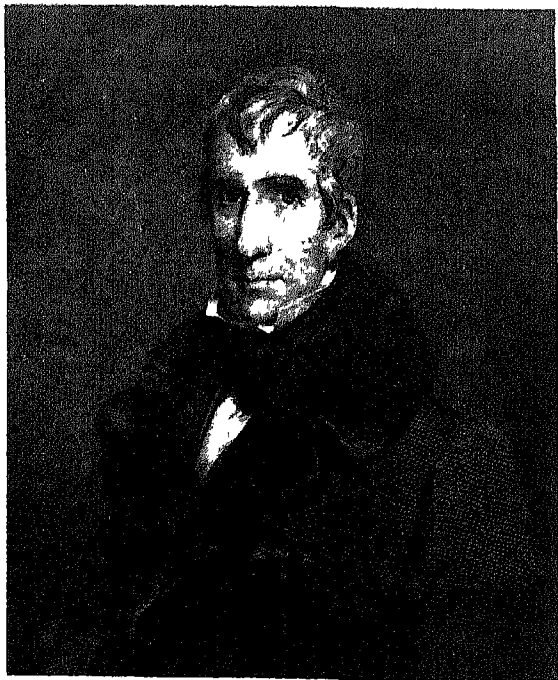
From a portrait by J R Lambdin
William Henry Harrison

United States Magazine and Democratic Review
November, 1842
John Tyler

The Inauguration of Harrison

The Whigs won, and *below* we see the inauguration on the east portico of the Capitol, March 4, 1841.
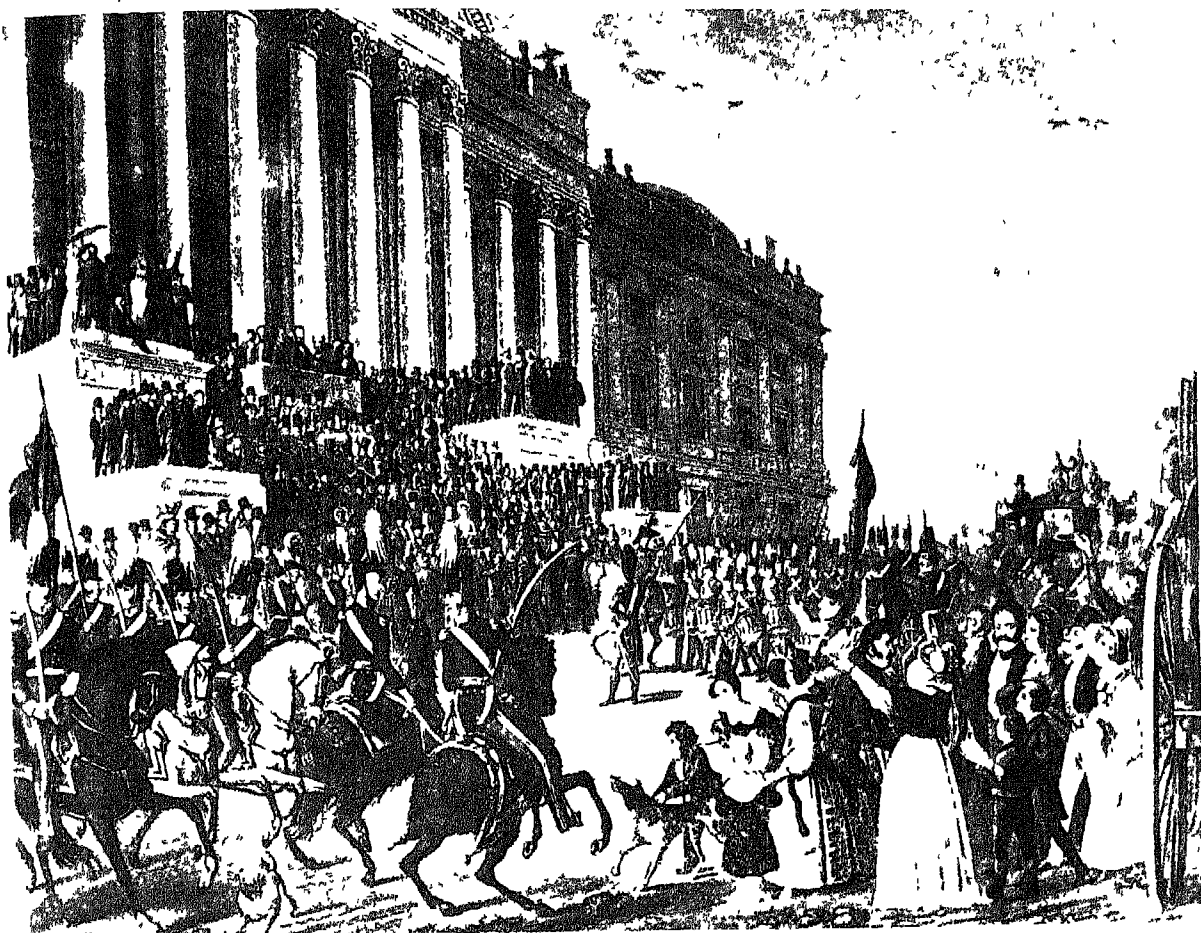
Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Exactly a month after his inauguration, President Harrison died, worn out from the strain of the election, and John Tyler became President
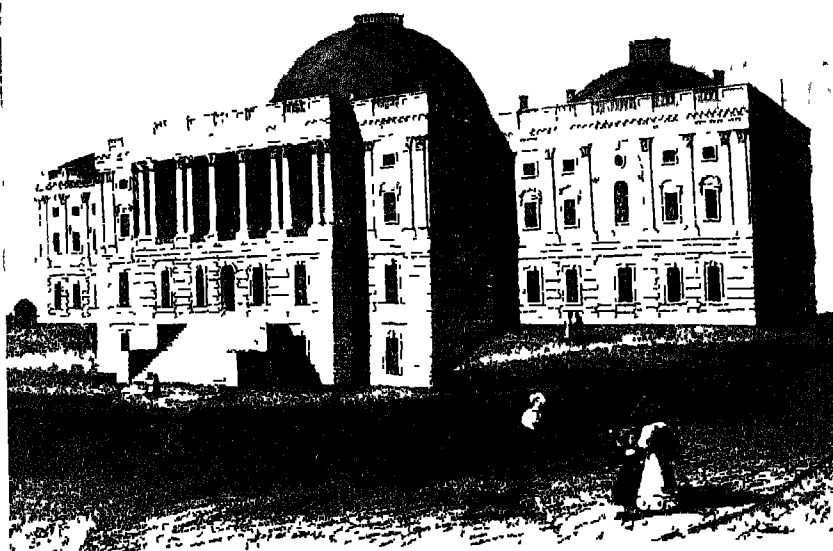
Southwest View of Capitol
About 1840

Glenn Brown, *History of the United States Capital* 1900

Styles of 1837

Left From *Godey's Lady's Book*, January, 1837

Below. From *The Casket*, April, 1837

Below From *Godey's Lady's Book*, October, 1837

Styles of the 1840's

Above From *Godey's Lady's Book*, July, 1840

Right Silk dress About 1845
Courtesy Essex Institute Salem Mass

Courtesy The New York Historical Society, New York City
Above From *Graham's Magazine*, November, 1843

Right Silk dress About 1840-45
Courtesy, Essex Institute, Salem, Mass

The Daguerreotype and the Silhouette

The daguerreotype was the first successful permanent photograph. It took its name from one of its inventors, L J M. Daguerre, a Frenchman. The process was purchased by the government of France, and, in 1839, given to the world. It was quickly introduced into the United States where for a period of years it practically superseded the work of the portrait painters.
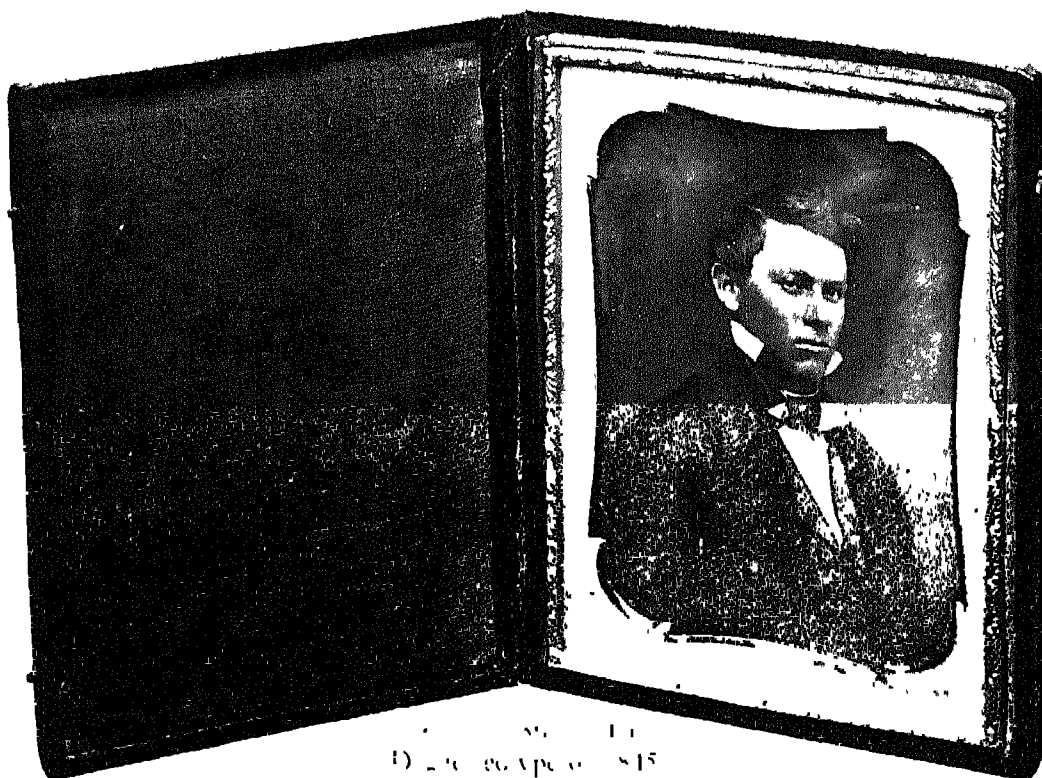
The silhouettes shown below are of the type known as "hollow cuts," which is to say that the outline was cut from white paper which was then placed over a black cloth background In the portraits here shown the artist added to the lady's frills with a pen and with the same instrument gave the man some hair and certain decorations about the cravat.

Courtesy, Betty and Ralph Sollitt, Westport, Conn

The Coast Survey

authorized in 1807 (see page 103), devoted most of its early years to supplying scientific data to mariners, but in 1839 there appeared the first of a magnificent series of charts mapping every detail of our coast line.
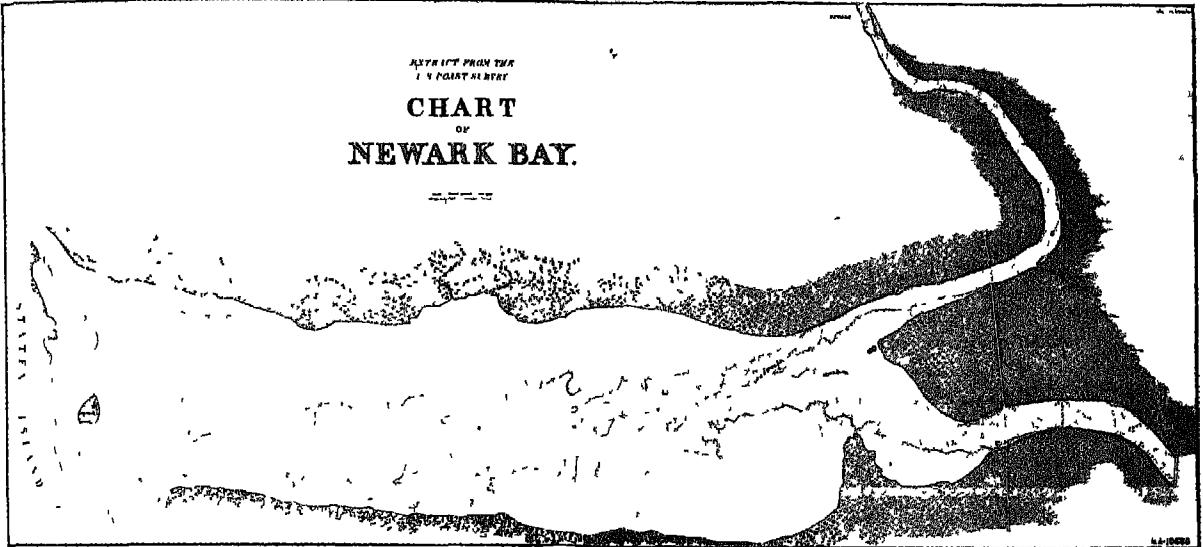
Courtesy, U S Coast and Geodetic Survey, Washington, D C

Chart of Newark Bay, N J First Survey Chart published by the Coast Survey 1839

Water Supply

With the growth of cities, the old method of securing water from wells or wagons (see page 214) became inadequate In 1842 New York City completed the Croton Dam from which water was piped a distance of 40 miles to an artificial reservoir located where The New York Public Library now stands.
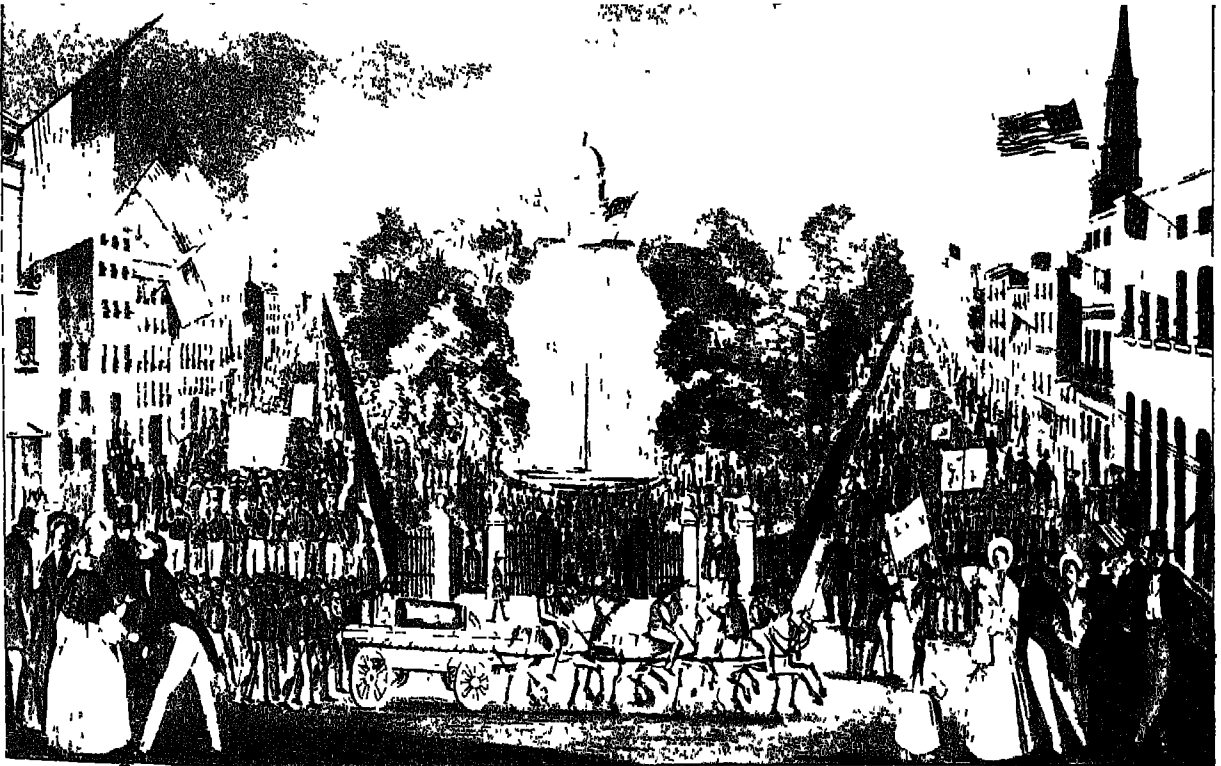
CROTON WATER CELEBRATION 1842

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

The Magnetic Telegraph

The sending of messages by signal stations placed within sight of each other had long been in operation. And as we have seen (see page 291), Samuel F B. Morse had patented a magnetic telegraph in 1837.
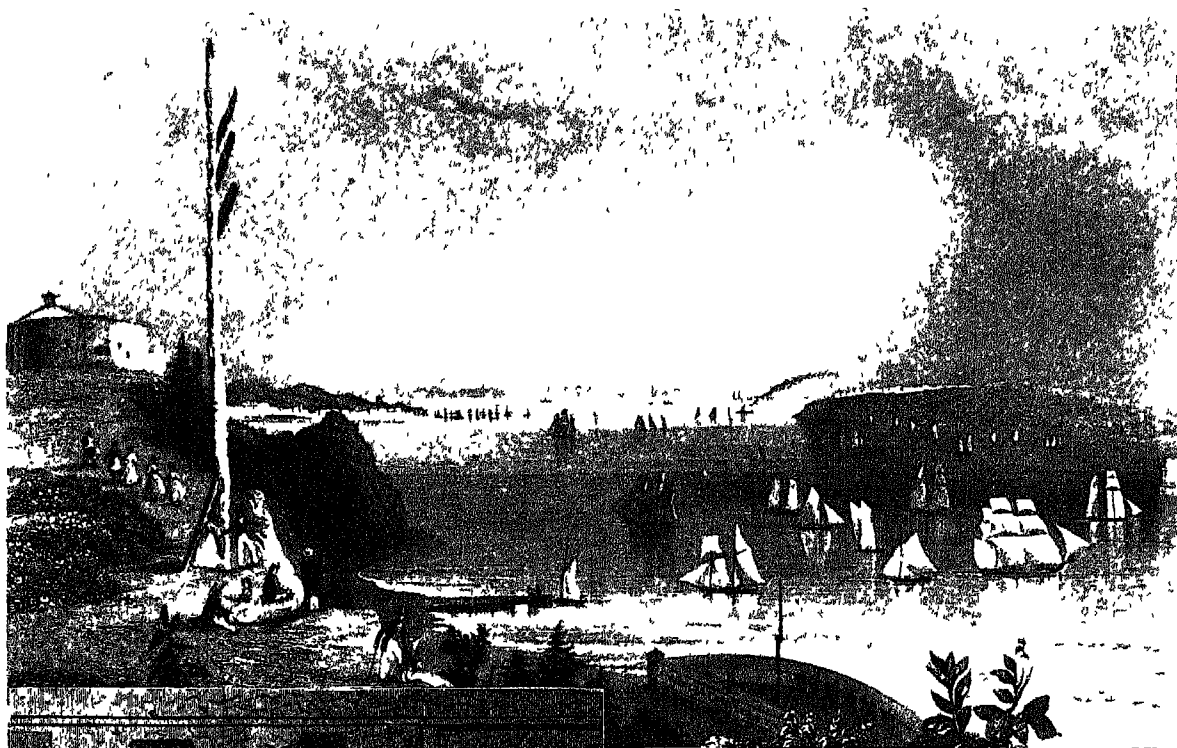
Nathaniel P Willis, *American Scenery* 1840

A signal telegraph station on New York Bay in 1838

For seven years Morse experimented with and perfected his instrument Meanwhile (in 1843), Congress appropriated $30,000 00 for an experimental telegraph line from Washington to Baltimore

On May 24, 1844, the line was formally opened, and Morse, at the Washington end, ticked off on the instrument (shown *below*) the famous message, "What hath God wrought!"

MORSE MAKING HIS OWN INSTRUMENT

Samuel Irenaeus Prime, *The Life of Samuel F B Morse* 1875
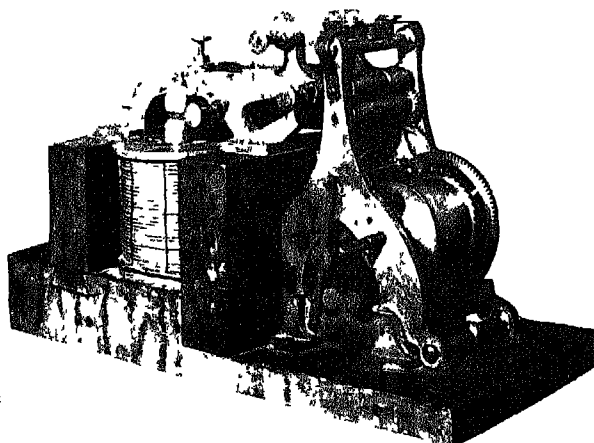
Courtesy, College of Engineering, Cornell University, Ithaca, N Y

Morse Telegraph Instrument of 1844

Currier & Ives

On Monday evening, Jan 13, 1840, the steamboat *Lexington* burned in Long Island Sound with an appalling loss of life.
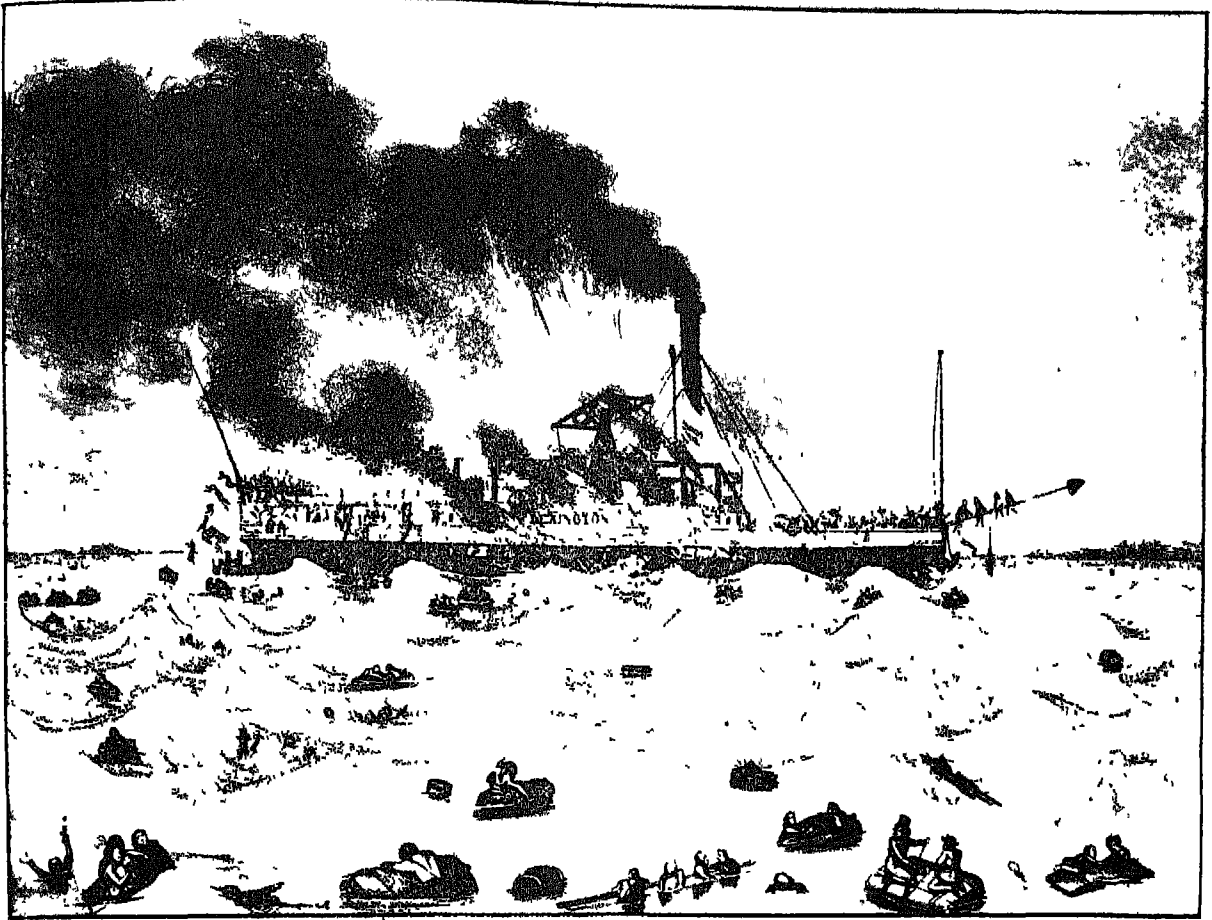
Awful Conflagration of the Steam Boat

LEXINGTON.

In Long Island Sound on Monday Eve^g Jan^y 13^th 1840 by which melancholy occurrence, over 120 PERSONS PERISHED. *Pub at Sun Office.*

Courtesy, The Print Room, The New York Public Library

Three days later, while the public concern was still at fever pitch, there appeared on the streets of New York a sheet entitled *The Extra Sun*, bearing the picture shown *above* together with a brief statement of the tragedy and a list of the missing persons News boys hawked the *Extra* throughout the city. Copies went all over the country. This picture was issued by N Currier and established the fame of the prints which later came to be known by the name of Currier & Ives.

THE NEWS BOY.

United States Magazine and Democratic Review, July, 1843

The Gambling Instinct

was, unfortunately, deeply ingrained in the human make-up. Men sat about grog shops and played cards.

THE CARD PLAYERS.

United States Magazine and Democratic Review November, 1843

Cock fighting was a common pastime, particularly in the South and West—and it too was accompanied by much betting.

George P Putnam, *The Game Fowl, for the Pit or the Spit* 1877

Cock Fighting

Police

CORNER LOUNGERS

United States Magazine and Democratic Review August, 1843

Young fellows lounged about the streets or spent their time "whittling" Order was enforced by constables or sheriffs, but in general it was left to the people themselves to maintain the peace or not maintain it.

Not until 1844 did New York City have a regular police department, and for some years thereafter the police wore no uniforms or other distinguishing marks than a star-shaped badge pinned to their coats.

Edward H Savage, *Police Records and Recollections* 1873

Above we see a policeman of the 1840's making an arrest

Opposite is the badge of Chief of Police Matsell, appointed by the Mayor of New York in 1845

A E Costello, *Our Police Protectors* 1885

Virginia in the 1840's
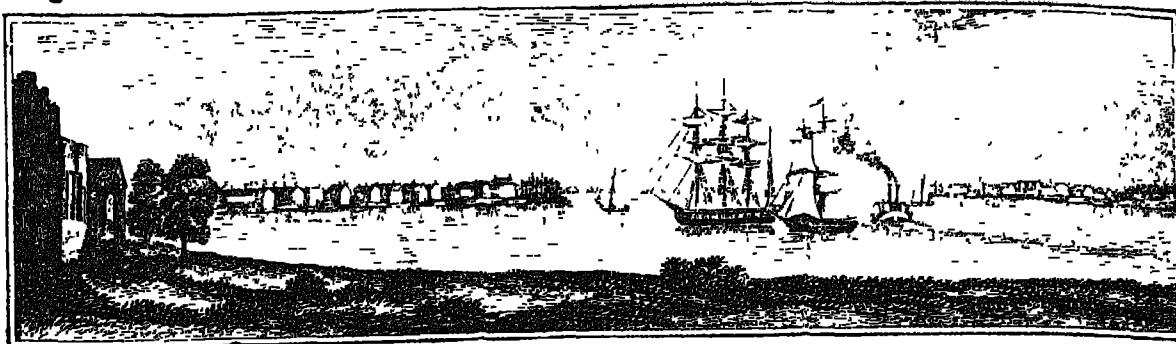
View of the Harbor of NORFOLK and PORTSMOUTH, from Fort Norfolk.

William and Mary College, Williamsburg

LIFE IN EASTERN VIRGINIA
The Home of the Planter
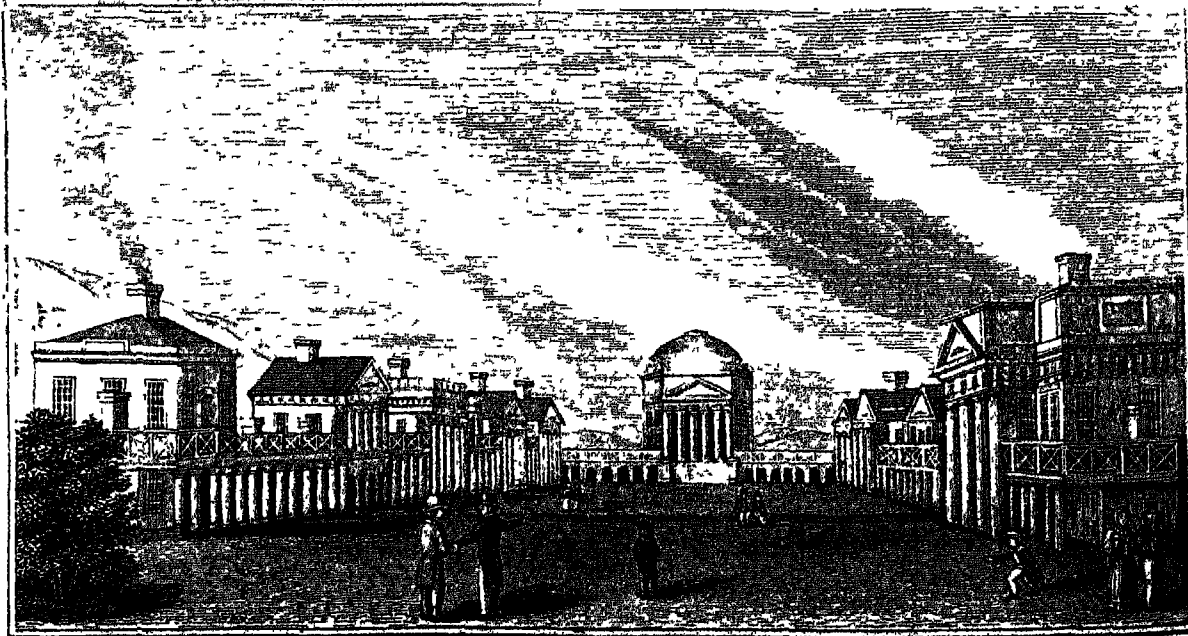
UNIVERSITY OF VIRGINIA, AT CHARLOTTESVILLE.

All illustrations on this page are from Henry Howe, *Historical Collections of Virginia* 1849

The Slave Trade

Although Congress had, in 1808, legally put a stop to the importation of slaves, thousands of Negroes were smuggled into Charleston and other southern ports
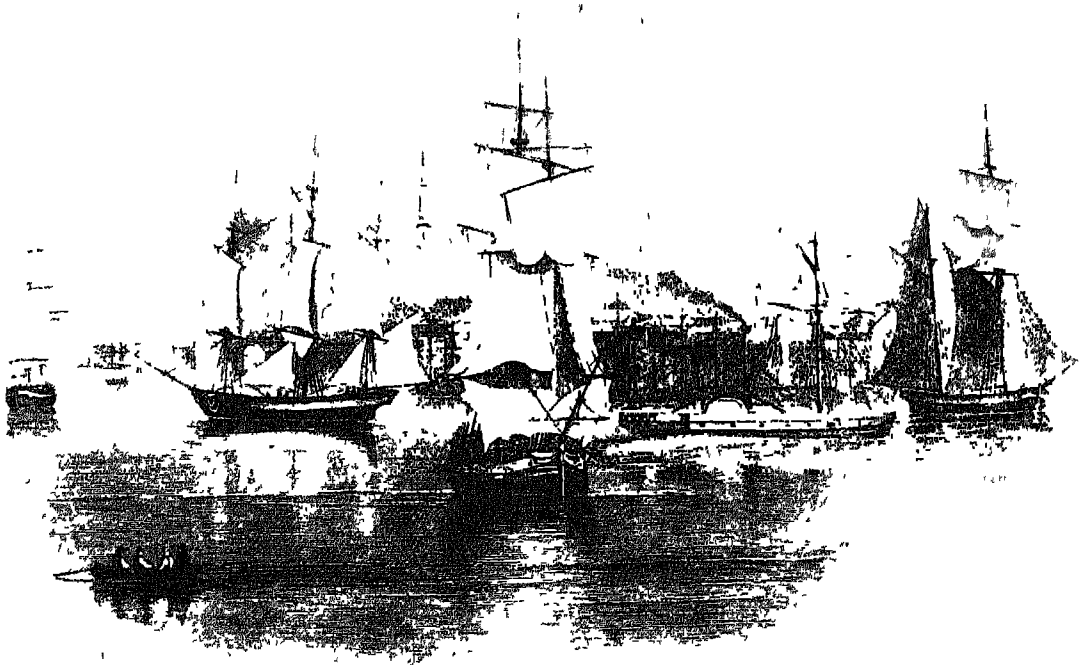
J S Buckingham, *The Slave States of America* 1842

Meanwhile a large domestic slave trade developed. Dealers in the Upper South bought and assembled surplus slaves which in coffles (groups chained together or otherwise restrained) were marched to the markets in the cotton states, where they brought high prices

G W Featherstonhaugh, *Excursion through the Slave States from Washington on the Potomac to the Frontier of Mexico* 1844

J S Buckingham, *The Slave States of America* 1842

Above and *Opposite*. Coffles of slaves being moved to southern markets.

The Cotton States

The invention of the cotton gin (see page 61), and the growth of cotton manufacturing, created a vastly increased demand for raw cotton at steadily mounting prices.

PICKING COTTON ON A SOUTHERN PLANTATION

George A Sala, *America Revisited* 1883

The result was increased production of cotton and an increased need for slave labor. From South Carolina and Georgia, cotton planters moved westward into Alabama, Mississippi and Louisiana

Right View of cotton being pressed into bales for market
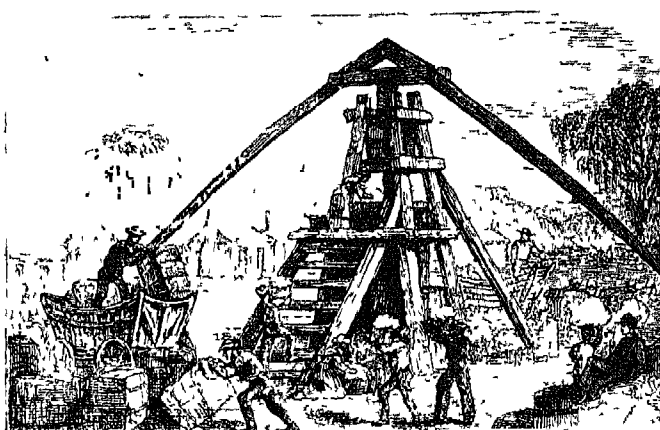
George A Sala, *America Revisited* 1883
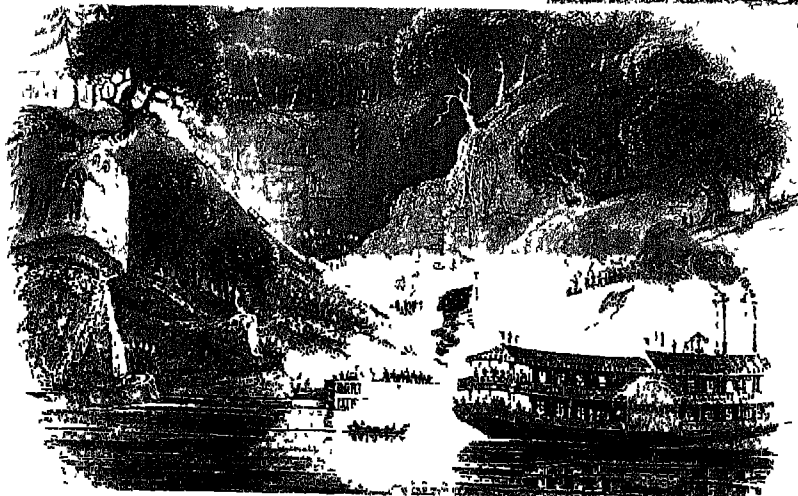
Opposite Slaves loading a ship with cotton, by torchlight, on the Alabama River in the 1840's.

J S Buckingham, *The Slave States of America* 1842

Georgia and Alabama

J S Buckingham, *The Slave States of America* 1842

Above Court House, Medical College and Church at Augusta, Ga About 1840
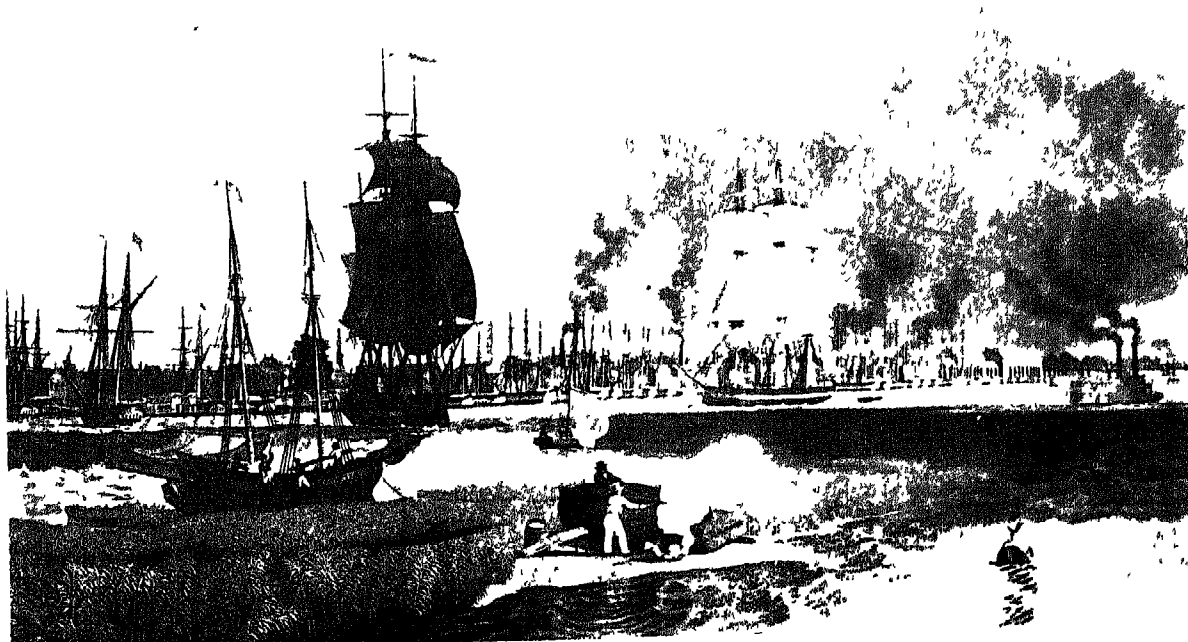
Courtesy, The New-York Historical Society, New York City

Mobile Harbor in 1842

This vast array of shipping was largely based upon production of cotton in the hinterland.

New Orleans

The settlement of the country along the Mississippi naturally made New Orleans a great shipping port. *Below* is a view of the river front from opposite the city
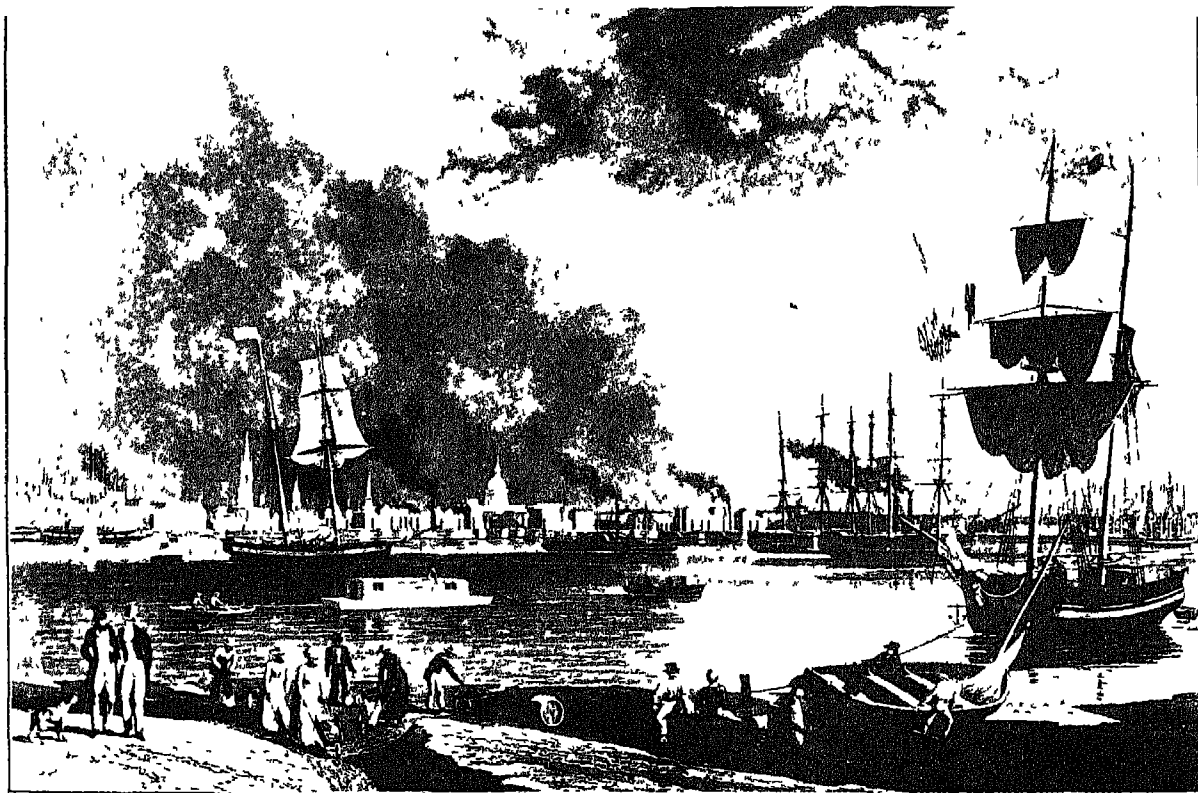
VIEW OF NEW ORLEANS, LOUISIANA, FROM ABOVE THE MIDDLE FERRY
From a colored aquatint, published in 1841, after a painting by William J Bennett, in the Macpherson Collection

H I Chappelle, *The Baltimore Clipper* 1930
Courtesy, The Macpherson Collection, Marine Research Society, Salem, Mass

Opposite Auction of estates, pictures and slaves in the Rotunda at New Orleans. About 1840.
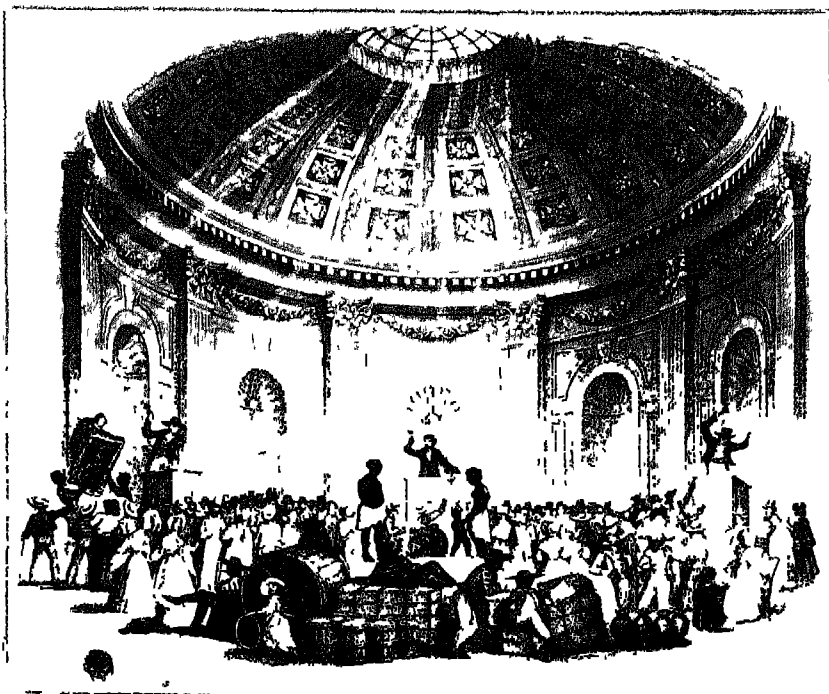
J S Buckingham, *The Slave States of America* 1842

Ohio

By the 1840's, Ohio was a thriving commonwealth with a population greater than many of the older states.

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Above A view of the river front at Cincinnati in 1838
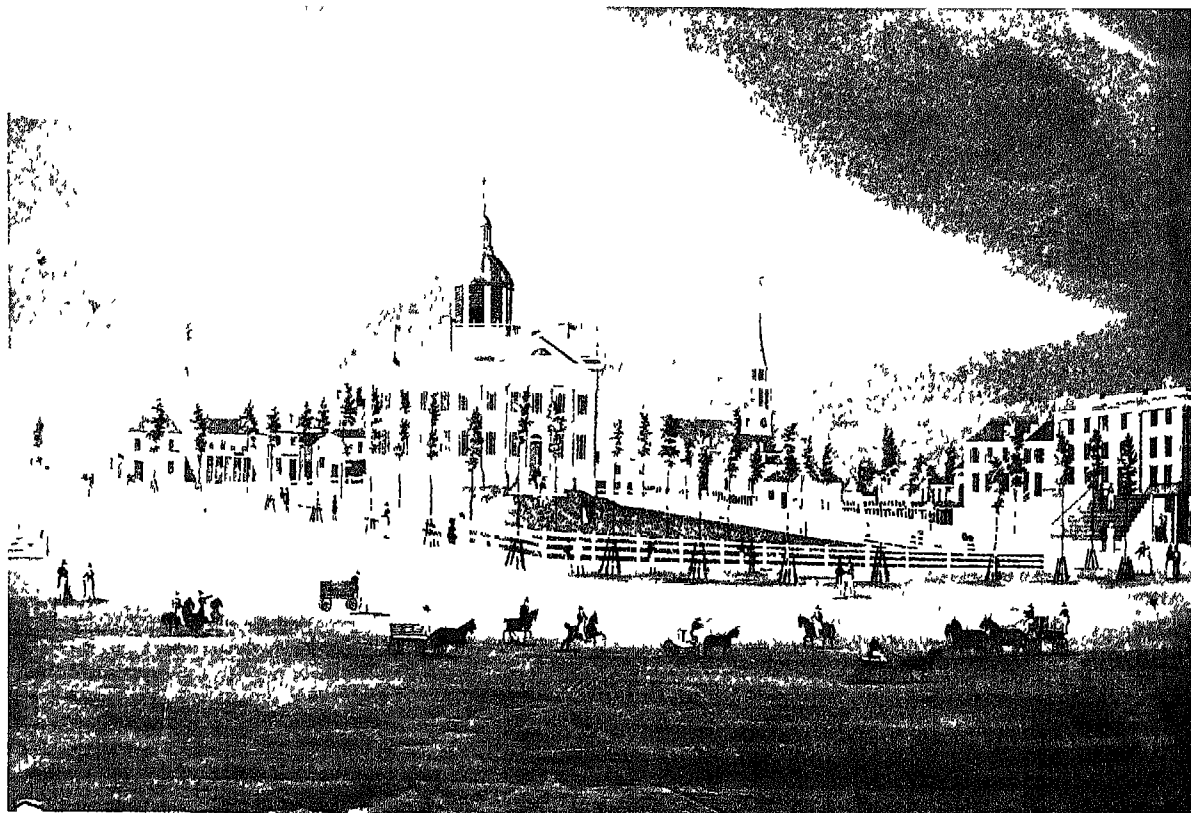
From a painting by S Heine Courtesy The Western Reserve Historical Society, Cleveland, Ohio

Cleveland The southwestern corner of the Public Square in 1839

Indiana,

lying just west of Ohio, was developing into a well-settled state

PRAIRIE SCENE, INDIANA.

From Virginia, North Carolina, Kentucky, Pennsylvania and Ohio came a steady stream of population The broad prairies were surveyed into farms Villages grew up. Churches and schools came into being.

FORDING THE WABASH

In 1840 the Potawatomi Indians who had resided on reservations in Indiana were moved to the west.

Potawatomi Indians on the Wabash River

All pictures on this page are from paintings by George Winter
Courtesy, The William Henry Smith Memorial Library of The Indiana Historical Society, Indianapolis

Ohio and Indiana Canals

In 1825 the State of Ohio authorized the building of two state canals, connecting the Ohio River and Lake Erie *Below* we have a view of the Miami & Erie running from Cincinnati through Dayton to Toledo—opened in 1843.
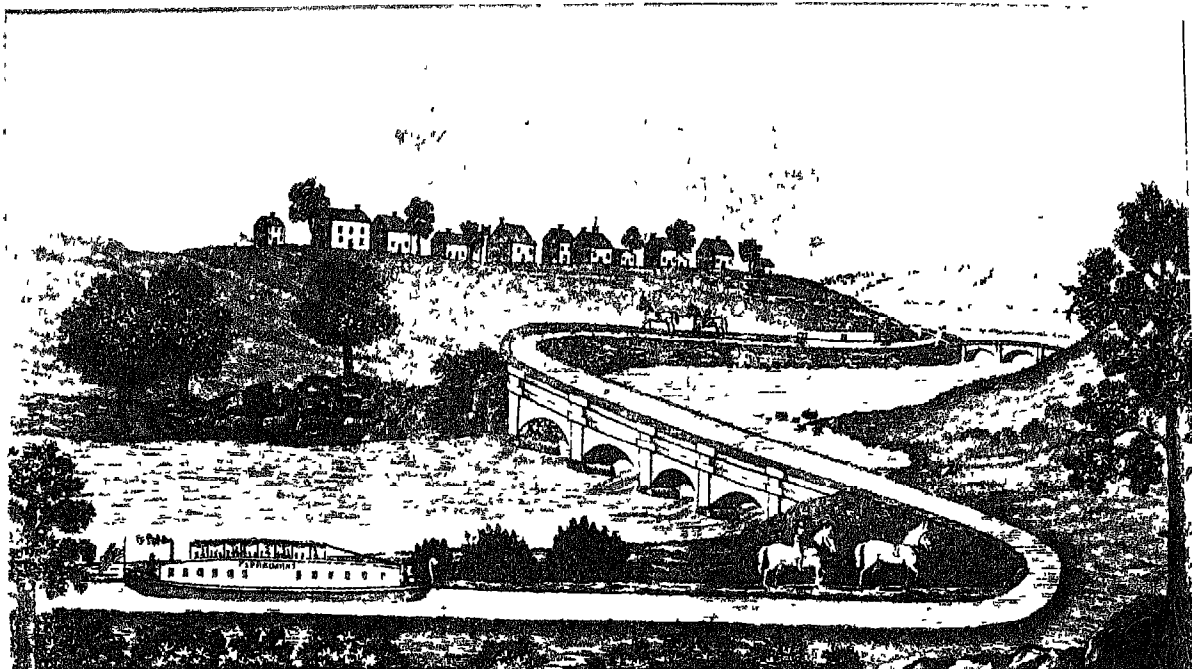
Ladies' Repository December, 1842

The Miami and Erie Canal 1842

Indiana in 1836 passed a bill carrying appropriations of $13,000,000.00—a sixth of the state's wealth—for canal construction *Below* we have a view of one these projects, the White Water Canal, as it appeared in 1841—running in front of the North Bend residence of William Henry Harrison (see page 306). The river shown in the foreground is the Ohio.
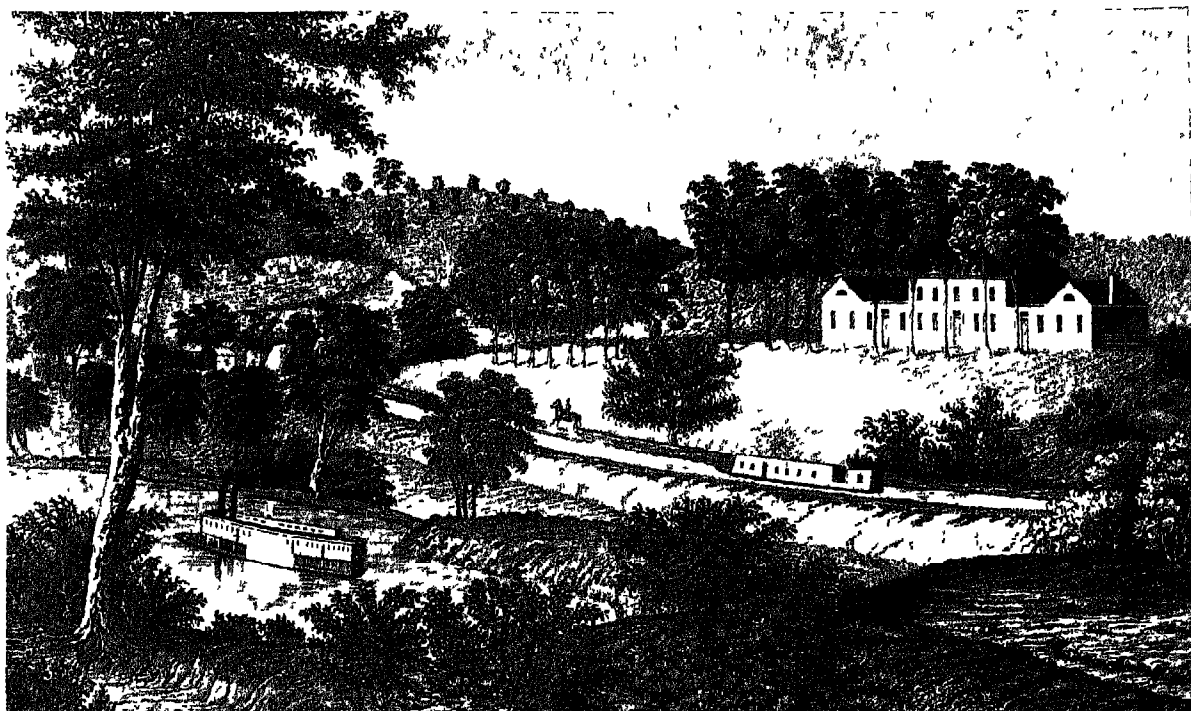
Ladies' Repository July, 1841

Into the Mississippi

In the neck of land lying between the junction of the Ohio River with the Mississippi, there came into being in 1837 the town of Cairo, Ill.
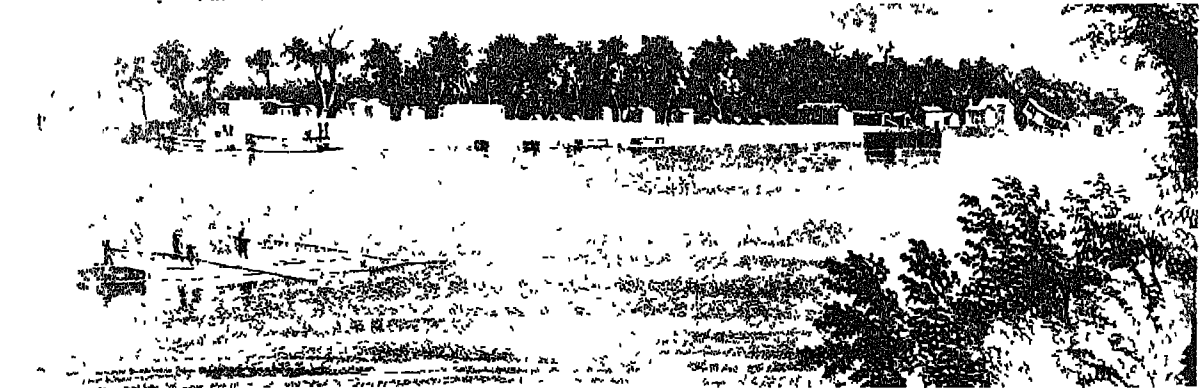
J C Wild, *Valley of the Mississippi* 1841 *Courtesy,* Illinois State Historical Library, Springfield

Cairo, Ill About 1840

The river front at St Louis was, by 1840, lined with steamboats loading and unloading freight.

From a lithograph by J C Wild *Courtesy,* The New-York Historical Society, New York City

Front Street, St Louis 1840

Jefferson Barracks, on the Mississippi ten miles south of St Louis, had been established in 1826. *Opposite* is a view as it appeared in 1840.

J C Wild, *Valley of the Mississippi* 1841 *Courtesy,* Illinois State Historical Library, Springfield
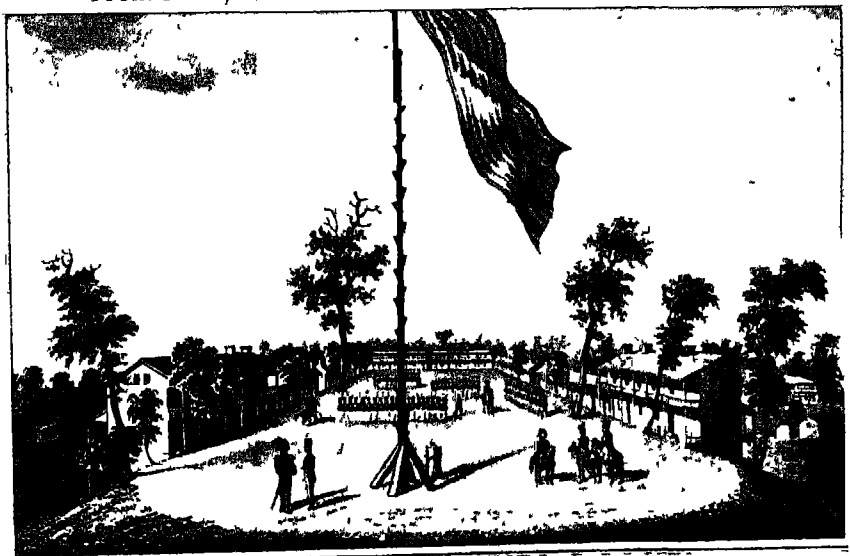
JEFFERSON BARRACKS.

On the Great River

From the headwaters and tributaries of the Mississippi, came the produce of the trapping and hunting country, and of the frontier From the Missouri River came the fur traders—singly in their loaded canoes or in great fleets of Mackinac boats from Fort Union (see page 281) and other posts of the American Fur Company.

From a painting by George Caleb Bingham
Courtesy, The Metropolitan Museum of Art, New York City

Fur Trader descending the Missouri

On the left bank of the Missouri, a few miles above its junction with the Mississippi, stood the village of St. Charles.

J C Wild, *Valley of the Mississippi* 1841
Courtesy, Illinois State Historical Library, Springfield

VIEW OF ST. CHARLES.

Flatboats, carrying grain and other products of the upper country, mixed with steamboats on the Mississippi.

The Jolly Flatboatmen

From a painting by George Caleb Bingham
Courtesy, St Louis Mercantile Library Association, and the City Art Museum, St Louis, Mo

On the Upper Mississippi

Fort Snelling, at the junction of the Minnesota River with the Mississippi, was headquarters for the Sioux Agency and also protected the American Fur Company post at Mendota, across the Minnesota River.

From a painting by Paul Kane
Courtesy, Royal Ontario Museum of Archaeology, Toronto, Canada

Fort Snelling About 1845

The Mormon Capital

In 1839, the Mormons purchased a site on the Illinois side of the Mississippi, two hundred miles above St Louis, and there built the city of Nauvoo, designed to be the capital of the faith. By 1845 it had a population of 12,000 The Temple, begun in 1844, was 86 feet wide by 127 feet long, and with a steeple 70 feet high—in all costing about one million dollars to erect.
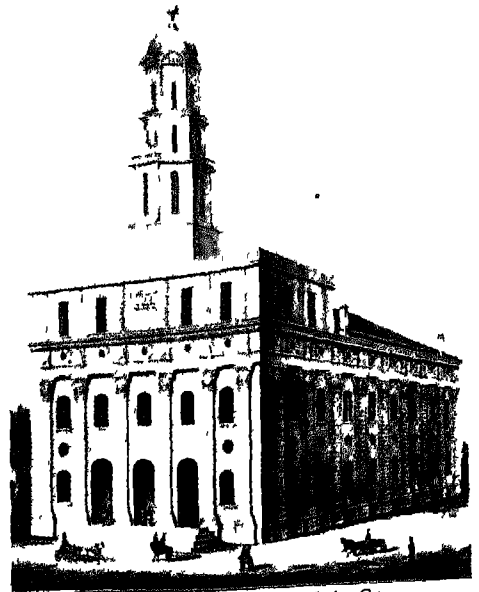
Courtesy LeRoi C Snow, Salt Lake City, Utah

Mormon Temple at Nauvoo

Opposite
Nauvoo, as seen by Henry Lewis, the panorama artist, in 1848.

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

The Santa Fe Trade

Josiah Gregg, whom we met earlier (see page 205) going down the Santa Fe Trail from Independence to the Great Bend of the Arkansas River and thence to Santa Fe, tried a new route in 1839. Starting from Van Buren, Ark., he followed the Canadian River across the present state of Oklahoma and brought his caravan safely into Santa Fe.

CAMP COMANCHE

Opposite A view of one of Gregg's encampments. An escort of U. S. Dragoons accompanied him to the 100th meridian, the boundary between the United States and the Republic of Texas.

Josiah Gregg, *Commerce of the Prairies* 1844

DOG TOWN OR SETTLEMENT OF PRAIRIE DOGS

Opposite A prairie dog "town" encountered on the trip.

Josiah Gregg, *Commerce of the Prairies* 1844

EMIGRANTS ATTACKED BY THE COMANCHES

To the southward, emigrants to Texas had their troubles with the wild plains Indians.

H. R. Schoolcraft, *Information respecting Indian Tribes of the United States* 1851-57

The Republic of Texas

As we have seen (page 292), Texas achieved its independence in 1836. *Below* is a picture of the Executive Mansion of the Republic of Texas at Houston in 1837.

Courtesy, The Mirabeau B Lamar Library, University of Texas, Austin

Texas was free but poor Nor did Mexico recognize the independence of her erstwhile state In 1842 a Mexican force captured and temporarily held San Antonio In retaliation Texas undertook a raid into Mexico *Opposite* we see the Texans crossing the Rio Grande
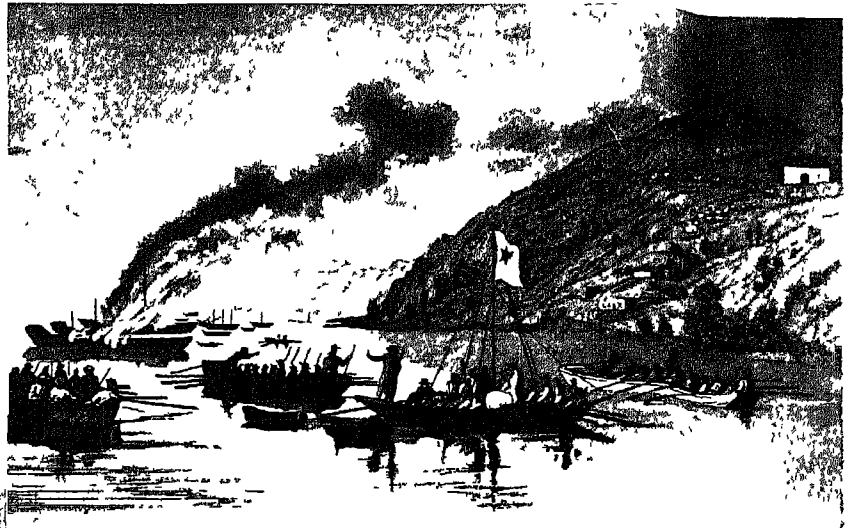
MIER EXPEDITION DESCENDING THE RIO GRANDE.

Thomas J Green, *Journal of the Texian Expedition Against Mier* 1845

But at Mier, just across the river on the Mexican side, the Texans were captured Every tenth man was shot, and the remainder were imprisoned

Thomas J Green, *Journal of the Texian Expedition Against Mier* 1845

The Oregon Trail

Through the expedition of Lewis and Clark (see page 97), the establishment of Astoria (see page 124) and other approaches, the United States exercised a claim over the Oregon Country —jointly with Great Britain Missionary settlements in the 1830's aroused wide interest in the region, and by 1842 a steady stream of emigrants was rolling westward. The Oregon Trail started from Independence, Mo, the outfitting place for the Santa Fe traders, and for some distance followed the old Santa Fe Trail—splitting off from it and crossing the Kansas River near presentday Topeka, Kansas.

Charles A Dana, *United States Illustrated* 1853

From the crossing of the Kansas, the trail went northwesterly to the Blue River, and reached the Platte at Grand Island Prairie fires were common dangers of the Trail

Right, Prairie Fire

From a painting by George Winter
Courtesy, The William Henry Smith Memorial Library of The Indiana Historical Society, Indianapolis
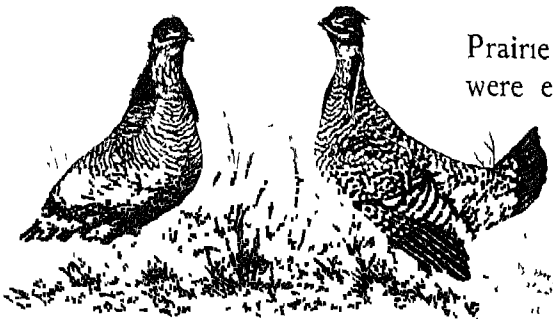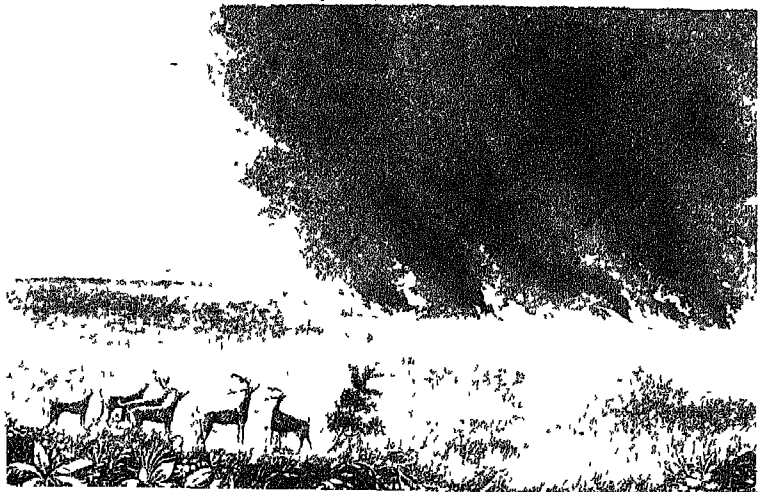
Prairie chickens and wild turkeys were everywhere, as were, also, grasshoppers
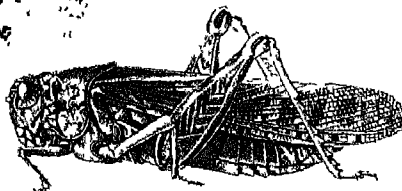
William E Webb, *Buffalo Land* 1874

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah in 1849 50*
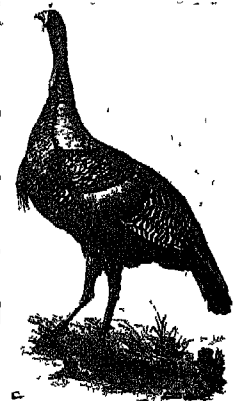
William E Webb, *Buffalo Land* 1874

The Oregon Trail *(Continued)*

Having reached the Platte River, the emigrant trains followed that river's southern bank to slightly beyond the fork of the South Platte, where they crossed over and again followed the southern bank of the North Platte Near present Bridgeport, Neb , they passed between the river and a famous landmark—Court House and Jail Rocks.

Jail Rock Court House Rock
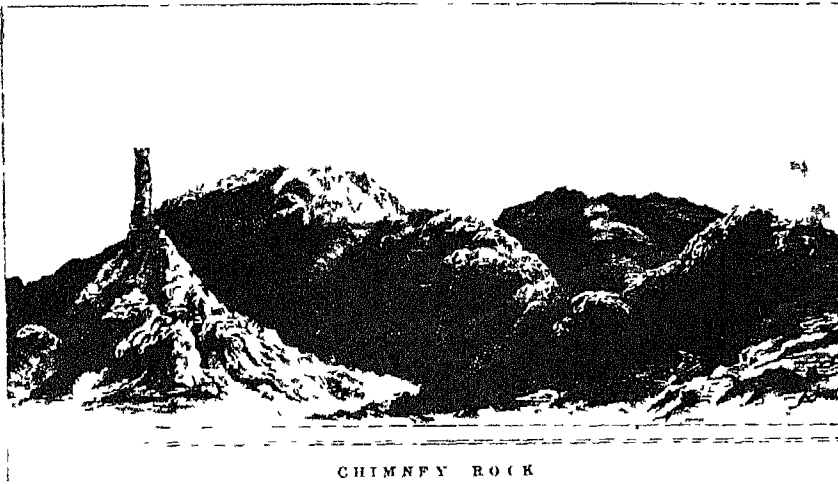
A few miles farther up the river, Chimney Rock stood out against the sky

John C Fremont, *Report of the Exploring Expeditions of 1842 and 1843-44*

Scotts Bluff

Courtesy The Managing Editor

Another day's march brought them to Scotts Bluff, where the badlands forced them away from the river and through a picturesque pass

Rattlesnakes abounded

U S Senate Executive Document 33rd Congress 1st Session

The Oregon Trail *(Continued)*

Another forty miles brought the emigrant trains to Fort Laramie (see page 285) which, in the view *below*, we see as it appeared to John C Fremont when he went up the trail in 1842

FORT LARAMIE
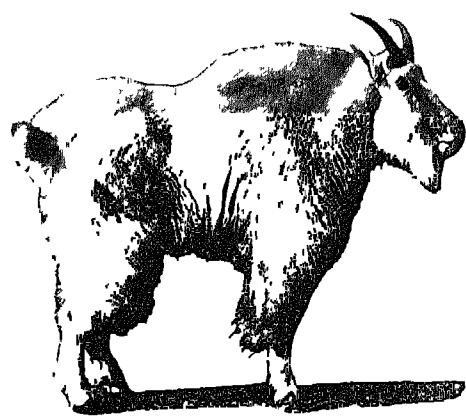
John C Fremont, *Report of the Exploring Expeditions of 1842 and 1843-44*

The travelers were now in the foothills of the Rocky Mountains, and Rocky Mountain goats (or sheep) might be seen leaping from cliff to cliff above the Trail

Courtesy, The New York Zoological Society, New York

For another one hundred and forty miles the Trail followed the south side of the North Platte Then it crossed over and shortly left the Platte, heading for the Sweetwater River at Independence Rock, a landmark on which were carved literally thousands of names. Buffalo had been met with earlier but here was their great range.
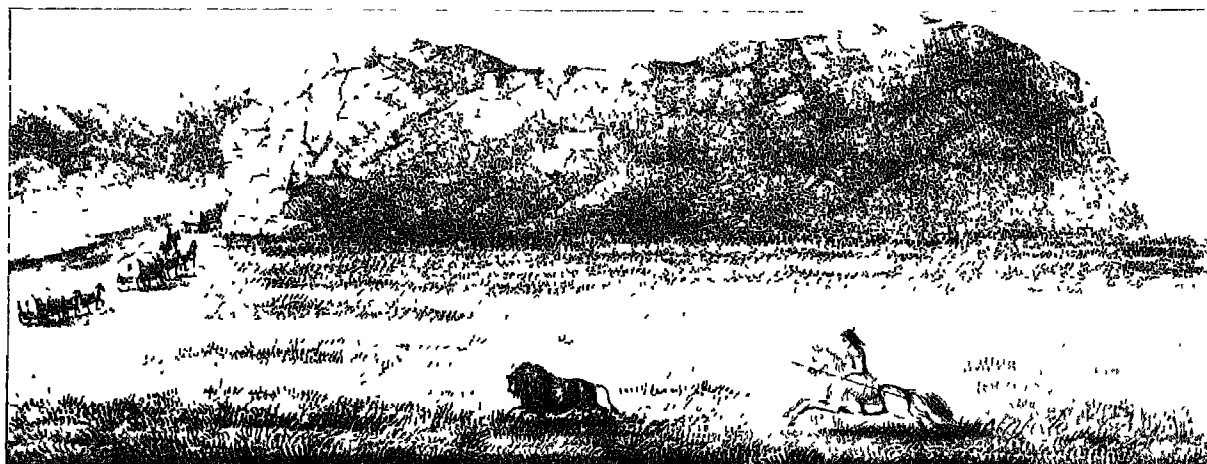
NORTH EAST VIEW OF INDEPENDENCE ROCK

U S Senate, Executive Document No 1, 31st Congress, 2nd Session

The Oregon Trail *(Continued)*
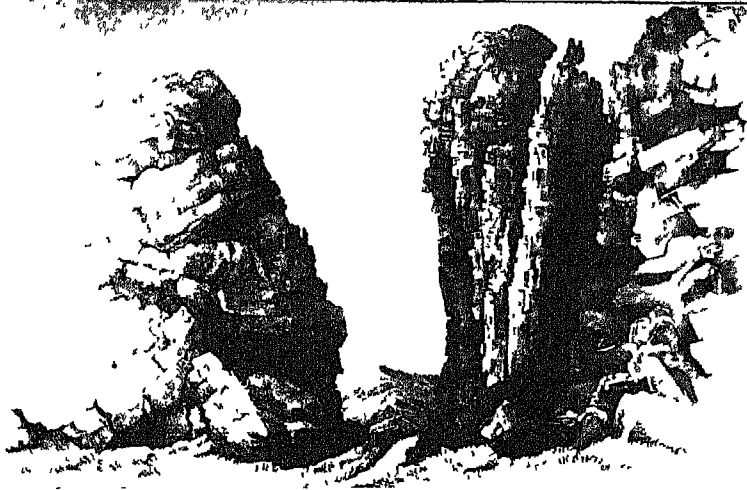
John C Fremont, *Exploring Expeditions in the Years 1842 and 1843 44*

Devil's Gate

Along the Sweetwater was another interesting landmark, the Devil's Gate The Trail crossed and re-crossed the Sweetwater and from its headwaters was gently led to South Pass on the Continental Divide—west of which the streams ran toward the Pacific.

To avoid the mountainous country directly before them, west of South Pass, the wagon trains generally turned somewhat to the southward at that point, crossing the Green River and—after 1843 when it was established—passing by Bridger's Fort.

South Pass

Courtesy, National Park Service, Washington, D C
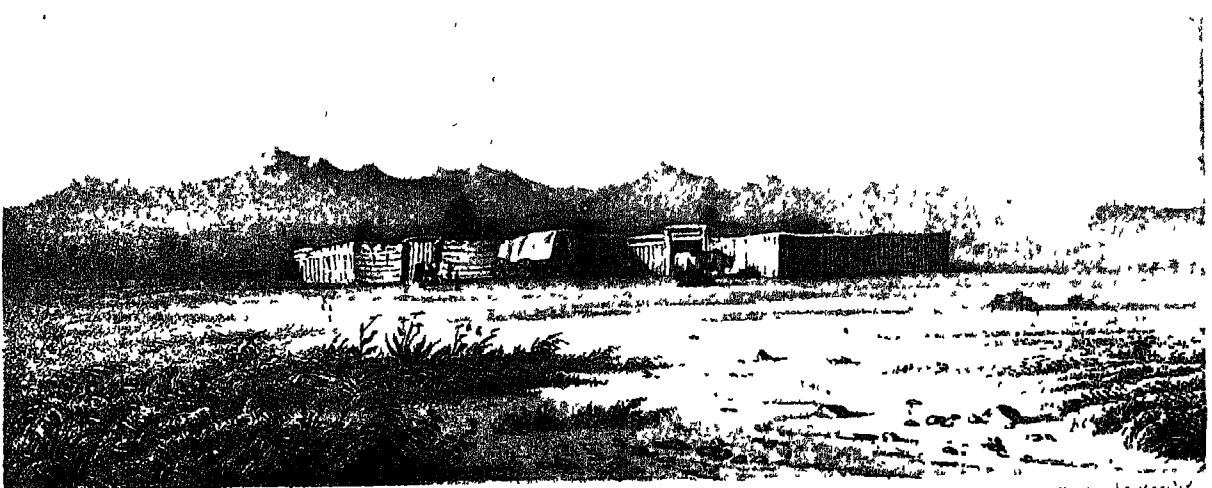
FORT BRIDGER BLACK'S FORK OF GREEN RIVER

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah in 1849-50*

The Oregon Trail *(Continued)*

When Fremont went out on the Trail in 1842, he turned off to the north just beyond South Pass and explored the Wind River Mountains.

VIEW OF THE WIND RIVER MOUNTAINS

John C Fremont, *Report of the Exploring Expeditions of 1842 and 1843 44*

But the Oregonians were interested in nothing short of Oregon From Bridger's Fort, they headed for the Snake River, striking it at Fort Hall, a trading post of the Hudson Bay Company.
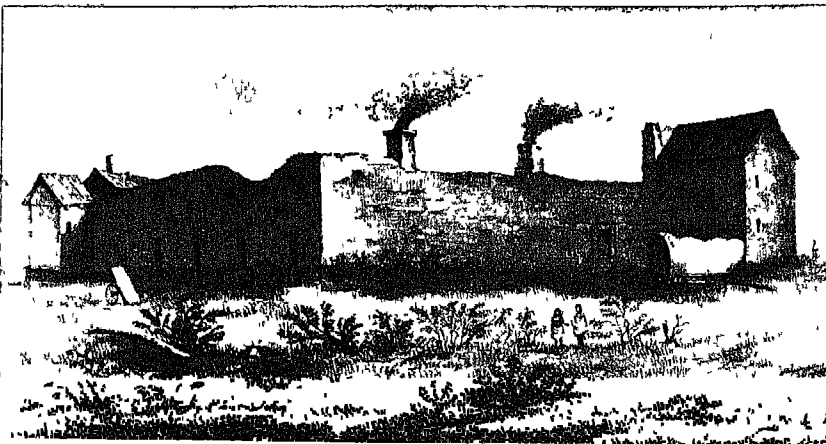
OUTSIDE VIEW OF FORT HALL ON [illegible]

U S Senate, Executive Document No 1, 31st Congress 2nd Session

U S Senate, Executive Document No 1, 31st Congress, 2nd Session

INSIDE VIEW OF FORT HALL

The Oregon Trail *(Continued)*

From Fort Hall the Trail followed down the Snake River, crossed it, and came to Fort Boise, another Hudson Bay trading post.
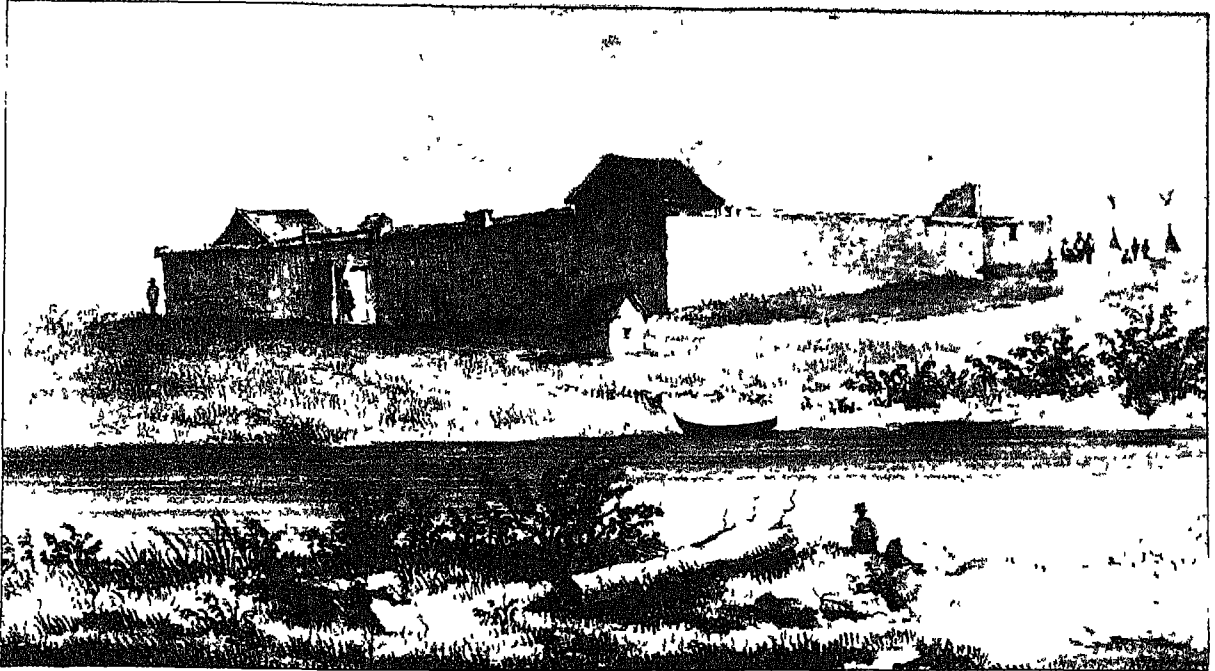
VIEW OF FORT BOISSE ON SNAKE RIVER

A few miles beyond Fort Boise the road left the Snake River and went over the mountains to the Columbia River.

INSIDE VIEW OF FORT BOISSE ON SNAKE RIVER

Following the south side of the Columbia, the caravans came to the Methodist Mission at the Dalles, a series of falls in the river, beyond which navigation was sometimes possible

Mission near Dalles

All illustrations on this page are from U S *Senate, Executive Document No 1, 31st Congress, 2nd Session*

Oregon

From the Dalles there was, by land, a hard pull of ninety miles over the Cascade Range to Fort Vancouver near the mouth of the Willamette River—up which most of the emigrants went, and on which the American Village (Oregon City) grew up.

THE AMERICAN VILLAGE

Sir Henry James Warre, *Sketches in North America* 1849

At the mouth of the Columbia, where Astoria had stood, were a few houses, but Fort Vancouver (see page 286) was now the great trading post—still operated by the Hudson's Bay Company.
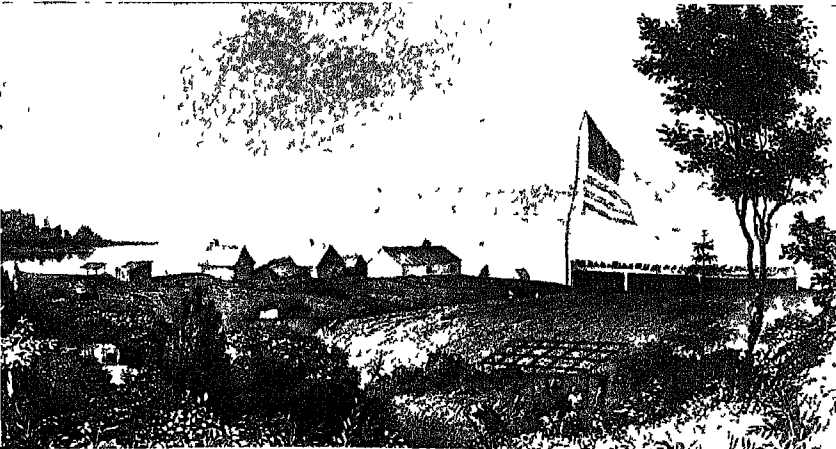
Charles Wilkes, *Narrative of the U S Exploring Expedition* 1844

ST MARY'S AMONG THE FLAT-HEADS (See Letter No. ...)

In the mountains of eastern Oregon (present Montana), among the Flathead Indians, was the Catholic Mission of St. Mary's, founded by Father DeSmet in 1841.

P J DeSmet, *Oregon Missions and Travels over the Rocky Mountains in 1845-46* 1847

California

John C Fremont, several of whose pictures we have seen from the official report of his explorations of 1842, was sent on another expedition in 1843. On Nov 25, 1843, he was at the Dalles —ready to return home with his party, but instead of going back over the Oregon Trail, he headed south along the eastern base of the Cascade or Sierra Range. On Jan 13, 1844, his party was at Pyramid Lake with the high, snowbound Sierras to the west and an impassible desert to the east.

Fremont decided to go over the mountains to California, then a part of Mexico It took the party a month to force its way through the snow-filled passes of the Sierra Range.

J C Fremont, *Report of the Exploring Expeditions of 1842 and 1843 44*

THE PYRAMID LAKE

But on March 6, 1844, Fremont, on the American River in advance of his main party, approached the junction with the Sacramento River, where John Augustus Sutter, a Swiss who had lived in Missouri, had the headquarters of a great ranch which he held under a grant from the Mexican government.

J C Fremont, *Report of the Exploring Expeditions of 1842 and 1843 44*

PASS IN THE SIERRA NEVADA OF CALIFORNIA

ENCAMPMENT ON THE SACRAMENTO

Charles Wilkes, *Narrative of the U S Exploring Expedition* 1844

Above is a view near Sutter's Fort as seen by a U S. naval officer in 1841.

J M Letts, *A Pictorial View of California* 1853

9

MANIFEST DESTINY

1845-1848

United States Magazine and Democratic Review August, 1844

James Knox Polk

In the national election of 1844 the Democratic Party nominated James Knox Polk of Tennessee, the Whigs nominated Henry Clay of Kentucky Polk won, and on March 4, 1845, became the eleventh President of the United States

Right Polk proceeding to the Capitol for the inaugural ceremonies

The Weekly Herald New York, March 8, 1845

Left Polk proceeding to the White House after the inauguration.

The Weekly Herald, New York, March 8, 1845

The Texas Question

The Weekly Herald, New York, Feb 8, 1845

Discussing the Texas Question

Since Texas achieved its independence in 1836, there had been a strong sentiment both in the Republic of Texas and in the United States in favor of annexation to the Union. The question was a political issue in the campaign of 1844. Polk came into office committed not only to the annexation of Texas but to the acquisition of California. To Texas he promptly offered the privilege of entering the Union as a State.

NEW-YORK DAILY TRIBUNE.

BY GREELEY & McELRATH — OFFICE TRIBUNE BUILDINGS — FIVE DOLLARS A YEAR

VOL V NO 75 — NEW YORK, MONDAY MORNING JULY 7, 1845

Very Late and Important from Texas.

By the United States Steamer *Princeton*, which arrived at Annapolis, Maryland, on Thursday after noon at 2 o clock, we have Texas dates to the 23d of June—from Washington to June 21, from Galveston to June 23 The news comes to us in a Post script to The Union The President of the United States received the official papers at half past 8 o clock on Thursday evening by a Special Messenger from Annapolis

By this news it will be seen that the Annexation Resolution passed both Houses of the Texan Congress unanimously, and that the Senate had also unanimously rejected the proposed Treaty with Mexico They judge correctly that they would be fools to turn their attention to Mexico, when they have so great a goose to pluck as Uncle Sam It is stated that Capt Waggaman had arrived at Washington, Texas, to select posts to be occupied by the U S troops A Resolution had been introduced into both Houses of Congress, requiring the Executive to surrender all posts, navy-yards, barracks, &c. to the authorities of the United States

Early in July, 1845, a duly constituted convention in Texas accepted the offer made by the United States, and, on December 29, Texas was formally admitted to the Union.

NEW-YORK DAILY TRIBUNE.

THE TRIBUNE.

From our Extra of Yesterday Morning

BY ELECTRIC TELEGRAPH!

CABINET AT WASHINGTON CONVENED ON SUNDAY MORNING

50,000 VOLUNTEERS CALLED FOR!

$10,000,000 TO BE RAISED!

Additional and important particulars of War with Mexico!!!

REINFORCEMENT OF PT ISABEL BY CREWS OF [illegible]

No [illegible]

Gen. GAINES again in the Field.

War with Mexico

Mexico, however, refused to recognize the boundary claims of her former state, and when in 1846 the President ordered the United States Army, under Gen. Zachary Taylor, to the Rio Grande, war between the two countries became a fact.

Across the Rio Grande

Hostilities began on May 8, 1846, at Palo Alto, a few miles north of the Rio Grande, within the present state of Texas American cannon won the field

George Wilkins Kendall, *The War Between the United States and Mexico* 1851

Battle of Palo Alto, May 8, 1846

The following day, near Resaca de la Palma, also north of the Rio Grande, a more serious battle occurred. The Mexicans were forced to cross the river. Then, for three months, General Taylor remained inactive while futile peace negotiations were carried on and an army assembled.
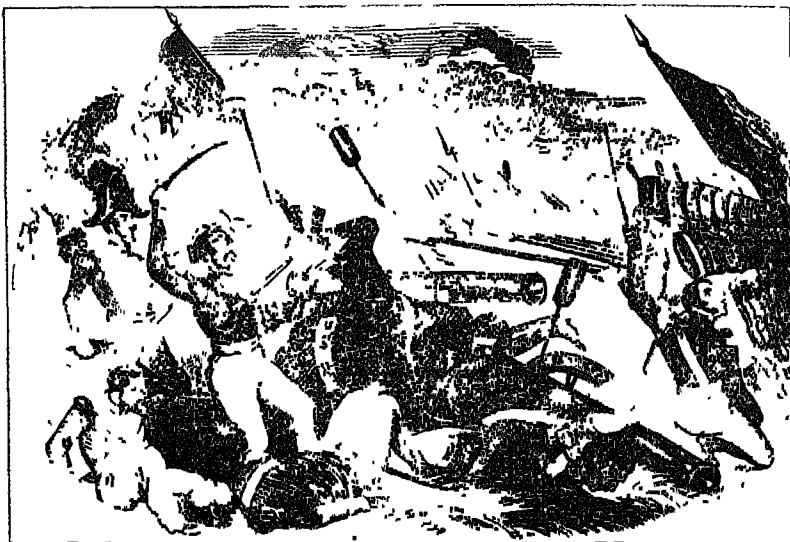
The Weekly Herald, New York, June 27, 1846

Battle of Resaca de la Palma

Negotiations having failed, Taylor, in August, struck into Mexico and, on Sept. 21-23, attacked and captured the city of Monterrey, 100 miles southwest of the Rio Grande.

George Wilkins Kendall, *The War Between the United States and Mexico* 1851

Battle of Monterrey

The Conquest of New Mexico

While Gen. Taylor was marking time on the Rio Grande, the Army of the West, under Gen. Stephen W. Kearny, was marching from Fort Leavenworth, on the Missouri River, charged with the conquest of New Mexico and California.
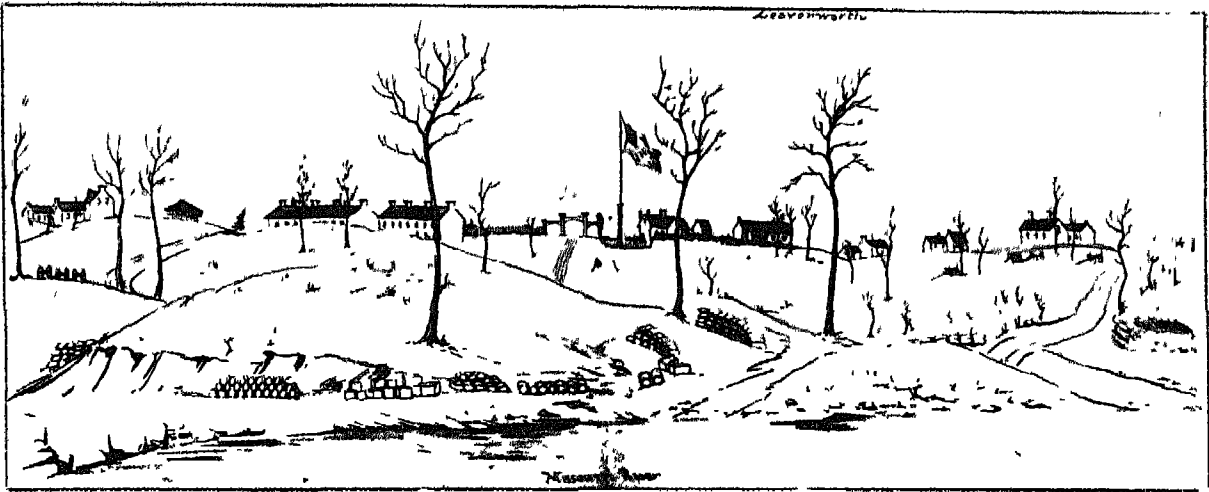
Courtesy, The State Historical Society of Wisconsin, Madison

Fort Leavenworth About 1849

In addition to units of the regular army, there was a volunteer force and a Mormon battalion, the latter enlisted from the emigrants of that faith encamped on the Missouri River (see page 361). From Fort Leavenworth the route was down the Santa Fe Trail to Bent's Fort on the upper Arkansas River.
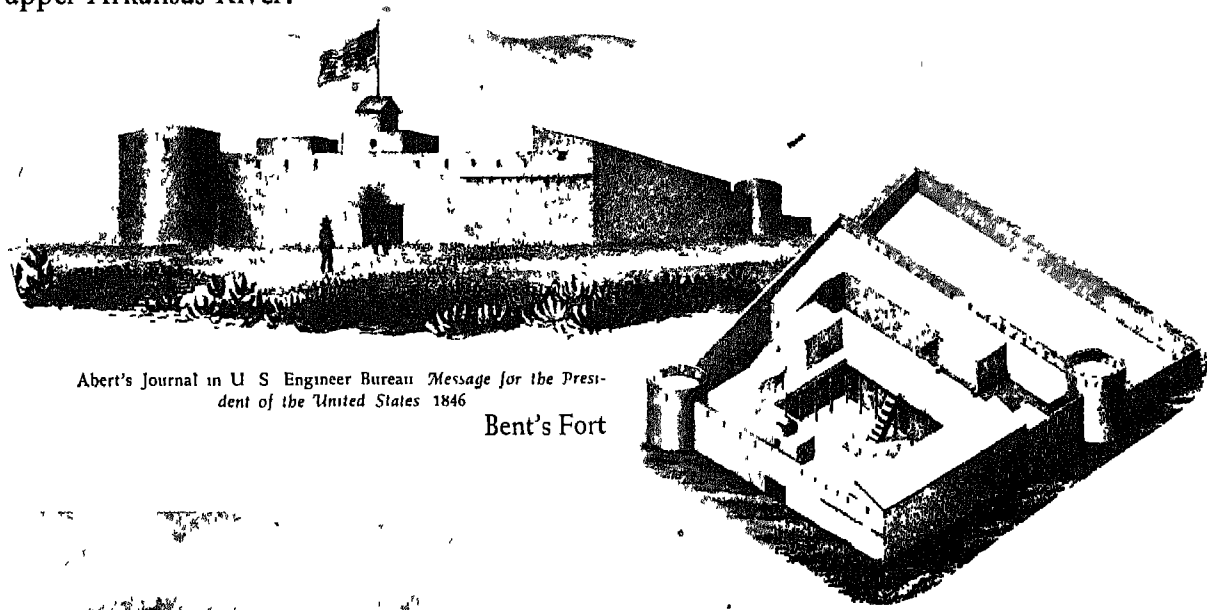
Abert's Journal in U S Engineer Bureau *Message for the President of the United States* 1846

Bent's Fort
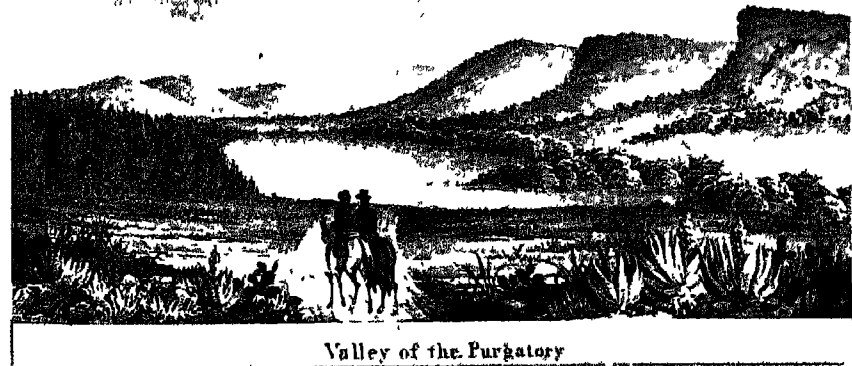
Valley of the Purgatory

From Bent's Fort, still following the western prong of the Santa Fe Trail, the army of conquest turned south along the Purgatoire River.

U S Senate, Executive Document No 438, 29th Congress, 1st Session

To Santa Fe

On down the Trail, Kearny's army crossed the headwaters of the Canadian River.

View on the Canadian

U S Senate, Executive Document No 438, 29th Congress, 1st Session

It skirted the Sangre de Cristo Range.

View of the Santa Fe Road

U S Senate, Executive Document No 438, 29th Congress, 1st Session

And, by the middle of August (1846), the advance reached Santa Fe, which capitulated without a struggle

SANTA FÉ

U S Senate, Executive Document No 41, 30th Congress, 1st Session

Kearny's March for California

At Santa Fe the army was divided Kearny, with 300 dragoons, started (Sept. 25, 1846) for California.

THE LAST DAY WITH THE WAGONS

Crossing the Rio Grande at Albuquerque, he followed down the western side. Here he met Kit Carson, enroute from California to Washington with despatches from John C. Frémont reporting the successful conquest of California (see page 346).

Kearny decided upon a fast push for California. Sending back 200 of his men and his wagons, he turned toward the headwaters of the Gila River, equipped with pack mules only, and with Carson as his guide. The route took him through the Santa Rita Copper Mine, famous in southwestern history, but then deserted.

VIEW OF THE COPPER MINE
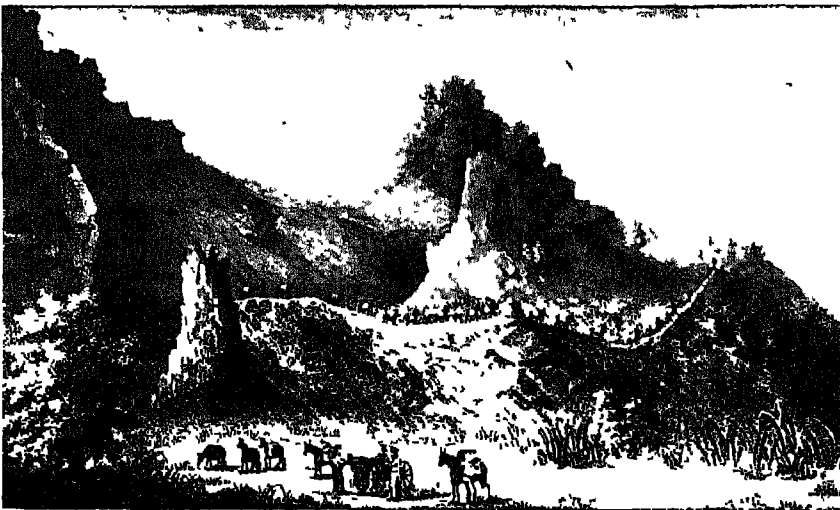
MOUTH OF NIGHT CREEK

Through the narrow valley of Night Creek, with mules already well broken down, the party reached the Gila River—a rough road for even the best conditioned animal.

All pictures on this page are from W H Emory, *Notes of a Military Reconnoissance, from Fort Leavenworth to San Diego* Some of the sketches may have been made by Lt W H Warner, later killed by the Indians in California, others were doubtless made by John Mix Stanley, celebrated painter of western subjects who accompanied the expedition as a draughtsman

Along the Gila
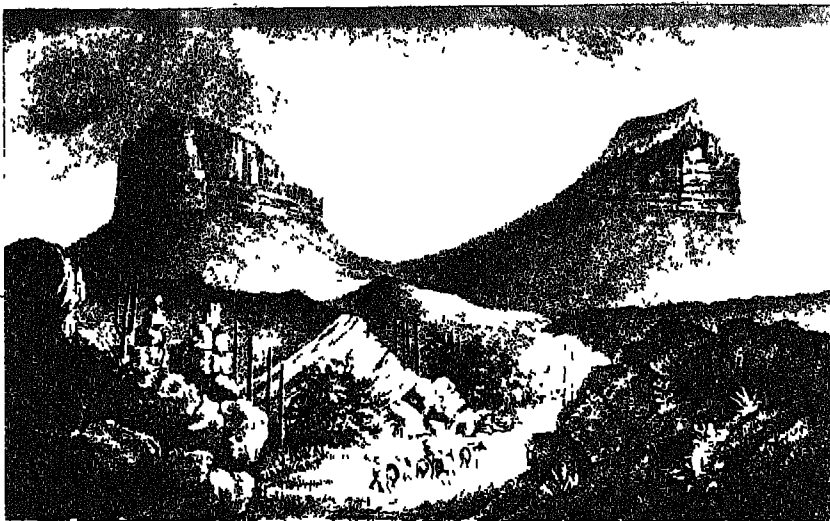
A TRIBUTARY OF THE GILA

Crossing and recrossing the Gila, between fantastic mountain ranges, the party pushed westward.

Gigantic cacti were a feature of the scenery.

"Chain of natural spires on the Gila"
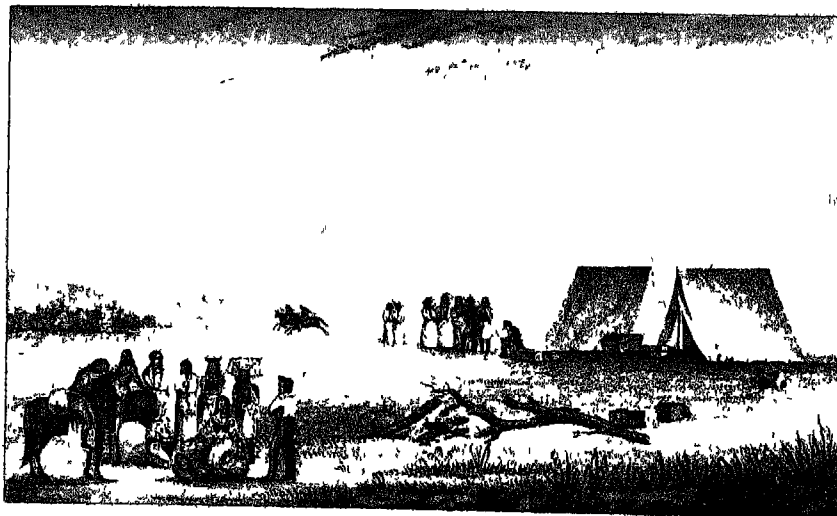
PIMOS & COCO MARICOPAS INDIANS

On Nov. 11, the little army arrived at the village of the Pimas, the members of which tribe, together with their neighbors the Coco Maricopas, were peaceful, industrious Indians quite different from the wild Apache which infested the mountains to the eastward.

All pictures on this page are from W H Emory, *Notes of a Military Reconnoissance, from Fort Leavenworth to San Diego*

On to California

A dry march of twelve days from the Pima Village brought the party to the junction of the Gila with the Colorado River, which latter they were able to ford.
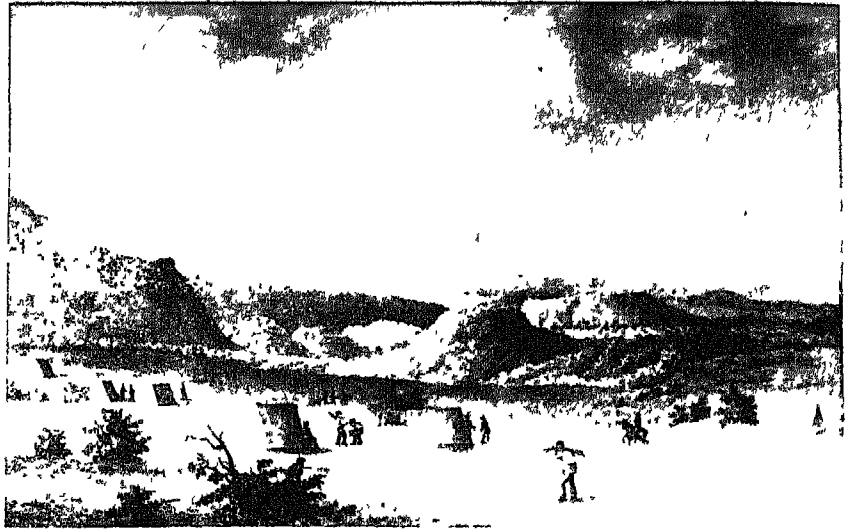
JUNCTION OF THE GILA & COLORADO RIVERS

W H Emory, *Notes of a Military Reconnoissance, from Fort Leavenworth to San Diego*

After another fearful march of some 150 miles, without adequate water, and a serious brush with a superior force of native Californians, Kearny's reduced and battered "army" was rescued by a relief expedition sent out by Commodore Stockton from San Diego, where the survivors arrived on Dec. 12, 1846.

SAN DIEGO

W H Emory, *Notes of a Military Reconnoissance from Fort Leavenworth to San Diego*

It was found that after the first successes of Frémont and the naval forces in California, the native Californians had made counter attacks, and in part the conquest had to be made all over again.

Monterey, Calif

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

Frémont and the Bear Flag War

President Polk was intent on the acquisition of California. No officer in the U. S Army knew the route to California better than Capt John C. Frémont—Captain because of his successful exploring trip to California a year earlier (see page 337). The summer of 1845 saw Frémont, with sixty well-armed men, again on his way to California, where he arrived in December.

The Mexican officials, polite at first, soon ordered Frémont to get out. He refused, but, there still being no tidings of war, moved northward toward Oregon, making a camp on Klamath Lake.

John Charles Fremont, *Memoirs of My Life* 1887
Frémont on Klamath Lake 1846

Turning back toward California, Frémont found the American settlers ready to revolt against Mexico. The "California Republic" was declared, the Bear Flag created, and Mexican authority at an end in northern California

Right The Bear Flag
Courtesy The Society of California Pioneers, San Francisco
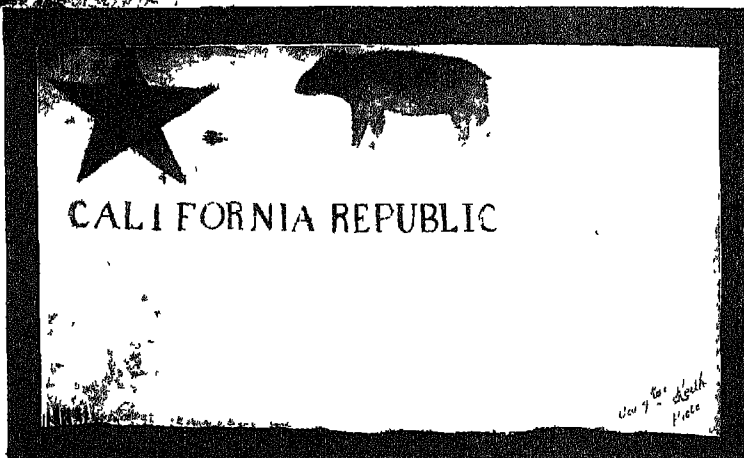
John Charles Fremont, *Memoirs of My Life* 1887
British and American Men-of-War in Monterey Harbor 1846

Then, in July, came American naval units with news of the beginning of war. The American flag was raised over Monterey; the southern towns were taken—and Carson was sent east to announce the conquest (see page 343).

Later had come the counterblow of the native Californians—into which Kearny marched from the Gila (see page 345). However, a short time after Kearny's arrival, through the combined efforts of his forces, the naval units and Frémont's forces, the conquest was finally achieved

Cooke and the Mormon Battalion

Some three weeks after Kearny started from Santa Fe for California via the Gila, Col Philip St George Cooke, with the Mormon Battalion (see page 341) and the wagon train, also started for California—but by a longer sweep to the south where it was hoped the wagons could be got through

GUADALUPE PASS SONORA

This route led through the Guadalupe Pass, near the present southern boundary of New Mexico and Arizona. Except for the difficulty of getting through the pass, the road was reasonably passable, and Cooke established a new wagon road to the west

VALLEY LEADING TO SANTA CRUZ SONORA

The Battalion then turned up the dry valley of the Santa Cruz River through the village of Tucson and joined Kearny's route at the Pima Village—arriving in California the latter part of January

From the Great Bend of the Arkansas to the Colorado River, both Kearny and Cooke had been crossing territory first explored by Coronado 300 years earlier

Tucson

All illustrations on this page are from John Russell Bartlett, *Personal Narrative of Explorations and Incidents in Texas* etc 1854
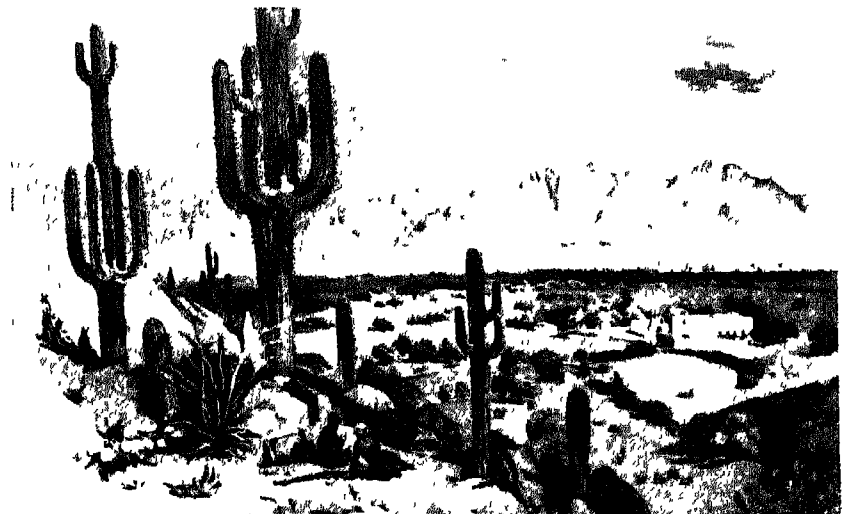
Doniphan's Expedition

In December, 1846, the volunteer army which had followed Kearny down the Santa Fe Trail was, after a brief visit to the Navaho, on the march south from Santa Fe—under Col Alexander W. Doniphan Following Kearny's route down the Rio Grande, Doniphan crossed to the eastern side at Valverde.

U S Senate Executive Document No 41, 30th Congress, 1st Session

Valverde 1846

From Valverde, the volunteers proceeded down the Jornada del Muerto (the journey of death), a ninety-mile detour away from the river and without water, to El Paso

Journal of William H Richardson 1848

The Jornada del Muerto

BATTLE OF BRAZITO.

Just north of El Paso, on Christmas Day, 1846, they were engaged by 600 Mexicans in what came to be known as the Batttle of Brazito—and won only after a brisk action.

John Frost, *An Illuminated History of North America* 1854

El Paso to Chihuahua

The volunteer army was made up mostly of Missourians, some 850 in all. The men were not accustomed to military discipline and the uniforms were far from uniform.

THE VOLUNTEER

John Taylor Hughes, *Doniphan's Expedition* 1848

Even Missourians learned something about mules.
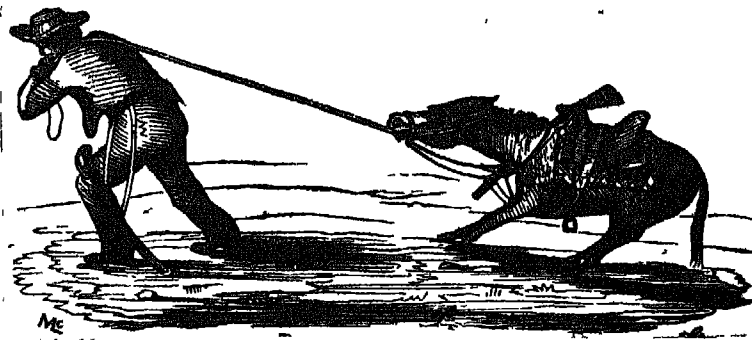
John Taylor Hughes, *Doniphan's Expedition* 1848

Wash day had its picturesque features.

Journal of William H. Richardson 1848

CHARGE OF CAPTAIN REID, AT SACRAMENTO

On the Sacramento River, fifteen miles north of Chihuahua, a Mexican army faced Doniphan, only to be routed. Chihuahua was taken and the volunteer army pushed on, joining the troops that, from Monterrey (see page 340) and from Texas, had assembled around Saltillo.

John Taylor Hughes, *Doniphan's Expedition* 1848

The War in Mexico

From Monterrey (see page 340) Gen Taylor had advanced toward Saltillo At a place called Buena Vista, on Feb. 22-23, 1847, the Mexicans, under Santa Anna, attacked in strength, only to suffer a severe defeat Taylor became a popular hero in the United States, but the further conquest of Mexico was to be in the hands of Gen. Winfield Scott.
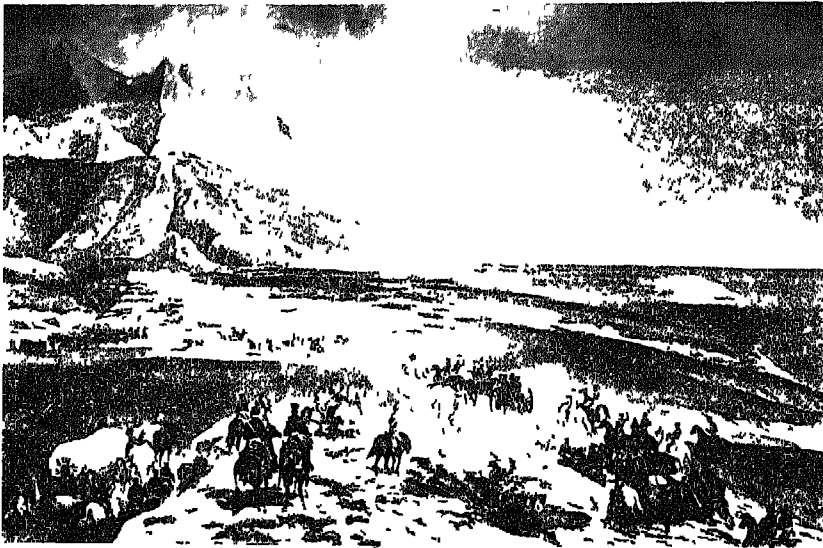
Left, Battle of Buena Vista

The strategy now shifted to that of a direct attack on Mexico City from the east On March 9, 1847, Gen Scott landed an army and a siege train near the port of Vera Cruz Twenty days later the city capitulated

Right, Bombardment of Vera Cruz

From Vera Cruz the army pushed westward along the National Road toward Mexico City. Santa Anna blocked the way at the mountain pass of Cerro Gordo. Again the Mexican Army was routed (April 18, 1847).

Left, Battle of Cerro Gordo

All illustrations on this page are from George Wilkins Kendall, *The War Between the United States and Mexico* 1851 Kendall was part owner of the New Orleans *Picayune*, had been a prisoner of the Mexicans, and had no love for them He was with Scott from Vera Cruz to Mexico City.

To the Halls of the Montezumas

As the army approached the capital of Mexico, it swung around to the south and west of the City At Contreras, Churubusco and Molino del Rey, battles were fought

Right, Battle of Molino del Rey Sept 8, 1847
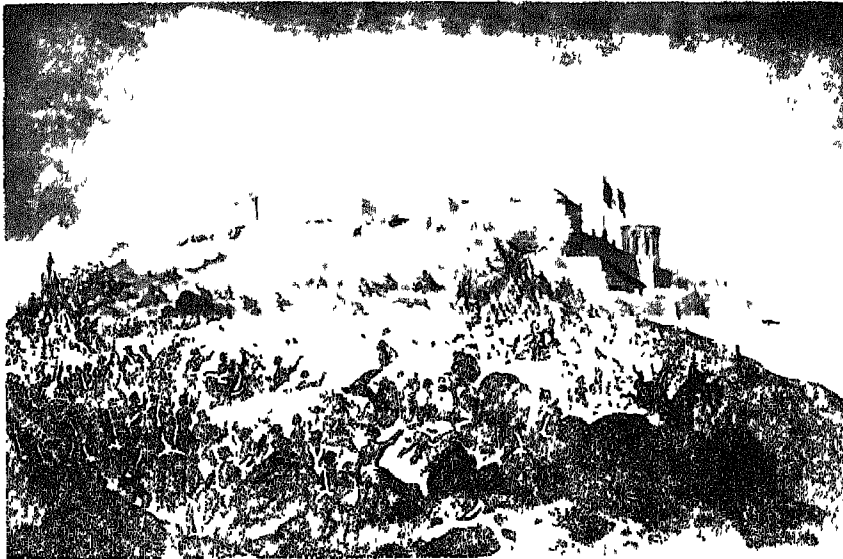
On Sept 13, Chapultepec, a seemingly impregnable fortress guarding the western approach to the City, fell to the attacking American Army The capital city, defenseless, surrendered.

Left, Storming of Chapultepec

On Sept 14, 1847, Gen Scott entered Mexico City The war was over and by the Treaty of Guadalupe Hidalgo, ratified the following year, New Mexico and California were ceded to the United States

Right, Gen Scott's entrance into Mexico City
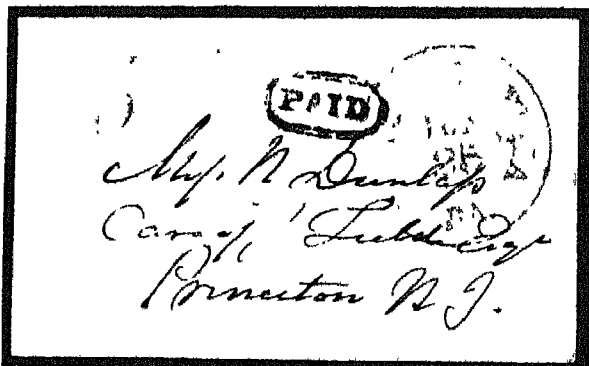
All illustrations shown on this page are from George Wilkins Kendall, *The War Between the United States and Mexico* 1851

Postage Stamps

Courtesy, Benjamin K Miller Stamp Collection, The New York Public Library

Prior to 1847 postage was, in general, paid in money and the fact of its having been paid indicated either in writing or by a rubber stamp (as *opposite*) on the envelope.
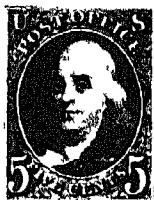
A Description of United States Postage Stamps, 1847 1939

In 1845 Congress authorized the use of adhesive postage stamps, and on July 1, 1847, the Post Office issued a five-cent stamp (bearing the head of Franklin) and a ten-cent stamp (bearing the head of Washington).

There being sometimes a shortage of five-cent stamps, the user would cut a ten-cent stamp into two halves.
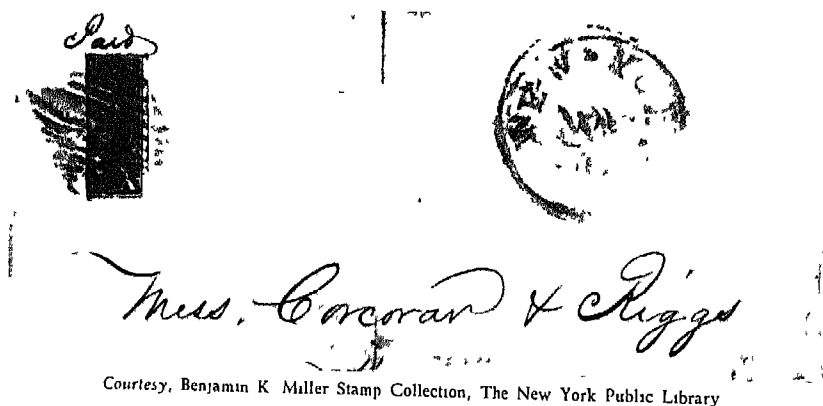
Courtesy, Benjamin K Miller Stamp Collection, The New York Public Library
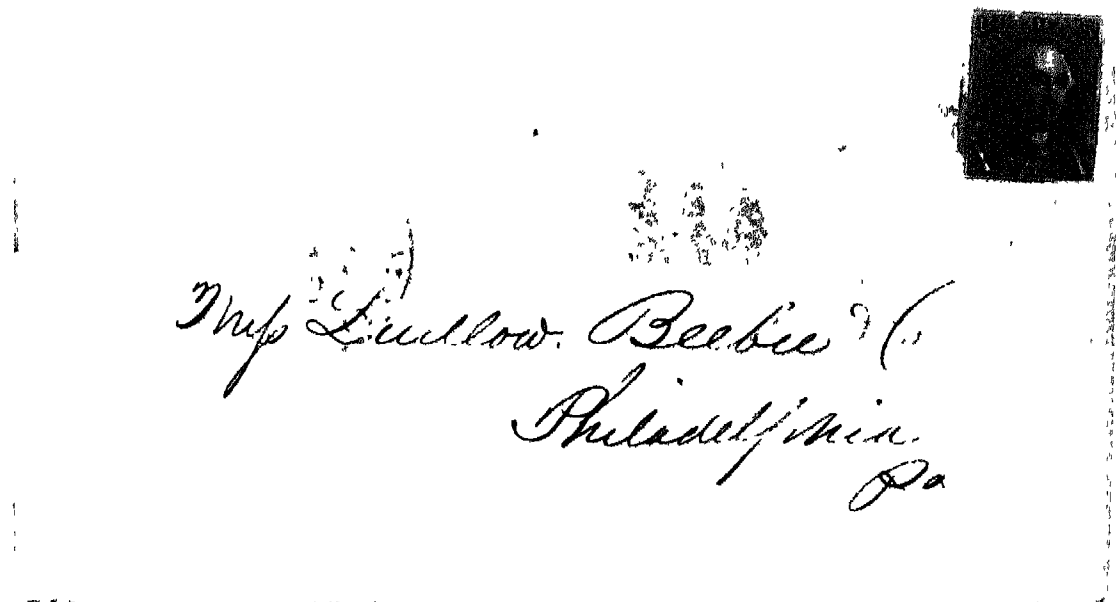
Courtesy, Benjamin K Miller Stamp Collection, The New York Public Library

Letter postage was at the time five cents per ounce. The result was that many letters required a ten-cent stamp.

The Sewing Machine

In 1845 Elias Howe, a twenty-six-year-old apprentice to a Boston watchmaker, invented a sewing machine, *below*, which could make 250 stitches a minute—five times the number of the swiftest hand sewer. But there was no demand for the machine, and Howe lacked the financial resources to promote its sale or manufacture
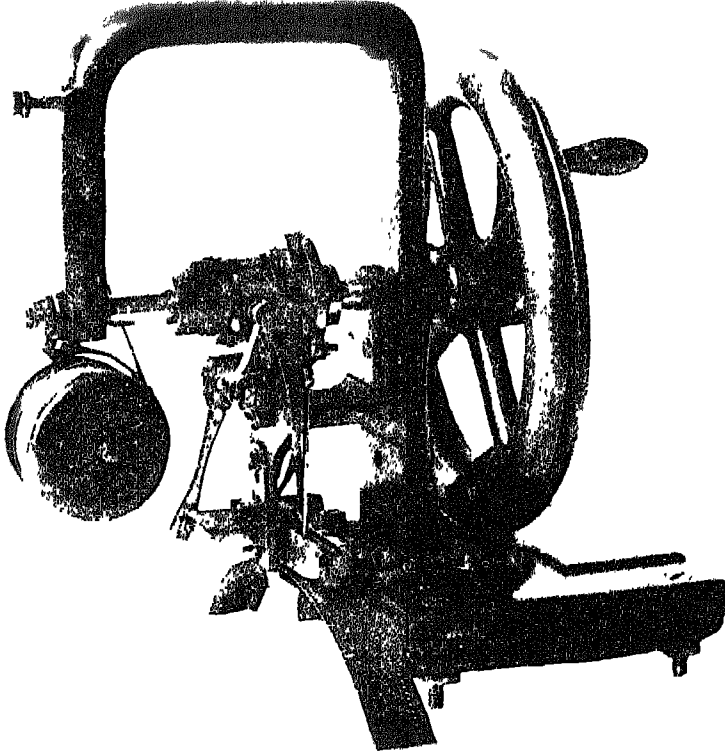
However, the inventor persisted, and, borrowing money, made a second machine, *below*, which he took to Washington with an application for a patent On Sept. 10, 1846, the patent (No. 4750) was granted.
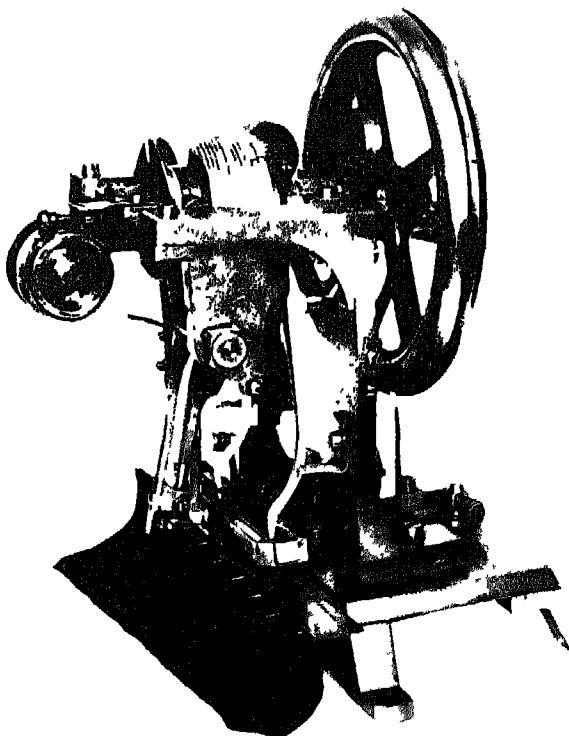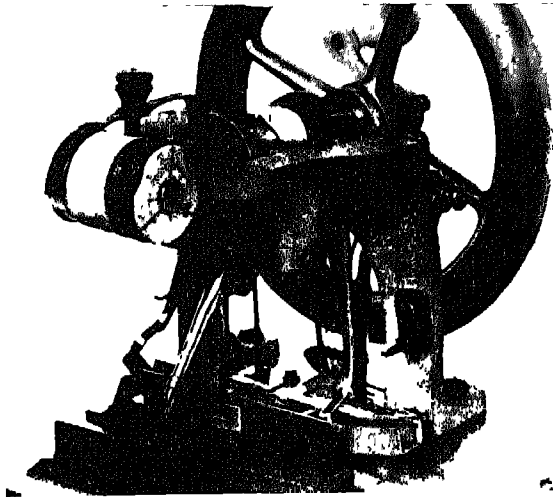
Still the American public showed no interest in the invention, and in the autumn of 1846 Howe's brother took a third machine, *opposite*, to England, where the English rights were speedily bought, and the inventor sent for to adapt the machine to sewing leather. Falling out with his English employer, Howe worked his way home by cooking in the steerage. Ultimately his patent was recognized as basic for a universally used machine and Howe drew vast royalties from his competitors

All illustrations on this page are shown through the *courtesy* of the U S. National Museum, Washington, D C

Plowing, Sowing, Planting and Cultivating
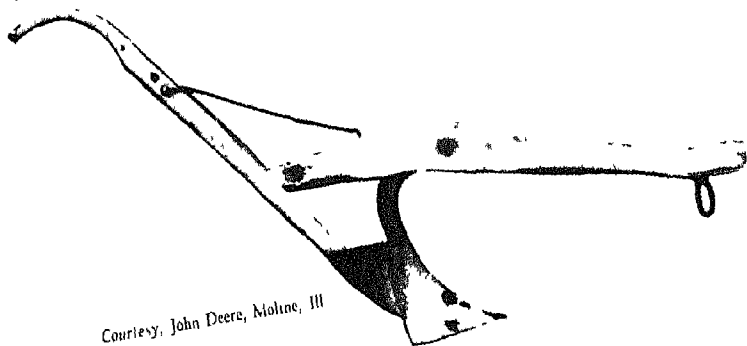
Courtesy, John Deere, Moline, Ill
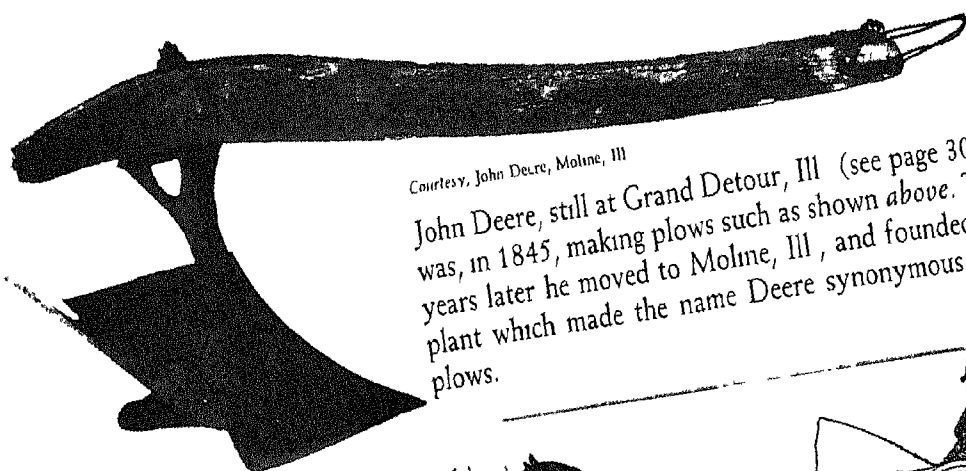
Courtesy, John Deere, Moline, Ill

John Deere, still at Grand Detour, Ill (see page 302), was, in 1845, making plows such as shown *above*. Two years later he moved to Moline, Ill, and founded the plant which made the name Deere synonymous with plows.

At Cincinnati on June 4, 1845, Hatch's sowing machine (shown *opposite*) was demonstrated It sowed wheat, oats and grass, and "with such speed and perfect regularity, as surprised and delighted the numerous spectators".
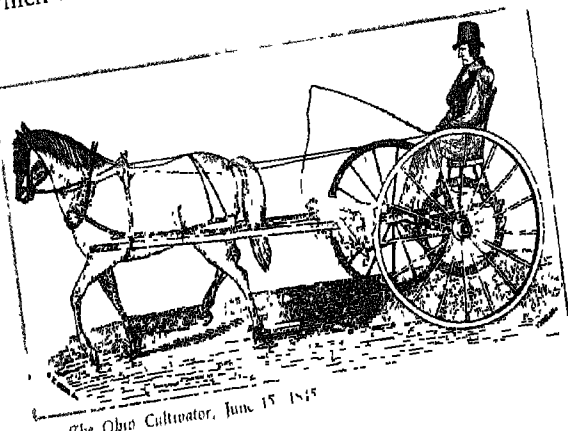
The Ohio Cultivator, June 15 1845

Left, Bachelder's Corn-Planter

American Agriculturist February, 1846
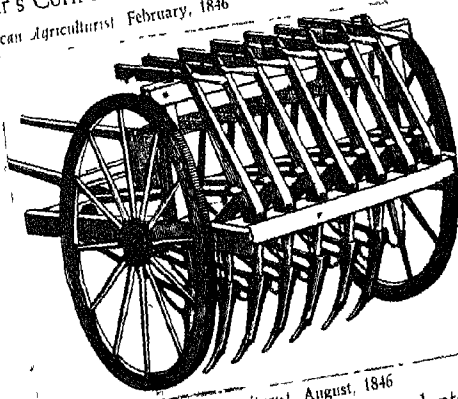
American Agriculturist August, 1846

The Ohio Cultivator Nov 15, 1846

The *above* wheel cultivator, patented by Nathan Ide of Shelby, N Y, was exhibited at the New York State Fair in 1846

Pennock's Seed and Grain Planter planted wheat, rye, corn, oats, etc, and could be so regulated as to drop any required quantity to the acre

Reaping and Threshing

Andrew J. Cook, of Delhi, Ind., invented a reaping machine which was considered an improvement over McCormick's and Hussey's reapers because it had a revolving rake that swept the cut grain off the platform and deposited it in a heap suitable for binding.
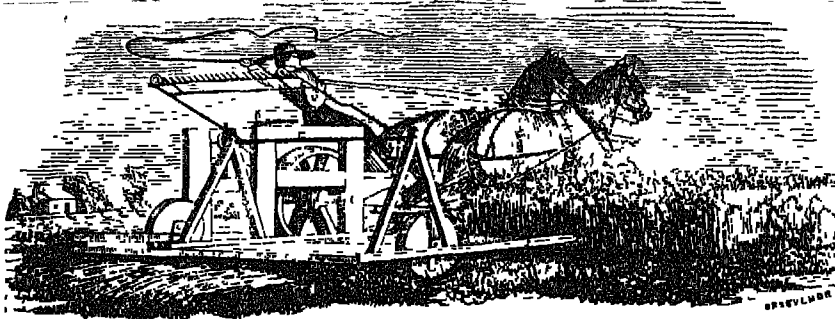
COOK'S REAPING MACHINE.

The Ohio Cultivator, April 15, 1846

PITTS' GRAIN SEPARATOR

The Ohio Cultivator June 1 1846
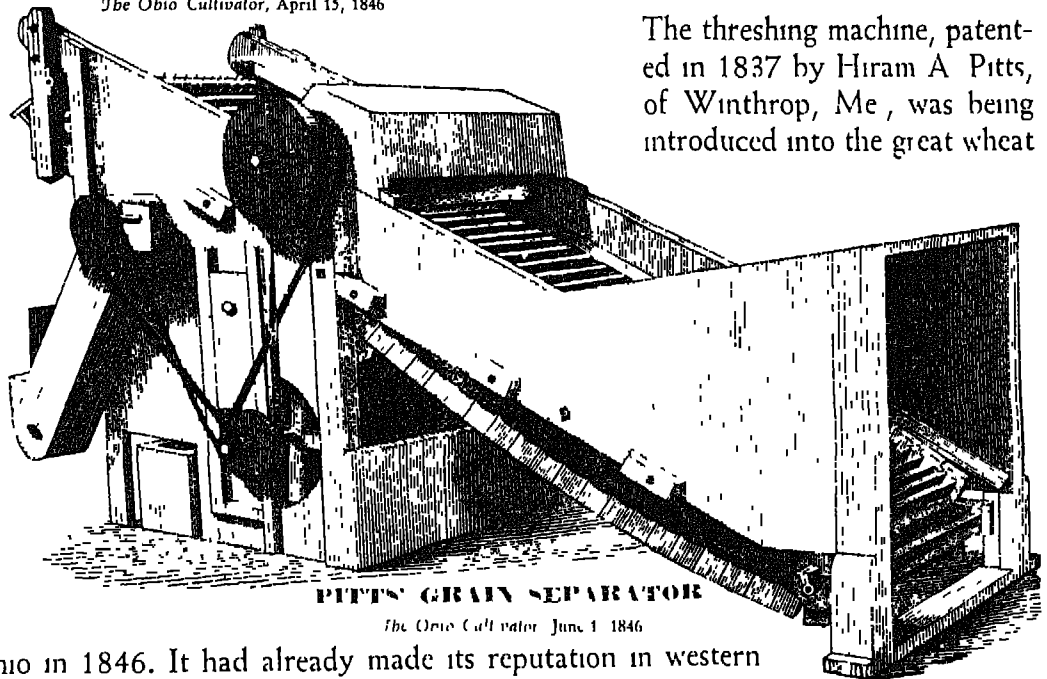
The threshing machine, patented in 1837 by Hiram A Pitts, of Winthrop, Me, was being introduced into the great wheat region of Ohio in 1846. It had already made its reputation in western New York In 1847 Pitts moved his factory to Alton, Ill, thus putting himself in the heart of the future grain belt.

Jerome I. Case, a young man from western New York, who had been selling threshing machines in eastern Wisconsin, rented a shop in Racine in 1844 and began building the machines which made the name J I. Case standard on threshing equipment.
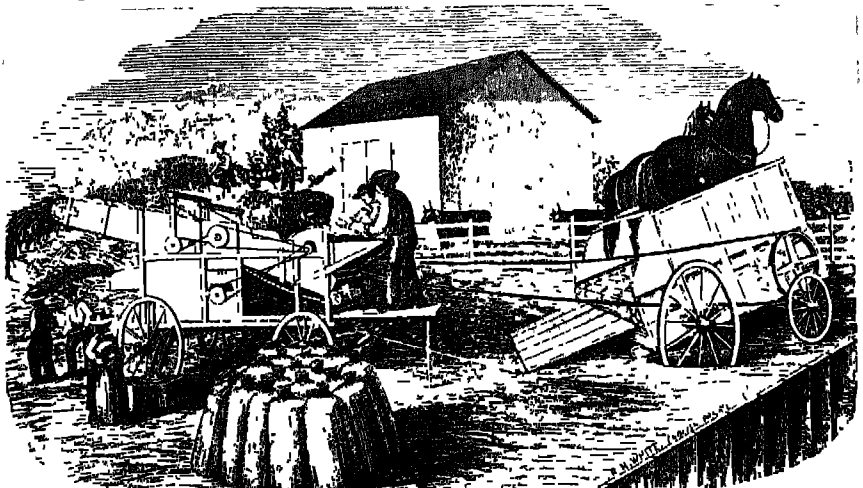
Courtesy J I Case Company, Racine, Wis

J I Case Threshing Machine and Horsepower Manufactured by J. I. Case at Racine in 1848

In the Barnyard

The farmer and stock raiser was keenly interested in keeping up and improving his livestock. *Opposite* is shown a draft stallion, "Sampson," imported from England in 1841 and in 1845 owned by a man in Columbus, Ohio
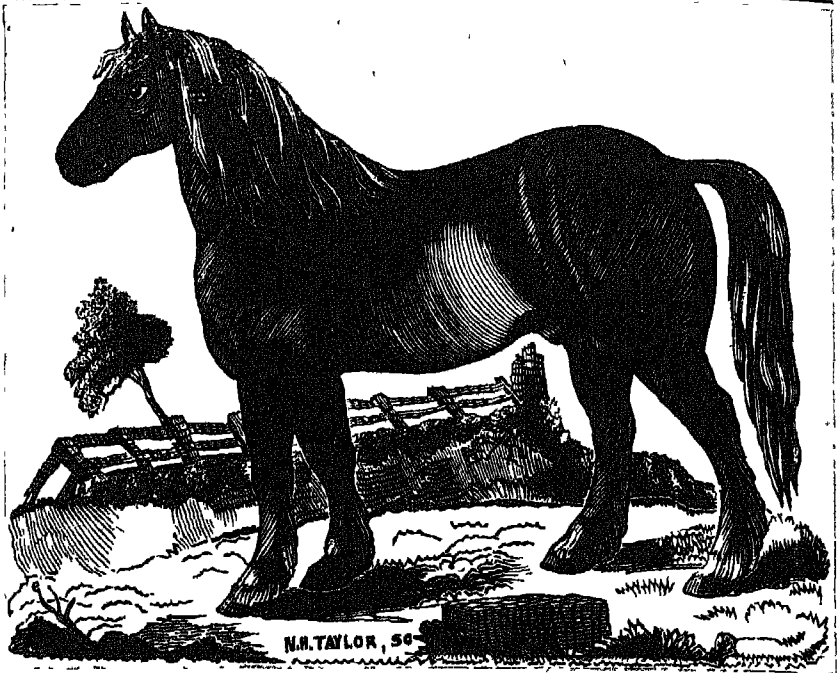
The Ohio Cultivator, Dec 15, 1845

Right is a New York prize Durham, with lettering to identify the various "points" considered in judging cattle

Below is a cross between the Woburn and Berkshire hog—considered "as perfect a specimen of the pork genus" as the editor of *The Ohio Cultivator* had seen.

NAMES OF THE POINTS OF CATTLE.

EXPLANATIONS

A—Forehead
B—Face.
C—Cheek
D—Muzzle
E—Neck.
F—Neck vein
G—Shoulder point
H—Arm
I—Shank
K—Elbow
L—Brisket or breast
M—Shoulder
N—Crops.
O—Loins
P—Hip or huckle
Q—Crupper bone or sacrum
R—Rump or pin bone
S—Round bone, thurl or whirl
T—Buttock
U—Thigh or gasket,
V—Flank
W—Plates
X—Back or chine
Y—Throat
Z—Hind quarter
a—Chest
b—Gambril or hook
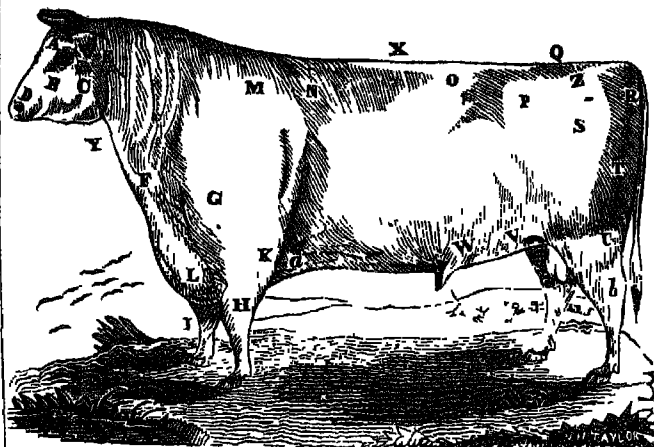
The above outline is the portrait of a New York prize animal of the most approved style of Durham breed The references illustrating the terms used in describing cattle will prove useful to farmers who are not familiar with the subject, and enable them to understand descriptions that would otherwise be incomprehensible to them We have observed a great want of this knowledge among farmers, and especially judges at cattle shows We shall at some other time give instructions respecting the standards or rules by which cattle are judged, with reference to the different breeds and the uses for which they are commended

The Ohio Cultivator Jan 15, 1846
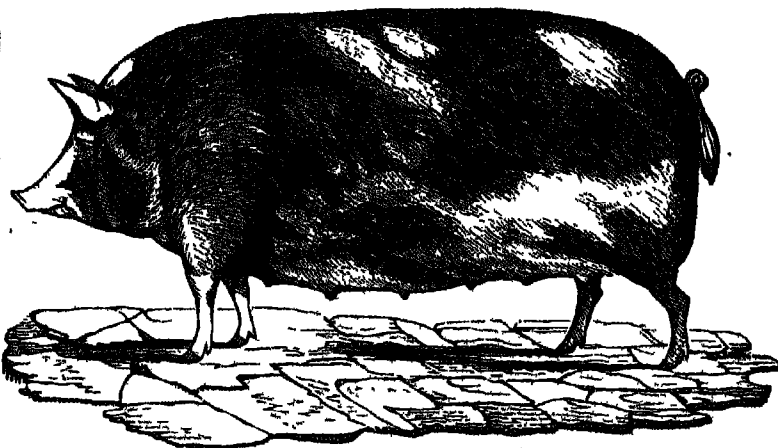
The Ohio Cultivator, Nov 1, 1845
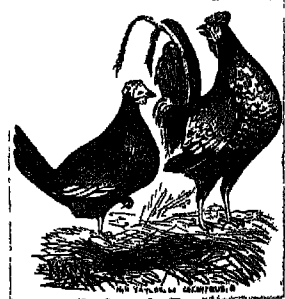
The Ohio Cultivator, Jan 1, 1846

Dorking Fowls, shown *above*, were being brought in from England and were said to be "decidedly the best breed for laying"

New England in the 1840's
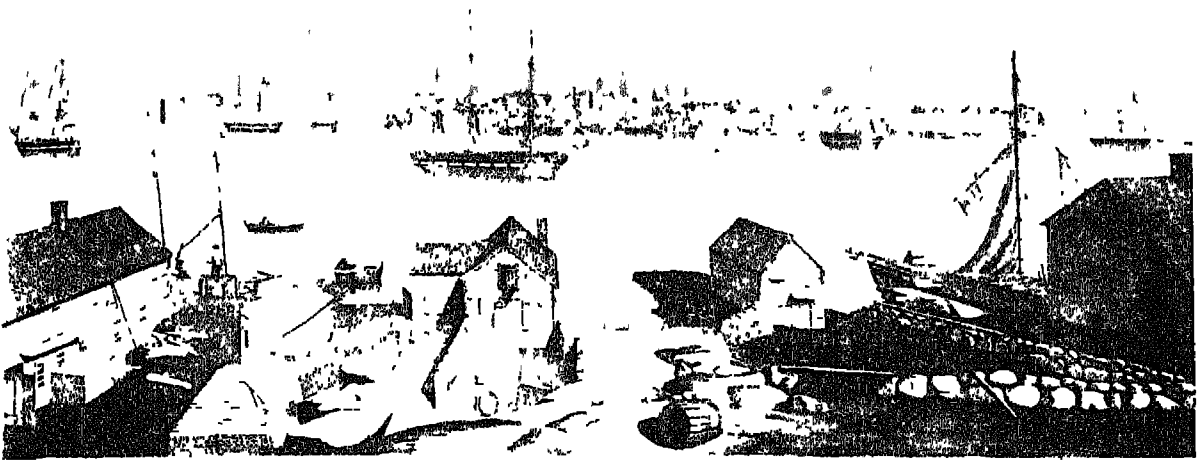
VIEW OF NEWBURYPORT.

The building with the cupola, in the center of the picture *above* is the Putnam Free School, dedicated in 1848.

Above, The Water Celebration on Boston Common, Oct. 25, 1848, on the opening of the public water supply from Lake Cochituate (Long Pond). An ode written by James Russell Lowell for the occasion was sung by the school children

New Haven, Conn., from Ferry Hill 1848. East Rock is seen on the right.

All illustrations shown on this page are through the *courtesy* of the Stokes Collection, The New York Public Library

New York City

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Manhattan Island from Fort Columbus, Governor's Island Castle Garden may be seen at the left between the two ships
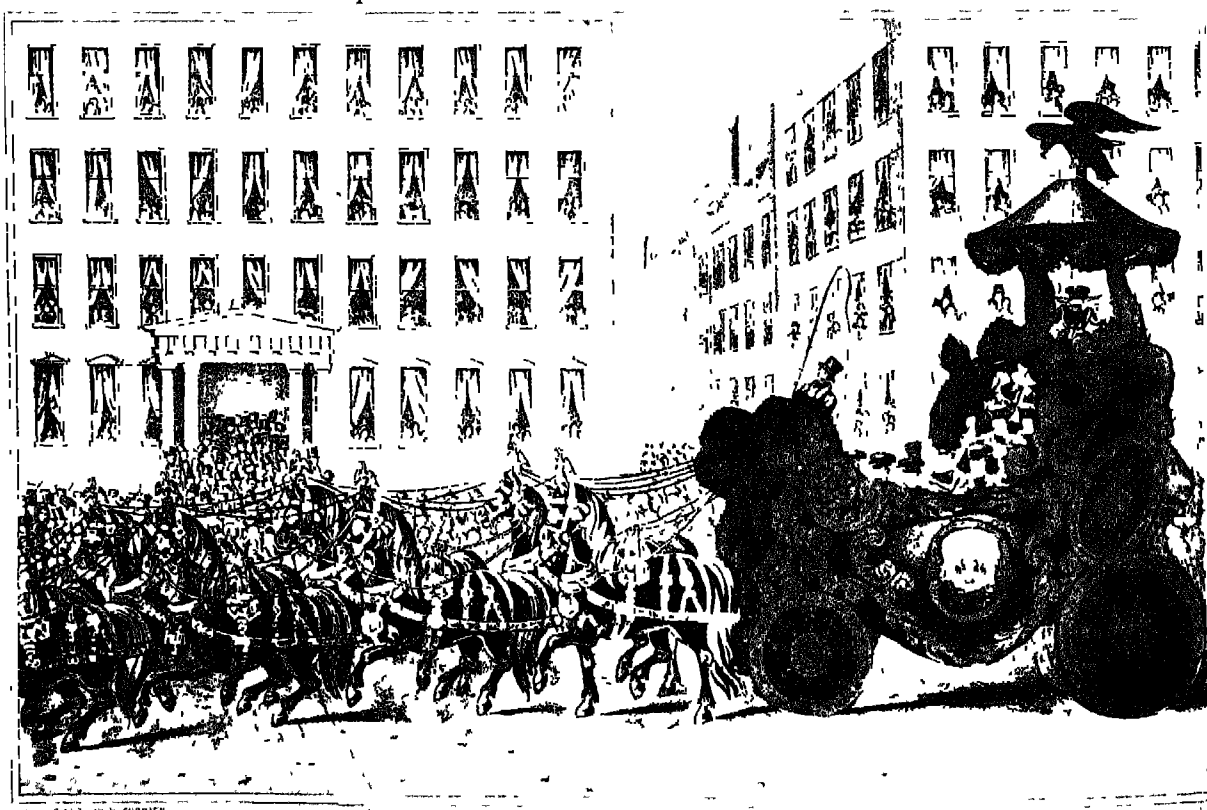
Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

While P. T Barnum was struggling to fame with the exhibition of Tom Thumb and other freaks, Van Amburgh, who had been in the show business since the 1820's, held the public gaze.

New York City

From a drawing by J W Hill 1848

New York from the steeple of St Paul's Church. Barnum's Museum may be seen on the left. In the middle foreground just above the trees is the Daguerrian Miniature Gallery of Mathew B. Brady, later famous for his photographs of the Civil War.
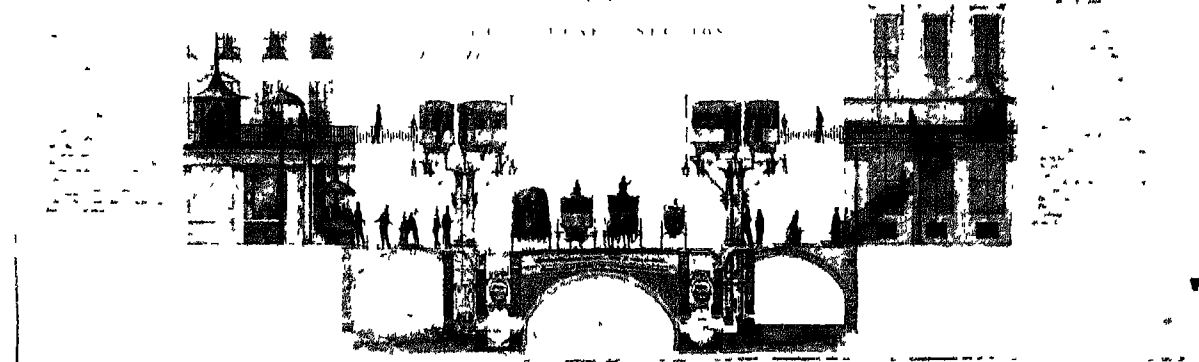
Despite the *above* "proposal", it was twenty years before New York had an elevated railway.

Both illustrations on this page are shown through the *courtesy* of the Stokes Collection, The New York Public Library

Baltimore in 1847
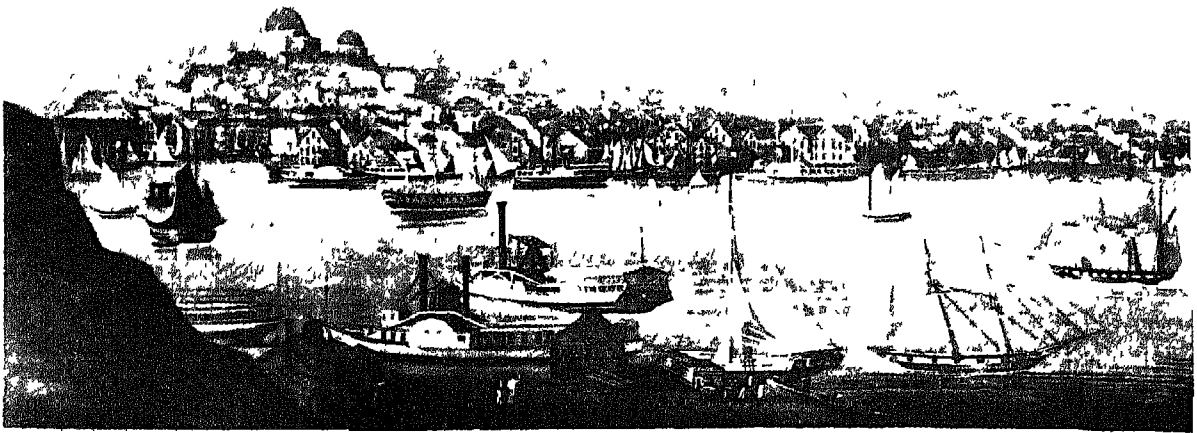
VIEW OF THE CITY OF BALTIMORE
Courtesy, The New-York Historical Society, New York City

Pittsburgh About 1848

Right Market and Courthouse.

Courtesy, Historical Society of Western Pennsylvania, Pittsburgh

Athens, Ga. About 1845

The view is from Carr's Hill, showing buildings of the University of Georgia in background and the terminus of the Georgia Railway in right foreground

From a painting by George Cook
Courtesy, The University of Georgia, Athens

The Mormon Migration

As we have seen (page 327), the Mormons had built their capital city at Nauvoo, Ill But even before the Temple was completed, Joseph Smith, the Prophet, was murdered by an unsympathetic mob, and the Mormons forced to leave Illinois Leaving Nauvoo in the cold first weeks of 1846, they moved slowly across Iowa—seeking a new home somewhere in the West.

Courtesy, Church of Jesus Christ of Latter Day Saints, Salt Lake City

Mormons on Mosquito Creek, Iowa 1846

At the site of future Council Bluffs, Iowa, they reached the Missouri River *Below* is a view of the village and river as they appeared at the time

On the western banks of the Missouri, where Omaha now stands, they established "Winter Quarters" Here they halted, living in wagons, tents and dugouts From those assembled here, the Army recruited the Mormon Battalion which Col Cooke marched from Santa Fe to California (see pages 341 and 347)

Frederick Piercy, *Route From Liverpool to Great Salt Lake Valley* 1855

But the main body, with the coming of Spring 1847, again pushed westward, crossing the Loup River and following the northern bank of the Platte and North Platte—opposite the old Oregon Trail (see pages 330, 331, 332). At Fort Laramie their route joined the Oregon Trail, which they followed as far as the newly established Fort Bridger (see page 333), from which point they proceeded directly over the mountains to the Valley of Great Salt Lake, where they established a new Zion
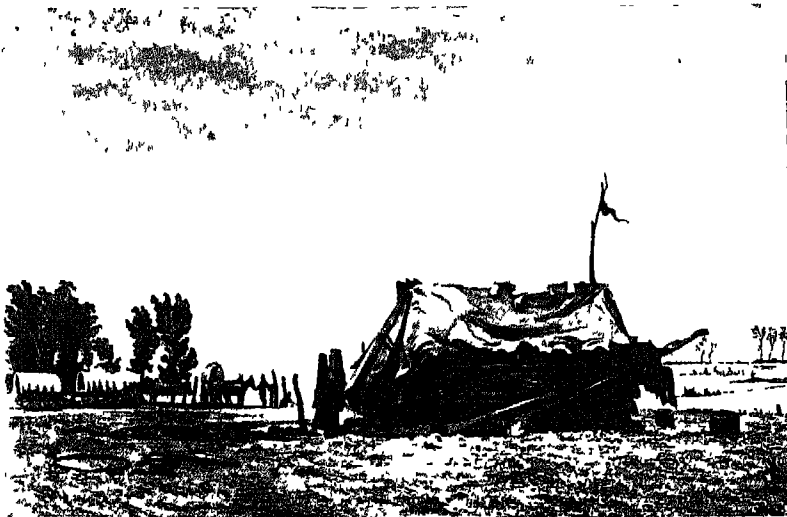
Frederick Piercy, *Route From Liverpool to Great Salt Lake Valley* 1855

Loup Fork Ferry

The Upper Mississippi

There was no state of Minnesota in 1848, nor even a Territory of that name. The region, which successively had been a part of Michigan Territory, of Wisconsin Territory and of Iowa Territory, was then "unattached"—until the creation of Minnesota Territory in 1849. But there was a place called St. Paul's.

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

St Paul (Minnesota) 1848

The view above was made in 1848 by Henry Lewis, an Englishman who had come to St Louis about 1836. Between 1846 and 1848 Lewis planned and made a panorama of the Mississippi River, which he exhibited in the eastern United States and in Europe Settling down in Germany he arranged for the publication of a great number of his illustrations in a book, *Das Illustrirte Mississippithal*, from which (the only source in most cases) the *above* and many other prints in the present volume are taken
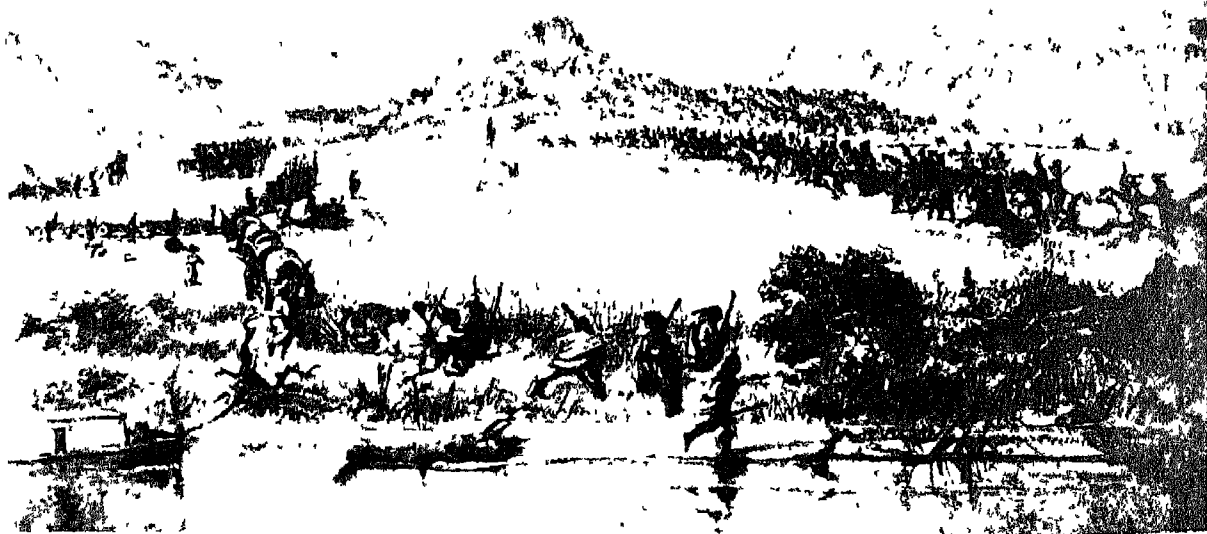
Smithsonian Miscellaneous Collections, Vol 87, No 3 (1932-1933)

The *above* picture shows an incident that occurred at Wabasha Prairie (Winona, Minn) in June, 1848. The Winnebago Indians, being ordered to a new reservation, were invited by the Sioux to stay at Wabasha Prairie Capt Seth Eastman, then commanding at Fort Snelling, came down the river with a detachment of soldiers and forced the Winnebago to continue on their way Eastman made the picture, and Lewis was present when the incident occurred—being then engaged in making his panorama as mentioned above A number of other pictures by Eastman appear in the present volume, taken either from individual paintings or from Schoolcraft's *History, Condition, and Prospects of the Indian Tribes*, in the illustration of which Eastman spent five years.

Down the Mississippi

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

Above. Mouth of the Wisconsin River as seen by Lewis in 1848 Wisconsin was that year admitted as a state.

Right.
"Fishing on the Mississippi," by George Caleb Bingham, who as a boy was taken to Franklin, Mo , by his family and whose brush has given us inimitable views of the life along the Mississippi and Missouri from about 1830 to 1870

Courtesy, William Rockhill Nelson Gallery of Art, Kansas City, Mo
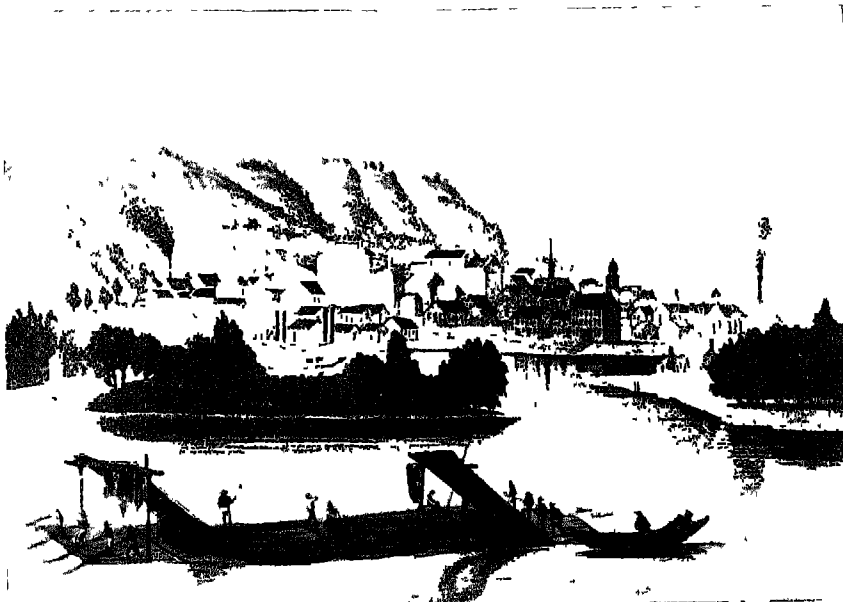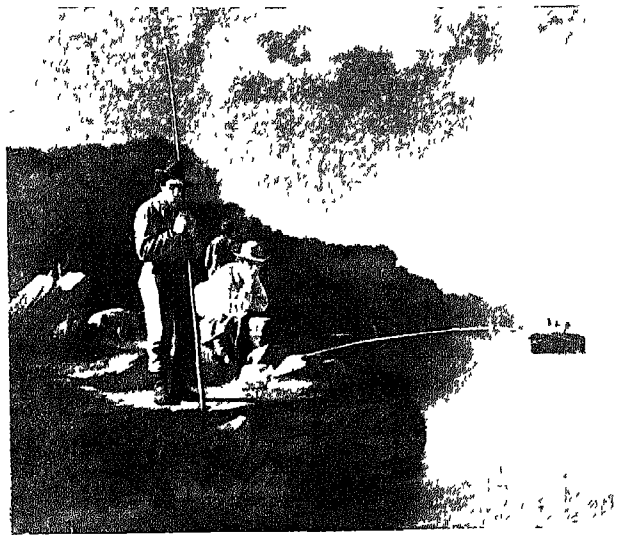
On the Iowa side of the river was the village of Dubuque, growing on the site of the lead mines worked by old Julien Dubuque fifty years earlier. Iowa was admitted to the Union in 1846.

Dubuque, Iowa, in 1848

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854 57

Down the Mississippi with Henry Lewis

The night of July 26, 1848, the artist, descending the river in a canoe, camped near Muscatine, Iowa, *opposite* In his Journal (published by the Minnesota Historical Society) Lewis stated that the soil was very favorable but there were few settlers, and they were largely along the river

At Fort Madison, *right*, Lewis found a thriving town of near 2000 people A few miles farther down the river, on the Illinois side, he visited the recently deserted Mormon capital of Nauvoo, his view of which is shown on page 327.
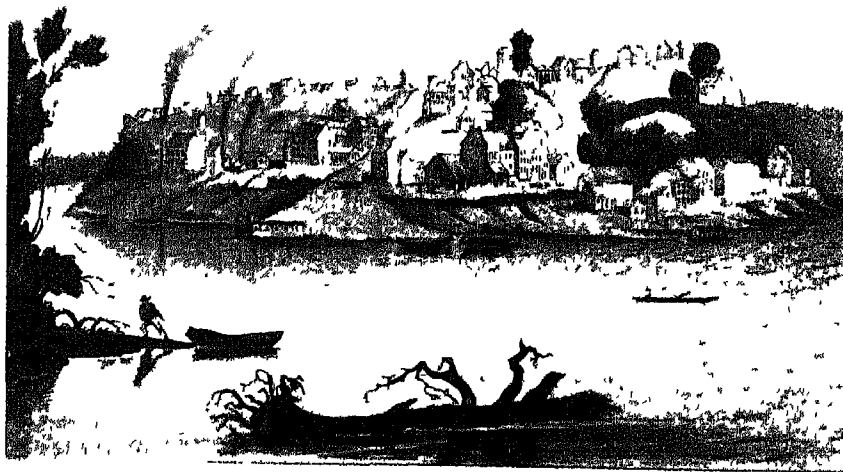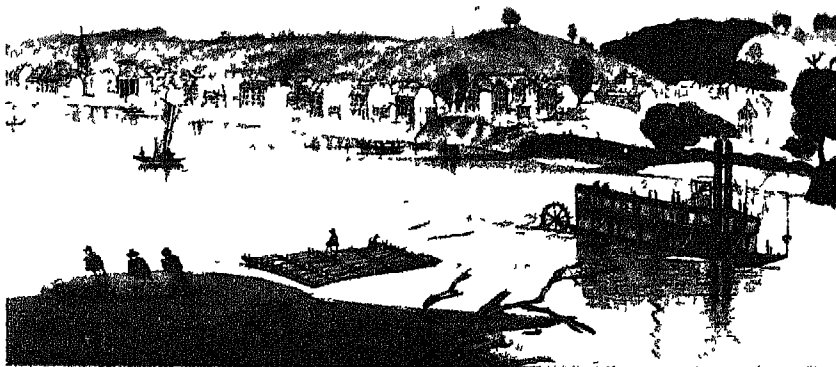
Some miles above the mouth of the Des Moines River was the village of Keokuk, named for the Sauk warrior who superseded Black Hawk after the uprising of 1832 (see pages 231 and 278) Keokuk, himself, however, had been removed to Kansas in 1845 and, at about the time Lewis painted the picture *opposite*, Keokuk, the Indian, died a hopeless drunkard.

All illustrations shown on this page are from Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

Huckleberry Finn's Mississippi

When Henry Lewis made the sketch of Hannibal, Mo., shown *opposite*, Samuel Clemens (Mark Twain) was living there—a boy of thirteen The vicinity of Hannibal is the setting for the escapades chronicled in *Huckleberry Finn* and *Tom Sawyer*
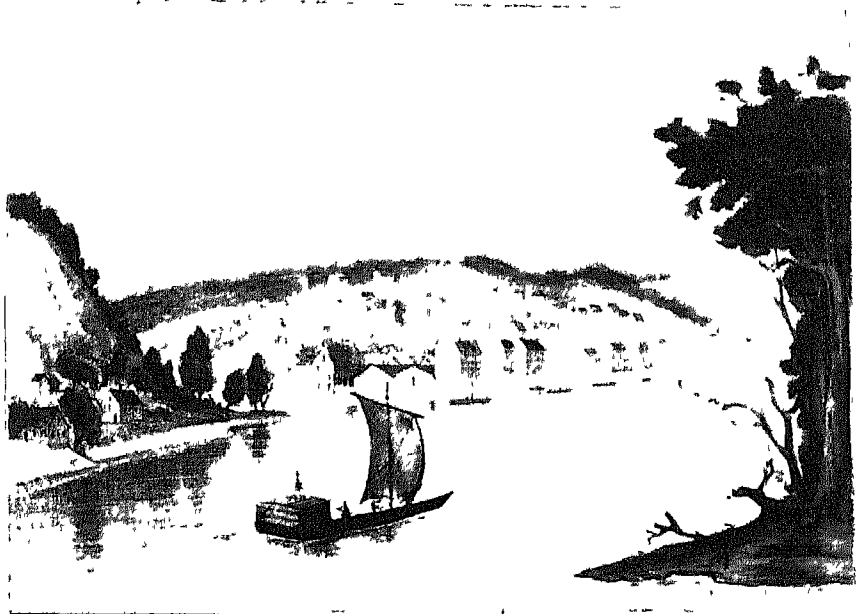
Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854 57

George Caleb Bingham was, at the same time, immortalizing the life that daily floated down the great river *Opposite* is a print from his painting entitled "Raftsmen Playing Cards."

Courtesy City Art Museum St Louis Mo

The engines of the river steamboats were fed from wood, cut and piled on the river banks. *Opposite* we see, from Lewis' sketch, a Mississippi steamer tied up at the shore and men carrying wood aboard

Henry Lewis *Das Illustrirte Mississippithal* 1854 57

Approaching the Mouth of the Missouri
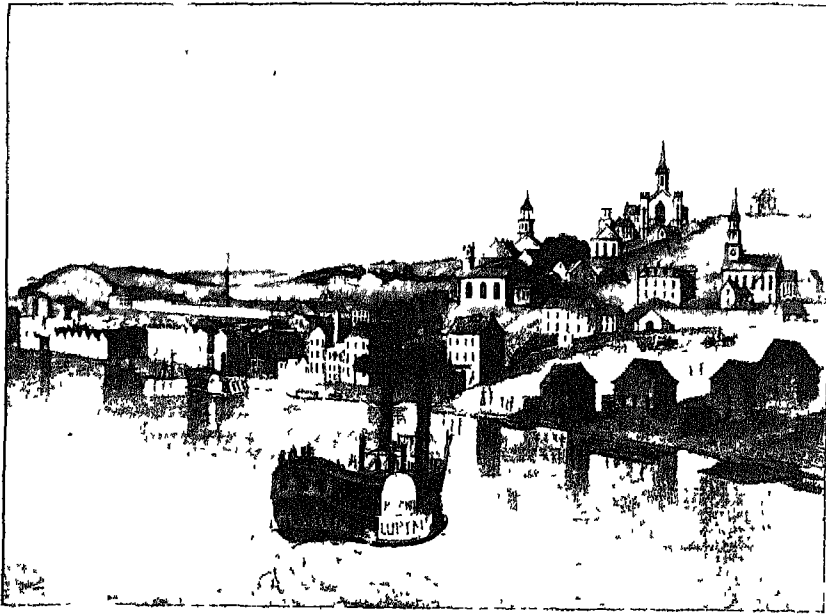
Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

Alton, Ill 1848

On the eastern side of the Mississippi, a few miles above the entrance of the Missouri River, from the west, stood the promising town of Alton, Ill, free state competitor of the slave city of St. Louis. It will be recalled that Hiram Pitts established his threshing machine factory at this place in 1847 (see page 355).

All too often the Mississippi steamboats were wrecked on snags or sand bars. *Opposite,* from Bingham's brush, we see a wrecked steamer in the river and crewmen guarding the cargo piled on shore.

Courtesy, The State Historical Society of Missouri, Columbia

The entrance of the Missouri from the west was a busy spot Steamboats, flatboats, and other craft vied with each other for the channel.

Mouth of the Missouri

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

The Lower Mississippi

Passing by St Louis, which we have viewed recently (see page 325) we have another view of Cairo, Ill, at the mouth of the Ohio River.

Cairo, Ill 1848
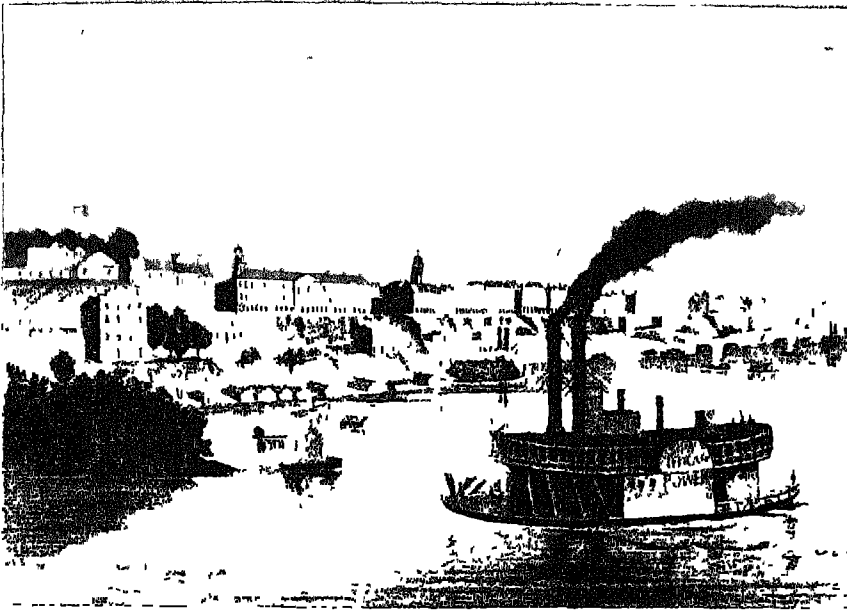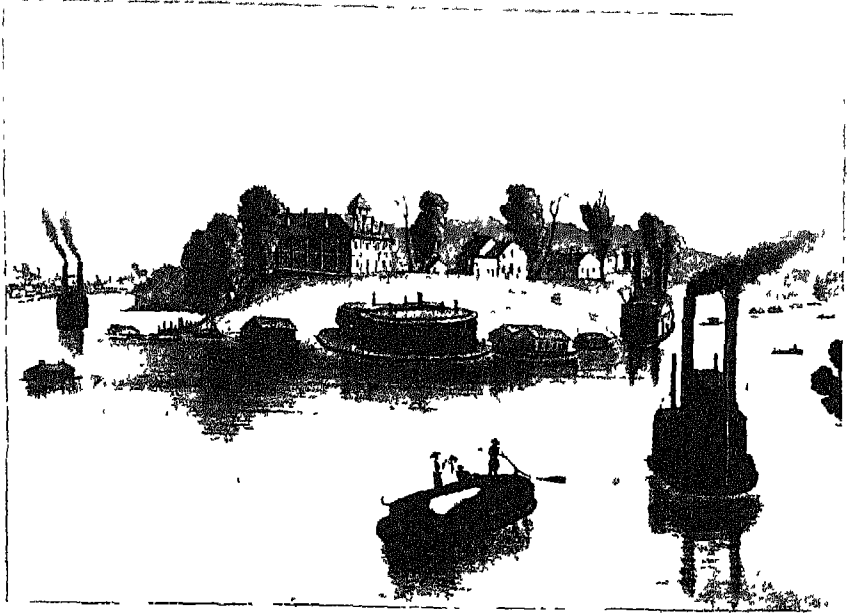
Another 150 miles down the river, as the crow flies, but much farther by the winding Mississippi, the voyager of 1848 came to Memphis, backdoor of Tennessee. It is interesting to compare Lewis' view with that of Lesueur (page 275) made nineteen years earlier.

Memphis, Tenn 1848

At the mouth of the Yazoo River was Vicksburg, thriving in the midst of one of the richest cotton-growing sections of the South

Vicksburg, Miss 1848
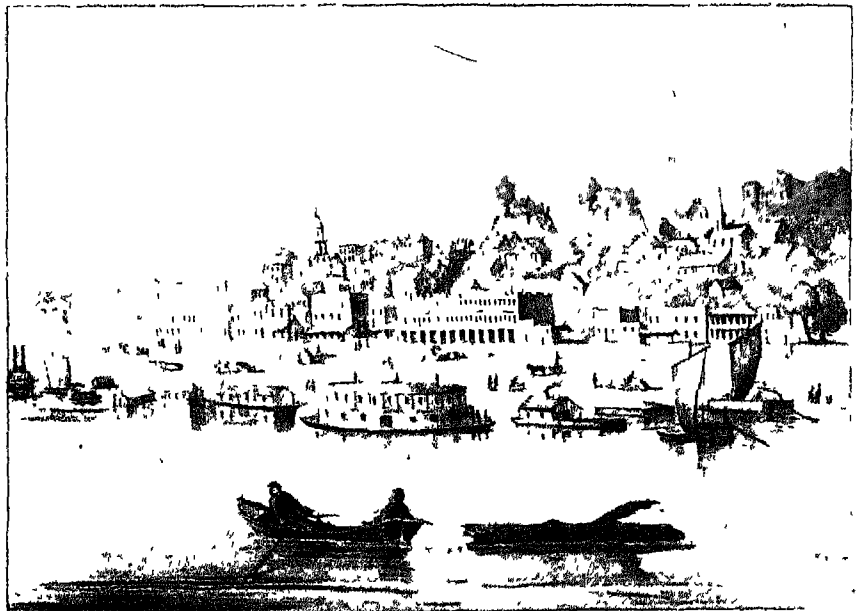
All illustrations shown on this page are from Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

The Cotton Kingdom

From Vicksburg to Baton Rouge, cotton was king in the 1840's. *Opposite* we see a cotton plantation along the banks of the lower Mississippi.

Right is a view of Natchez from the river. Note the bales of cotton piled on the boat in the left foreground. Along the river's bank may be seen Natchez-Under-The-Hill, notorious in steamboat days for its gambling dens, brothels and other iniquities. On page 275 we had a view of Natchez-On-The-Hill, in 1835.
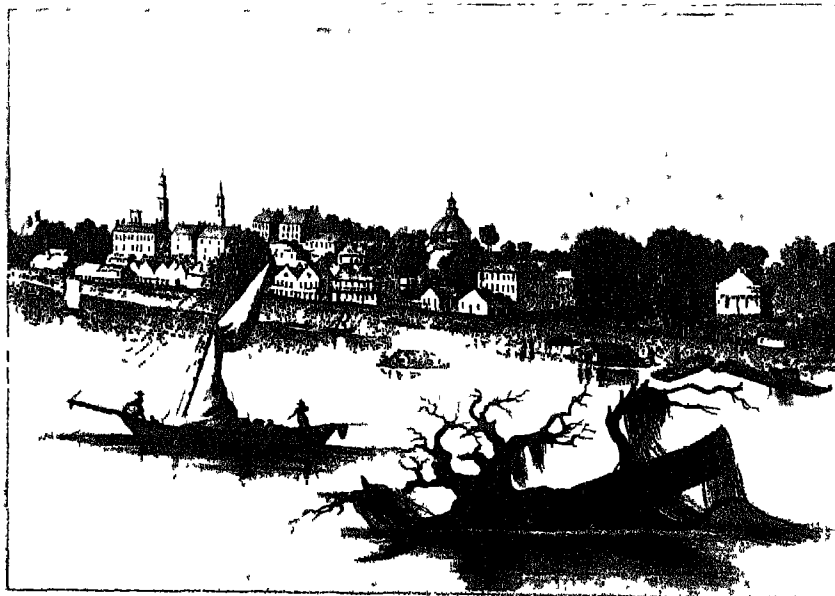
Left we see Baton Rouge as sketched by one of Lewis' assistants in 1848. Next, and last, of the great cities down the river was New Orleans, which we have seen in 1841 (page 320).

All illustrations shown on this page are from Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

The Presidential Campaign of 1848

The Whigs, victors in 1840 but defeated in 1844, put forward as their candidate for the Presidency, Gen. Zachary Taylor, the hero of Buena Vista (see page 350) The Democrats nominated Lewis Cass.

From a painting by George Caleb Bingham Courtesy, Boatmen's National Bank of St Louis, Mo

Stump Speaking

Stump speaking, which had become a recognized adjunct of political campaigning, played its part in the impending election.

County Election

From a painting by George Caleb Bingham Courtesy, St Louis Mercantile Library Association, and the City Art Museum of St Louis

The Verdict of the People

From a painting by George Caleb Bingham
Courtesy, The Boatmen's National Bank of St Louis, Mo

When the electoral votes were counted, Taylor had 163, and Cass 127. The Whigs had won.

Zachary Taylor
From a portrait by G P A Healy
Courtesy, Corcoran Gallery of Art, Washington, D C

Opposite A view of Zachary Taylor's plantation on the Mississippi River, forty miles above Baton Rouge.

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854-57

10

GOLD

1848-1853

The Spring of 1848 opened in its usual languid manner in the newly occupied and very distant territory of California. Pastoral life went on around the old mission centers.

Alex Forbes, *California A History of Upper and Lower California* 1839

The Mission of San Francisco

Ranch hands found their greatest excitement in contests with grizzly bears.

J W Revere, *A Tour of Duty in California* 1849

A RANCHERO FEAT
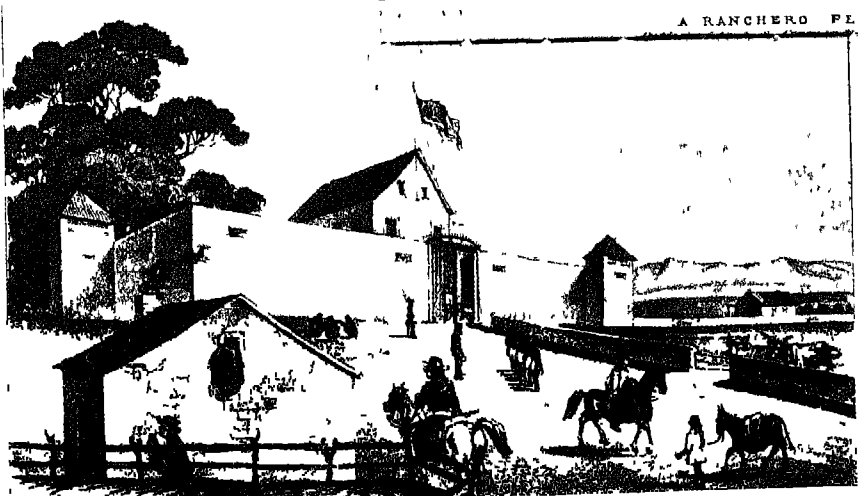
SUTTER'S FORT - NEW HELVETIA

There was no unusual activity even at Sutter's Fort on the American River—but Sutter and a few others knew what James Marshall had found, while up the river making a mill dam.

J W Revere, *A Tour of Duty in California* 1849

Gold! Gold!

Then about the middle of May the secret leaked out. Gold had been found on the American River! The first discovery—that by Marshall—had been made in January, 1848, near the present city of Coloma With the secret out, there was a rush from the nearby California towns to the gold field. Ranch hands left their cattle; seamen deserted their ships; storekeepers left their shops, their clerks had already gone.

ON THE ROAD TO THE MINES—ENCAMPING FOR THE NIGHT

LIFE AT THE "DIGGINS"—SUPPER TIME

The towns were deserted; ships were stranded in the harbors, every able-bodied man was at the mines or on his way to them. Thousands of dollars in "dust" were being washed out of the gravel daily.
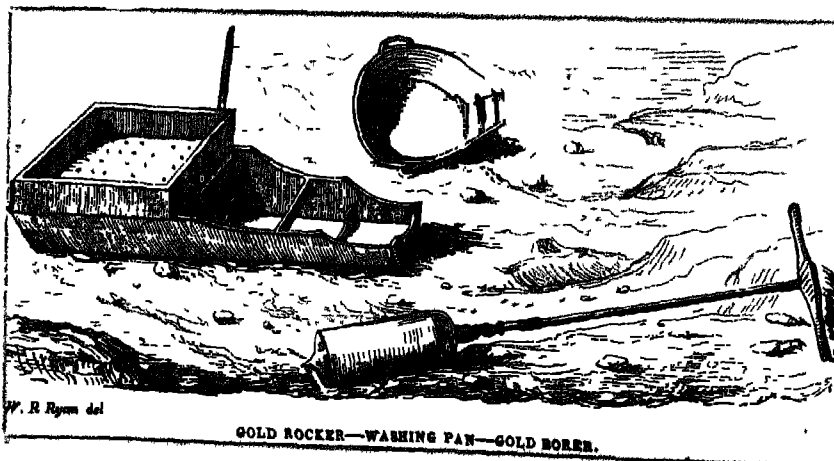
GOLD ROCKER—WASHING PAN—GOLD BORER.

Soon it was discovered that the whole region between the Sacramento and San Joaquin rivers on the west and the Sierras on the east was one great gold mine. Fortunes were to be had for the taking.

All illustrations shown on this page are from William Redmond Ryan, *Personal Adventures in Upper and Lower California in 1848-49*, 1850

The News Travels

By letters, by word of mouth and by official reports the news of the discovery of gold in California travelled east In a message to Congress on Dec 5, 1848, Polk, the retiring President, included a report on the discovery Newspapers throughout the country repeated the sensational news.
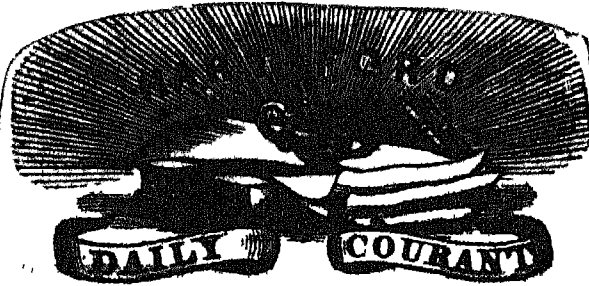
WEDNESDAY MORNING, DECEMBER 6.

The Gold Fever.

The California gold fever is approaching its crisis. We are told that the new region that has just become a part of our possessions, is El Dorado after all,—Thither is now setting a tide that will not cease its flow until either untold wealth is amassed, or extended beggary is secured. By a sudden and accidental discovery, the ground is represented to be one vast gold mine.—Gold is picked up in pure lumps, twenty-four carats fine. Soldiers are deserting their ranks, sailors their ships, and every body their employment, to speed to the region of the gold mines. In a moment, as it were, a desert country, that never deserved much notice from the world, has become the centre of universal attraction. Every body, by the accounts, is getting money at a rate that puts all past experience in that line far in the shade. The stories are evidently thickening in interest, as do the arithmetical calculations connected with them in importance. Fifteen millions have already come into the possession of *somebody*, and all creation is going out there to fill their pockets with the great condiment of their diseased minds.

...no doubt in a fair way

Daily National Intelligencer.

WASHINGTON: WEDNESDAY DECEMBER 6, 1848.

PRESIDENT'S ANNUAL MESSAGE.

...timber for ship building, owned by the United States, it must become our great western naval depot

It was known that mines of the precious metals existed to a considerable extent in California at the time of its acquisition Recent discoveries render it probable that these mines are more extensive and valuable than, was anticipated. The accounts of the abundance of gold in that Territory are of such an extraordinary character as would scarcely command belief, were they not corroborated by the authentic reports of officers in the public service, who have visited the mineral district, and derived the facts which they detail from personal observation. Reluctant to credit the reports in general circulation as to the quantity of gold, the officer commanding our forces in California visited the mineral district in July last, for the purpose of obtaining accurate information on the subject. His report to the War Department of the result of his examination, and the facts obtained on the spot, is herewith laid before Congress When he visited the country, there were about four thousand persons engaged in collecting gold. There is every reason to believe that the number of persons so employed has since been augmented The explorations already made warrant the belief that the supply is very large, and that gold is found at various places in an extensive district of country.

Information received from officers of the navy and other sources, though not so full and minute, confirm the accounts...

Daily Evening Transcript.

FOR CALIFORNIA The company of men who are to start from Boston for California, have regularly organized themselves and adopted rules for their government, &c. Each member is to furnish $300 capital, and to devote his energies to the interests of the company. They bind themselves not to gamble or use intoxicating liquors, on peril of expulsion The government consists of a president, vice president, and eight directors, chosen for one year, and to have charge of the funds and property of the association. Eighty individuals have already enrolled themselves as members

Late and Interesting from California.

More of the Gold Region.

Among the passengers by the Titi from Vera Cruz was an American gentleman, Mr. James Cutting, who is direct from California. He left San Francisco on the 11th of October and proceeded to ... rated The largest piece of native gold Mr Cutting has known to be found weighed thirteen pounds. He was not so fortunate as to pick it up He has known men well who have picked up $1800, $1500 and $1200 in a single day, but those were extreme cases of good fortune The average ... is very much smaller than ... Atlantic

... wealth, and entirely regenerate ... country—the *man* has nothing ... ter at all The harum scarum ... peditions to Strasburg and ... handle a score of ...

THE COURIER.

CHARLESTON:

WEDNESDAY MORNING, DEC'R. 20, 1848.

CALIFORNIA MEETING.

All those determined to go to California, and wish ... from this port, are requested to meet at Baker's Exchange Coffee House, (up stairs) *This Evening*, at half past 7 o'clock The object of the meeting is to ascertain if a sufficient number can be raised to secure a vessel for the voyage, to sail between the 1st and 5th of next month

TEN WHO ARE GOING

Gentlemen,—I have received from Col A. H. Gladden, lately Commanding the Palmetto Regiment, the books,

Courtesy, Yale University, New Haven, Conn , The New York Historical Society, New York City, and The New York Public Library

The "gold rush" was on By sea with a short land trip through Central America, overland by wagons, pack horse or on foot; by organized companies, by families, or singly.

Forty-Nine

The overlanders went by many routes, but by far the greater number converged on the already known Oregon Trail (see pages 330-335).

KANSAS

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library
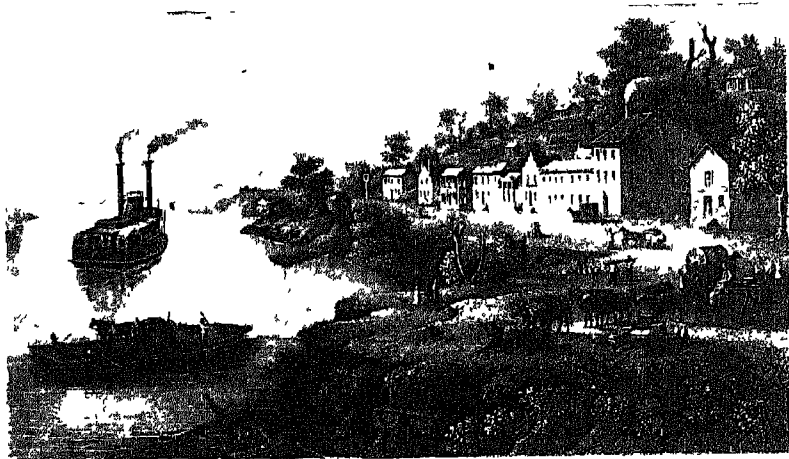
Independence, Mo , had given way to the nearer village of Kansas (present Kansas City) as an outfitting and starting point up the route that now came to be called The California Trail.

LANDING AT WESTON

Weston, on the Missouri side of the Missouri River, about opposite Fort Leavenworth, was another outfitting and starting point for companies that came thus far by river boats

Courtesy, State Historical Society, Madison, Wis
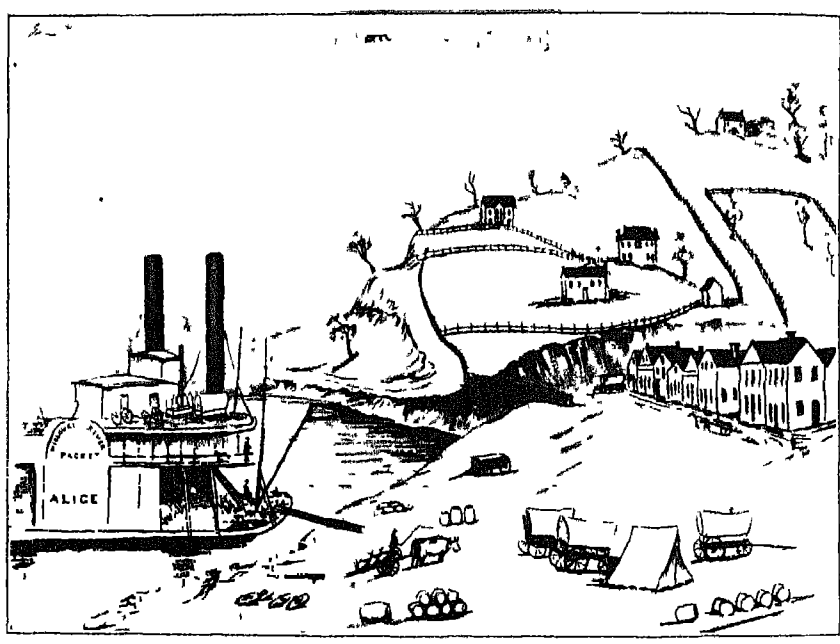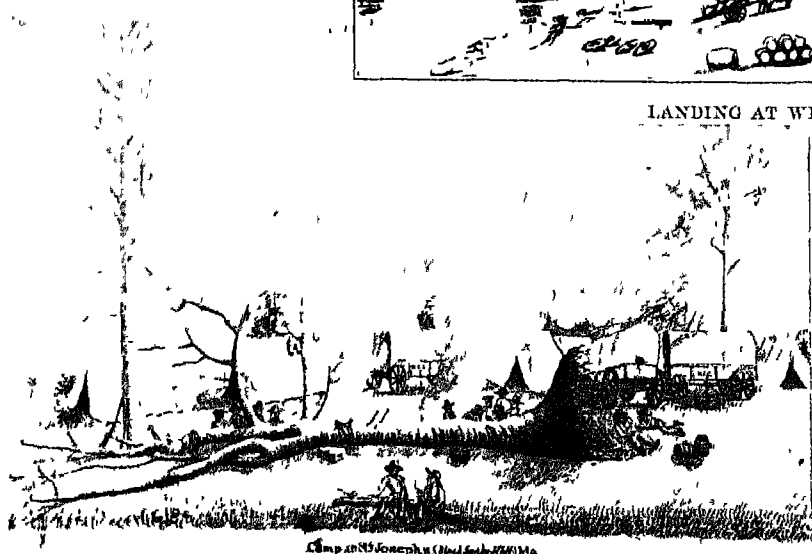
The Washington City Company, of which J. G. Bruff was captain, went on up the Missouri River to St Joseph and even there found so many wagons ahead of them at the ferry that they travelled still farther up the river, looking for a place to cross

From a sketch by J G Bruff
Courtesy, The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

Heading for the Platte
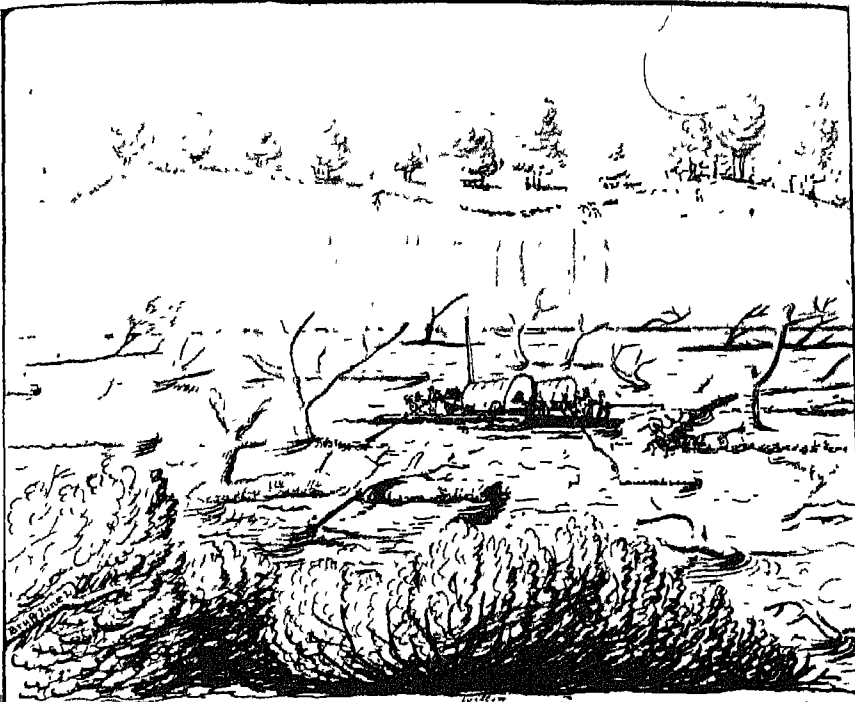
From a sketch by J G Bruff
Courtesy, The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

Near presentday Nebraska City Bruff's company found a ferry that took their 64 men, 16 wagons, 84 mules and 14 horses across the snag-filled Missouri

Bruff's journals and sketches were published in 1944 with an introduction and voluminous notes by Georgia Willis Read and Ruth Gaines under the title of *Gold Rush* (two volumes, Columbia University Press)

The road from even this high point on the Missouri to the Oregon Trail on the Platte River was crowded with wagons The high banks of some of the streams gave the outfits plenty of trouble

Courtesy State Historical Society, Madison, Wis
"Letting the Wagons down a Declivity"

OH! SUSANNA

G N. CHRISTY, CHRISTY MINSTRELS

But at night the camping grounds frequently resounded with a new popular song by Stephen Collins Foster—

> It rain'd all night de day I left,
> De wedder it was dry;
> The sun so hot I froze to def,
> Susanna, don't you cry.

Original music of "Oh! Susanna" as published in 1848
Courtesy, The Foster Hall Collection, The University of Pittsburgh, Pa

Up The Platte

From the various starting places on the Missouri the gold seekers converged on the south side of the Platte River, somewhere between the present cities of Grand Island and Kearny, across from which latter place the Army was erecting Fort Kearny to protect the emigrants Thence the route led up the south side of the Platte to a point somewhat beyond the forks of the river, where the wagons forded the South Platte and crossed over to the south side of the North Platte.
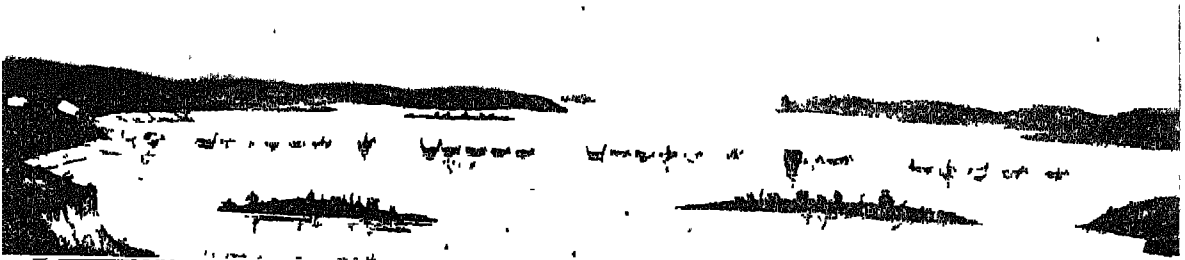
FORDING THE PLATTE
Courtesy State Historical Society, Madison, Wis

By this time buffalo had generally come into view, adding sport and food for the weary travellers

H R Schoolcraft, *Information respecting Indian Tribes of the United States* 1851 57

Cholera was taking its toll on the Trail Just beyond the ford of the Platte, Bruff copied the death notice *opposite*

In memory of
Daniel Maloy
of Gallitin Co Ill.
Died June 18th
1849, of Cholera
Aged 48

Platforms upon which the Indians placed their dead (beyond the reach of wolves) were seen along the way.

H R Schoolcraft, *Information respecting Indian Tribes of the United States* 1851-57

The California Trail

On up the Platte crept the heavy wagons—past Fort Laramie, no longer a trading house of the American Fur Company (see pages 285 and 332), but now a United States military post

U S Senate Executive Document No 1, 31st Congress, 2nd Session

Fort Laramie

T. Green,
of Cholera,
Jackson Co., Mo.
20, June

Cholera still raged Bruff copied many notices of deaths, among them that of T. Green.

Wolves serenaded the campers at night.

MIDNIGHT SERENADE ON THE PLAINS

William E Webb, *Buffalo Land* 1874
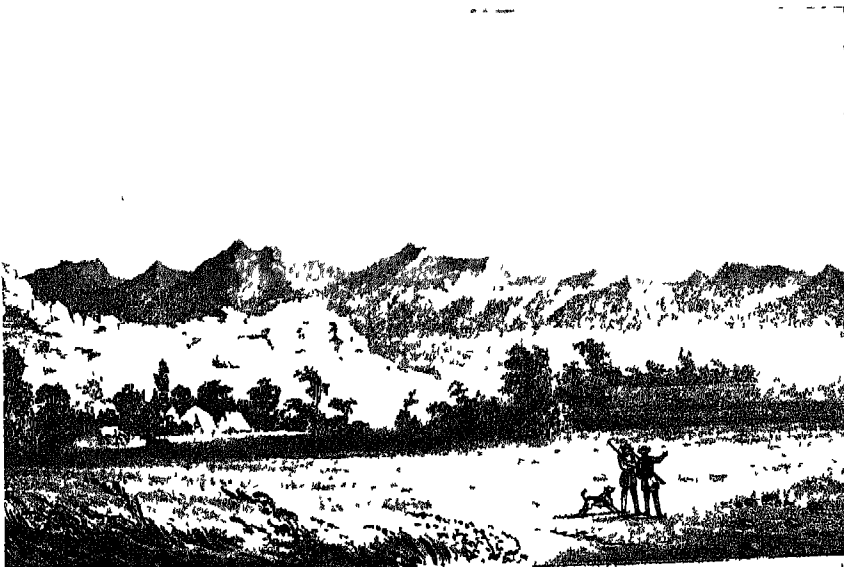
SCENE IN THE BLACK HILLS BITTER CREEK VALLEY

West of Fort Laramie the route lay through what were then called the Black Hills, but later named the Laramie Mountains

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah*

The Crossing of the Platte

Some one-hundred miles, according to the winding of the road, beyond Fort Laramie the Trail crossed to the north side of the Platte—at the mouth of Deer Creek and generally by ferry, the approach to which was littered with discarded wagons, stoves, trunks, food, everything imaginable.

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah*

Then on to the Sweetwater, through South Pass, and either by way of Bridger's Fort or by a shorter road called Sublette's Cutoff, the California road followed the Oregon Trail (see pages 332-334) to a point southeast of Fort Hall, where the California Trail turned westward toward the Humboldt River
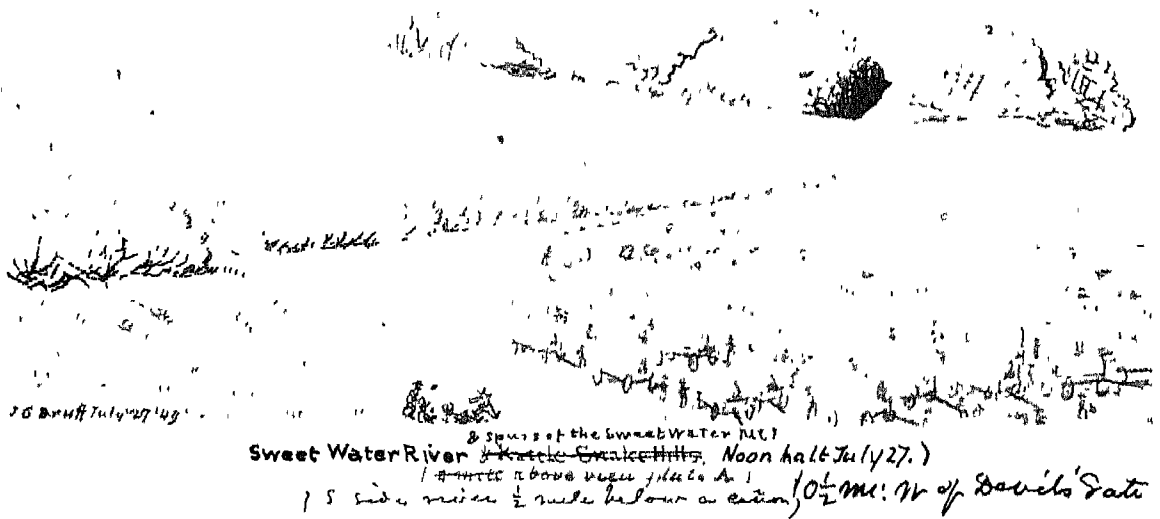
From a sketch by J G Bruff Courtesy, The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

From a sketch by J G Bruff Courtesy, The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

Bruff, however, rode up to Camp Loring, a new military post near Fort Hall, to get information concerning the best route to California.

Lassen's Road

Bruff's decision, as captain of the Washington City Company, was, after reaching the Humboldt, to follow Lassen's Road, a long detour to the north, rather than to continue down the Humboldt and cross the mountains opposite Sacramento

Courtesy The Henry E Huntington Library and Art Gallery San Marino, Calif

But even Lassen's Road brought its disasters, as the *above* sketch by Bruff all too vividly shows

Winter overtook the long line of wagons in the mountains. Oxen and mules fell by the road side; wagons were abandoned; men, women and children struggled on afoot.

Grizzly Bear
Courtesy New York Zoological Society

Courtesy The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

Bruff stayed with the wagons; existed on long-dead oxen; avoided grizzly bears; considered eating an Indian, and finally stumbled into Lassen's Ranch more dead than alive

From a sketch by J G Bruff *Courtesy* The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif

The ranch house of Peter Lassen, who had come to California in about 1840, stood on the Sacramento River some 125 miles north of Sutter's Fort.

From Bridger's Fort to Great Salt Lake

Many of those bound for California left the Oregon Trail at Bridger's Fort (in present southwestern Wyoming) and proceeded through the new Mormon city of Salt Lake by southern routes.

Opposite we see the road as it wound through the Wasatch Mountains
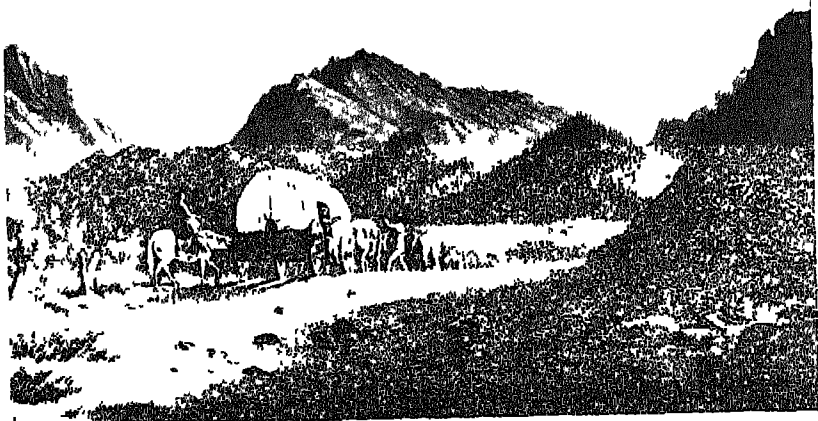
FIRST VIEW OF GREAT SALT LAKE VALLEY FROM A MOUNTAIN

And here are two views of Salt Lake City as it appeared in the summer of 1849

STREET IN GREAT SALT LAKE CITY - LOOKING EAST

BOWERY, MINT & PRESIDENT'S HOUSE GREAT SALT LAKE CITY

Few of the Mormons went to the gold fields, but they did a lucrative business re-outfitting the wagon trains that passed through.

All illustrations shown on this page are from Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah*

Through Death Valley

LEAVING DEATH VALLEY THE MANLY PARTY ON THE MARCH AFTER LEAVING THEIR WAGONS

Some of the Forty-Niners who passed through Salt Lake City proceeded southward to the Old Spanish Trail (running between Santa Fe and Los Angeles) and reached California in that way. Others cut across the desert, and, after fearful suffering, won through Death Valley—or left their bones and those of their oxen on the desert.

PULLING THE OXEN DOWN THE PRECIPICE

Both illustrations on this page are from William Lewis Manly, *Death Valley in '49* 1894

The Southern Route of '49

The Missouri River was not the only gathering place for the gold seekers The Spring of 1849 found many companies organizing in the vicinity of Fort Smith on the Arkansas River From this point a military escort under Capt R B Marcy guided them across presentday Oklahoma to Santa Fe—following in general the Canadian River and the route taken by Gregg in 1839 (see page 328).
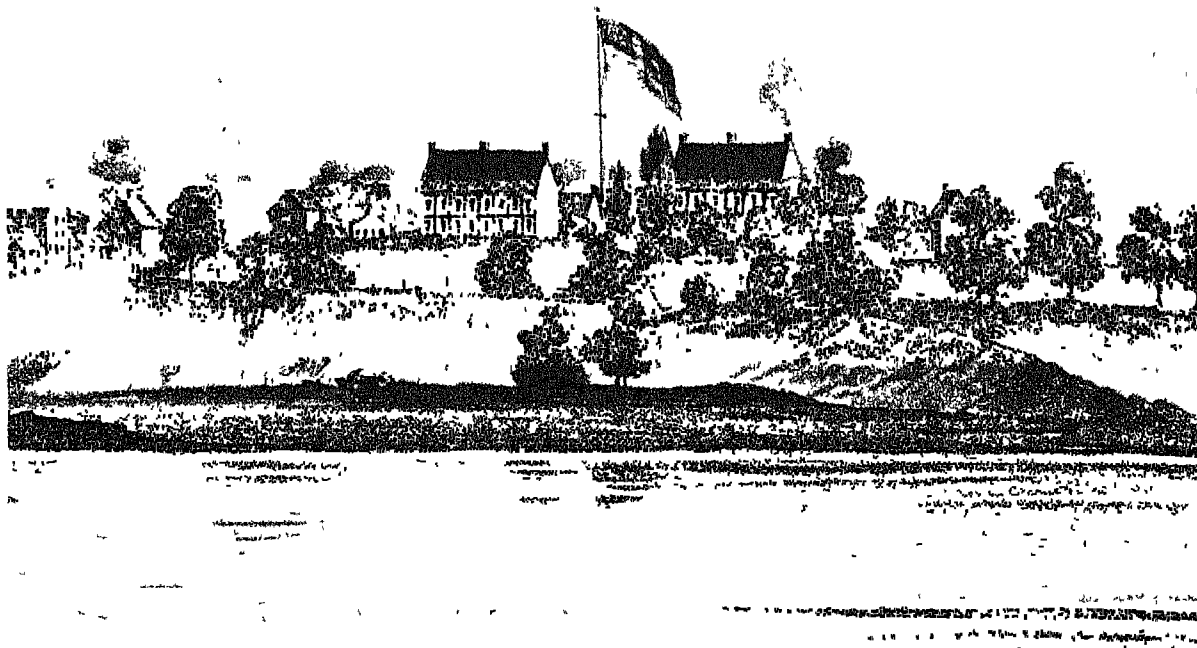
From a sketch by H B Mollhausen *U S Senate, Executive Document No 78, 33rd Congress, 2nd Session*

Fort Smith

VIEW OF SANTA FE AND VICINITY FROM THE EAST

House, Executive Document No 15, 31st Congress, 1st Session

The Southern Route to California

From Santa Fe the Forty-Niners who came across from Fort Smith followed the routes that Kearny and Cooke took in 1846 (see pages 343-345 and 347) and for the same reasons, namely, whether they travelled by pack mule or by wagon

JUNCTION OF THE GILA AND COLORADO RIVERS LOOKING UP THE GILA

John Russell Bartlett, *Personal Narrative of Explorations and Incidents in Texas, etc* 1854

LOS ANGELES

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Arriving in California at Los Angeles, they hurried northward to the mines.

The California Gold Mines
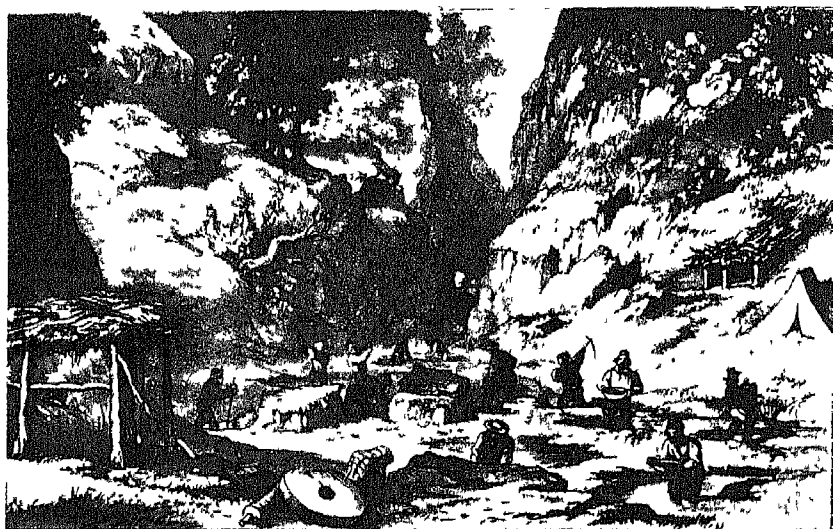
Left The Stanislaus Mine

William Redmond Ryan, *Personal Adventures in Upper and Lower California in 1848 49* 1850

Right Golddiggings on the Mokelumne River in California.

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

Mormon Bar, on the North Fork, American River.

J M Letts, *A Pictorial View of California* 1853

Hunting For Gold

Placer Ville
(Hang Town)

J M Letts, *A Pictorial View of California* 1853

The Yankees House at
Hang Town.

"So much lower than their heads they had to crawl in and double up like jack knives."

J M Letts, *A Pictorial View of California* 1853

Opposite we see "Old Pete" Lassen's party resting during a hunt for gold in the northern fields. The man stretched out with his arm over his head is Lassen. Bruff, who made the picture, sits by the tree on the right. For our identifications we are indebted to *Gold Rush*, edited by Georgia Willis Read and Ruth Gaines.

Courtesy, The Henry E Huntington Library and Art Gallery, San Marino, Calif
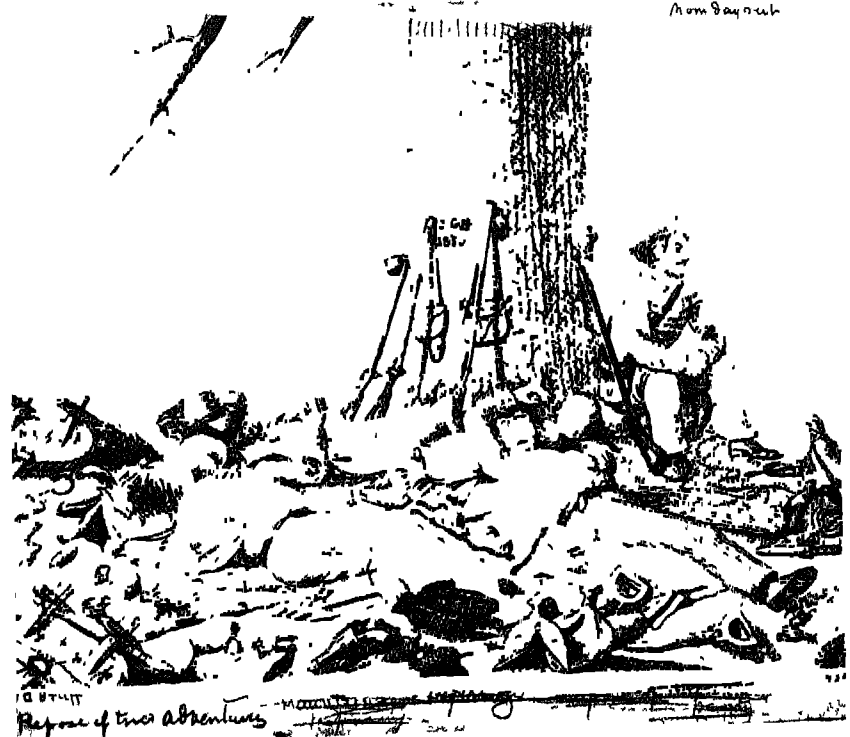
Traders, Gamblers, Prospectors
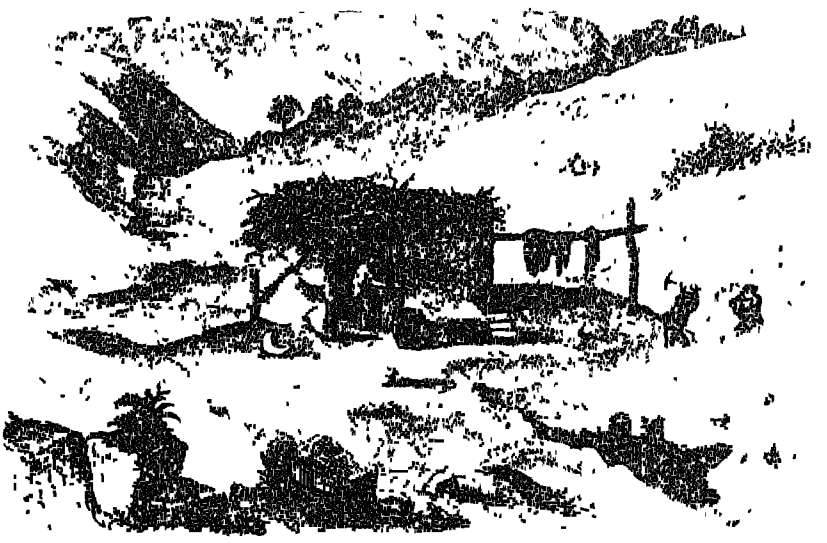
Trading Post in the Mines.

William Redmond Ryan, *Personal Adventures in Upper and Lower California in 1848-49*, 1850

Gambling Scene in San Francisco.

William Redmond Ryan, *Personal Adventures in Upper and Lower California in 1848-49*, 1850

Between Sacramento, and the Mines.

J. M. Letts, *A Pictorial View of California*, 1853

Sacramento and San Francisco In '49
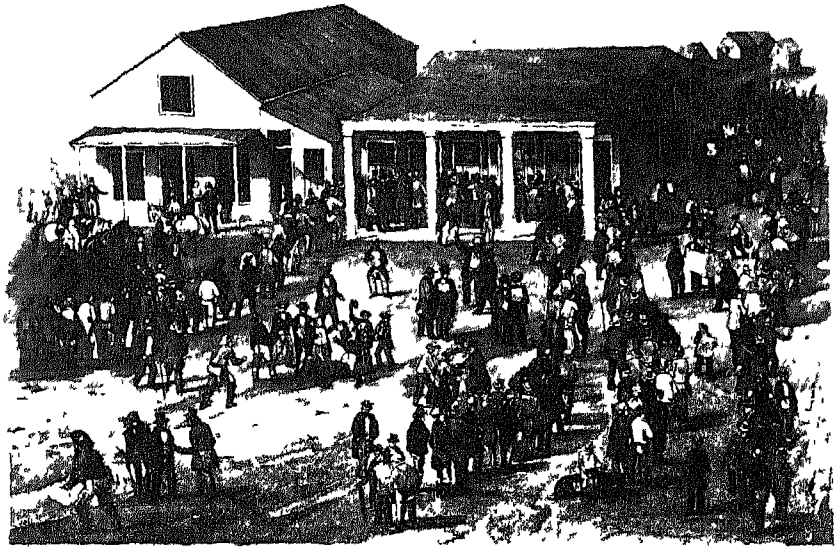
POST OFFICE, SAN FRANCISCO, CALIFORNIA.

A FAITHFUL REPRESENTATION OF THE CROWDS DAILY APPLYING AT THAT OFFICE FOR LETTERS AND NEWSPAPERS

SACRAMENTO CITY CA.

FROM THE FOOT OF J STREET

SHOWING I J & K STS WITH THE SIERRA NEVADA IN THE DISTANCE

SAN FRANCISCO

In 1850 California was admitted to the Union as a State

All illustrations shown on this page are through the courtesy of the Stokes Collection, The New York Public Library

Greater Distance, Greater Speed

The settlement of California and the demand for speed in getting there brought a marked development in the construction of stage coaches and the building of clipper ships In 1826 the firm of Abbot, Downing & Co began making stage coaches which were widely used where other transportation was lacking In 1847 the firm was dissolved, the Abbots and the Downings setting up separate businesses. Nonetheless, the stage coach shown *opposite,* made in 1848 and now housed in the Smithsonian Institution, is an Abbot-Downing, the body having been made by the Abbots and the gear by the Downings.
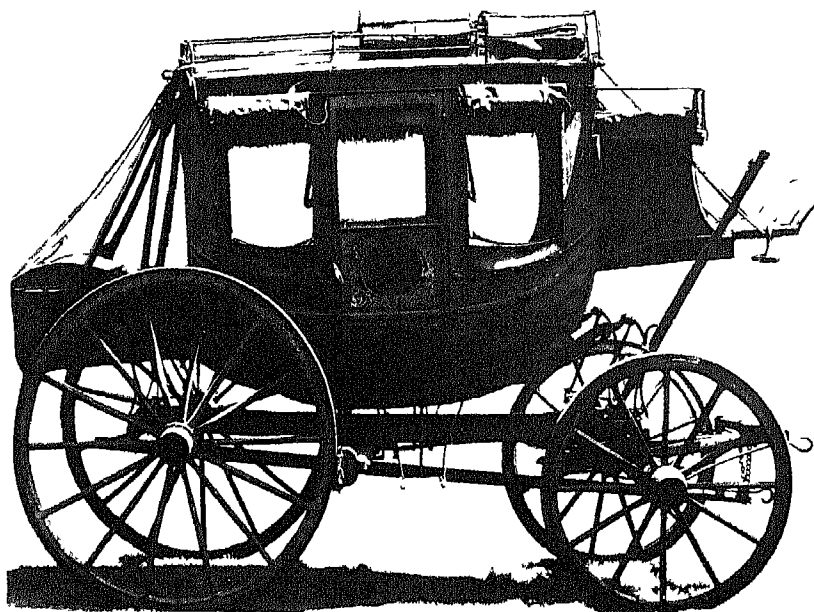
Courtesy, Smithsonian Institution, Washington, D C

Clipper ships were making records that steamboats of the day could not equal. *Opposite* is the *Surprise,* 1850.

Courtesy The Mariners' Museum, Newport News, Va
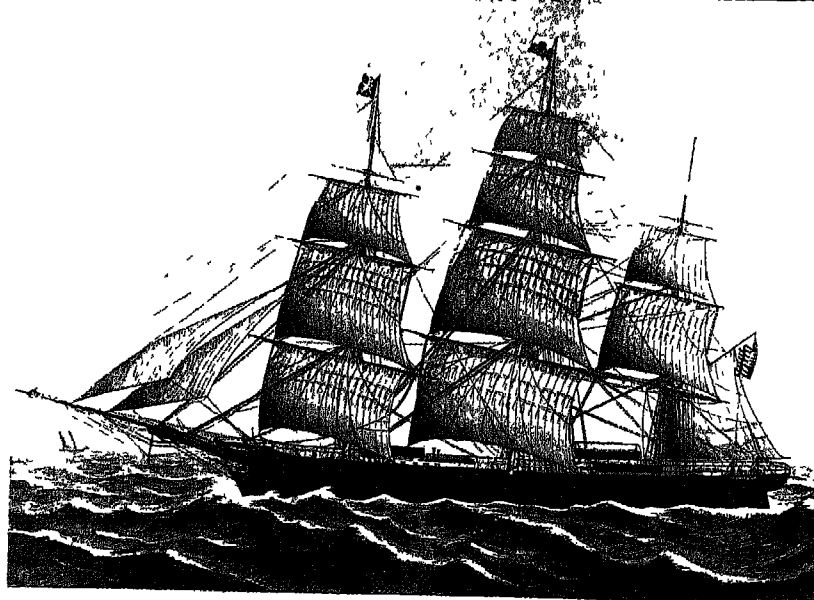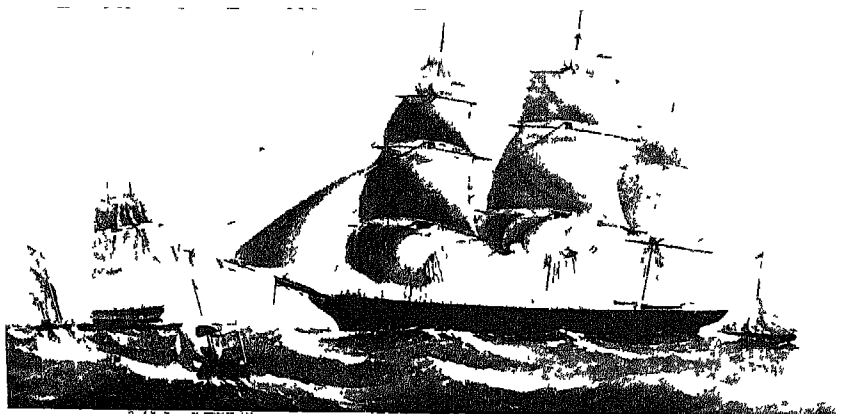
The *Staghound,* built by Donald McKay at East Boston in 1850, was 226 feet over all and of 1354 tons burden

Courtesy Peabody Museum of Salem, Mass

Riot, Train Wreck, Fire

William C. Macready, an English tragedian, was playing at the Astor Place Opera House on May 10, 1849 Admirers of Edwin Forrest, an American actor, gathered outside to protest A riot followed in which many casualties occurred. Americans just did not like the English in 1849

GREAT RIOT AT THE ASTOR PLACE OPERA HOUSE, NEW YORK.

Courtesy The Collection The New York Public Library

ACCIDENT ON THE BALTIMORE & OHIO RAILWAY

Alfred Bunn, *Old England and New England* 1853

On the Baltimore & Ohio Railroad along the Cheat River, west of Cumberland Md , two passenger cars fell over a cliff with ' a frightful list of killed and wounded '

On May 17, 1849, a fire destroyed the St Louis water front and much shipping in the river The *Minnehaha,* in which Henry Lewis floated down the Mississippi in 1848 (see pages 362-366), was one of the casualties

Henry Lewis, *Das Illustrirte Mississippithal* 1854 57
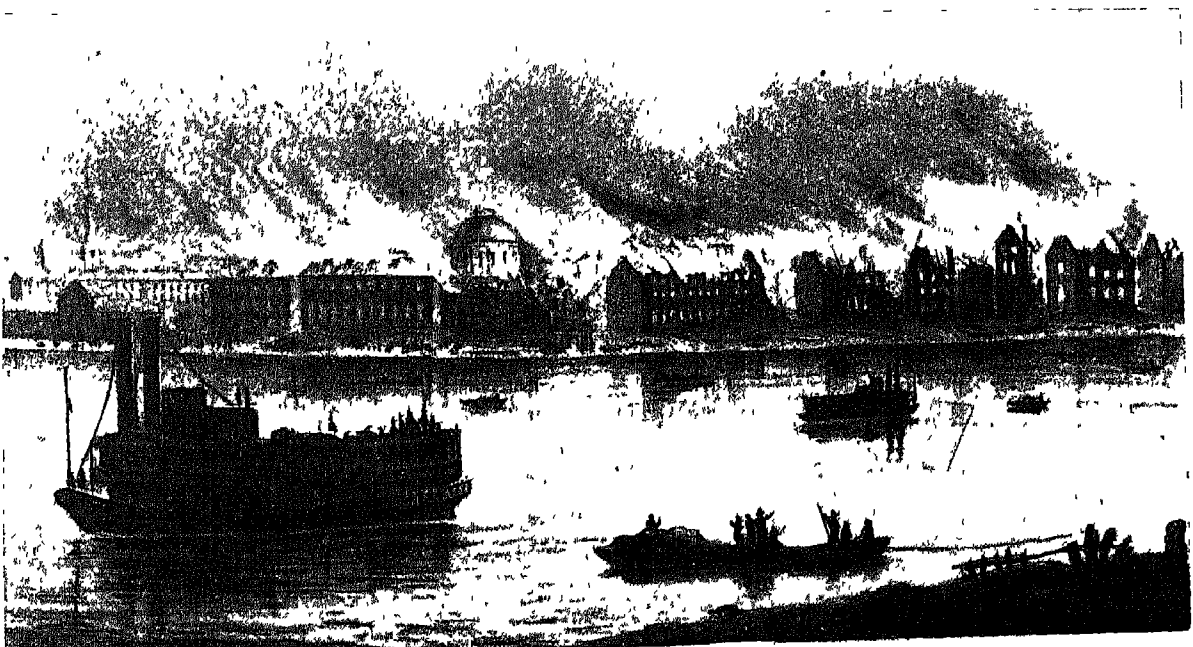
State Fairs and Farm Implements

New York State Agricultural Society Transactions 1849
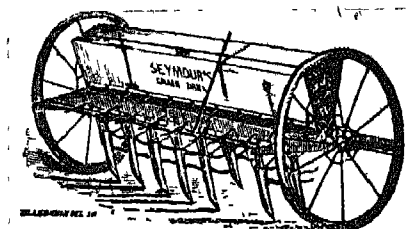
The Genesee Farmer, September, 1851

Above Seymour's Grain Drill, which took first prize in three state fairs and was widely used in western New York.

Below Stewart's Patent Stump Machine would pull a hundred stumps in a day In a country where "clearings" were still recent, stump pullers were a part of the farm equipment.
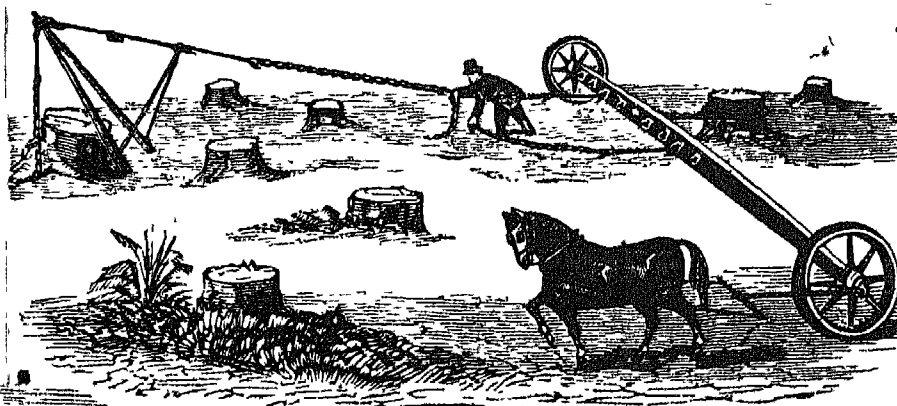
The Genesee Farmer, April, 1851
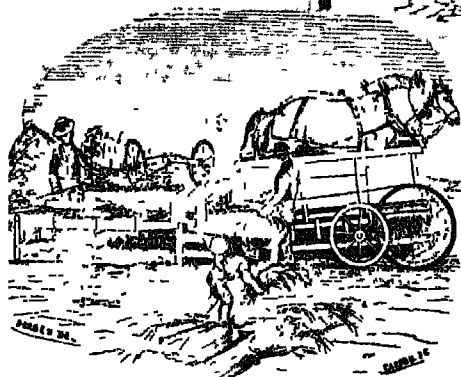
Left Wheeler's Horse Power operating a threshing machine in 1851.

The Genesee Farmer, April, 1851

Milk and Its Condensation

In each succeeding Westward Movement, from the settlement of Connecticut in 1635 to that of California in 1849, "Old Bossy" had gone along—an indispensable adjunct to the commissary department. It took a man from the frontier to make milk available where liquid milk could not be preserved.

From a painting by George C Bingham Courtesy, City Art Museum, St Louis, Mo
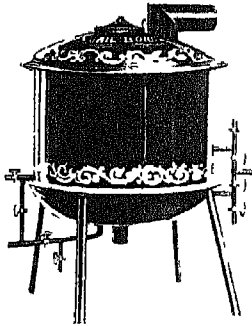
Courtesy, The Borden Company New York City

Gail Borden, a surveyor and newspaper publisher in Stephen Austin's colony in Texas, and later agent for a land company at Galveston, returned in 1851 to his native state of New York He soon began experimenting with the condensation of milk and in 1853 applied for a patent "on a process of evaporating milk in vacuum." *Above* is one of the earliest pieces of equipment used by Borden

Right The condensing pan with which Borden made his first condensing experiments at the Shaker Village, Mt Lebanon, New York, in 1853 Alononzo Holister, who stands beside the pan, was present when Borden made the experiments.
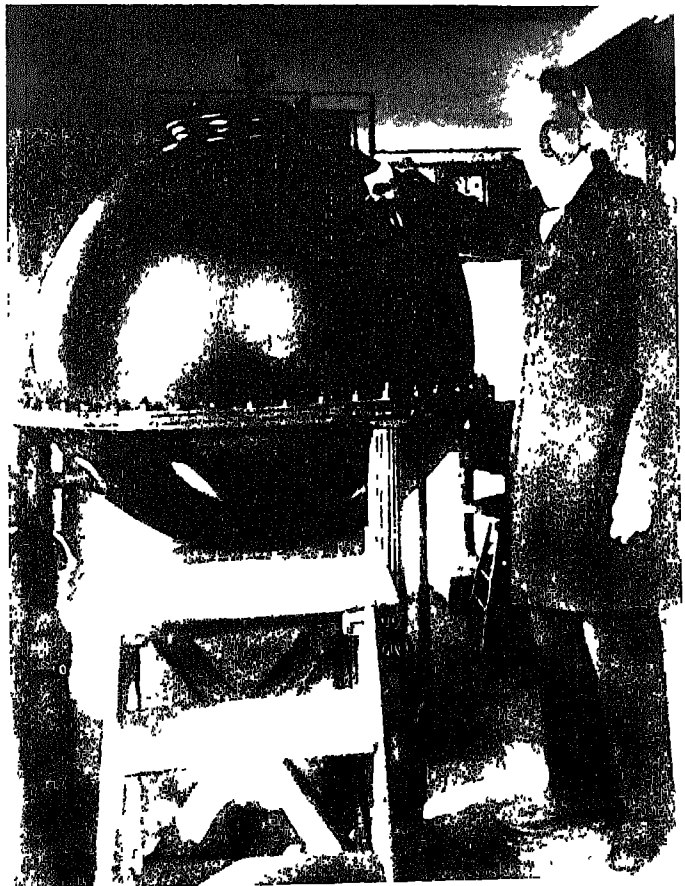
Courtesy, The Borden Company New York City

A President Dies—and the Telegraph Carries the News

From a portrait by J B Carpenter
Millard Fillmore

On July 9, 1850, President Taylor died and was succeeded by Millard Fillmore, the Vice-President.

The news of the President's death was carried over the country in a theretofore incredibly short time, due to the recently strung-up wires of what was known as the "magnetic telegraph" (See page 312.)

The telegraph was still in an experimental stage The lines were flimsy—sometimes on poles, sometimes on trees, often down. *Below* we see a line inspector of the 1850's

Taliaferro P Shaffner, *The Telegraph Manual* 1859

Taliaferro P Shaffner, *The Telegraph Manual* 1859

By 1851, however, there was a telegraph line across the Missouri River. *Right* we see the cable being carried over
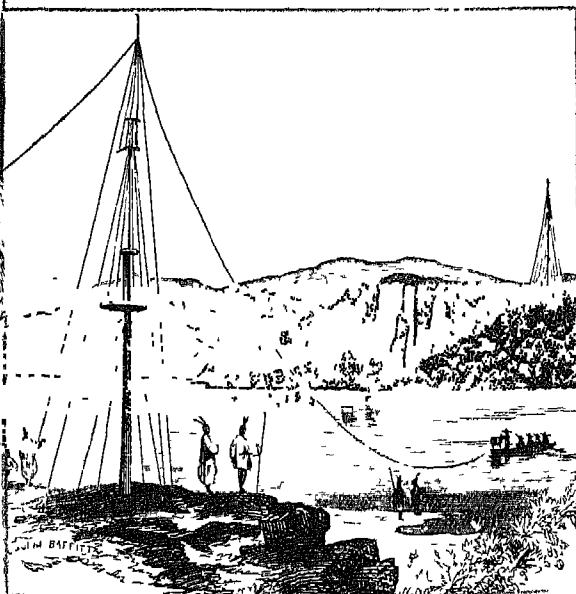
Taliaferro P Shaffner, *The Telegraph Manual* 1859

Coal and Iron

As a fuel for the growing industries of the country, wood was giving place to coal During the 1850's the use of anthracite (hard coal) far exceeded that of bituminous (soft coal)
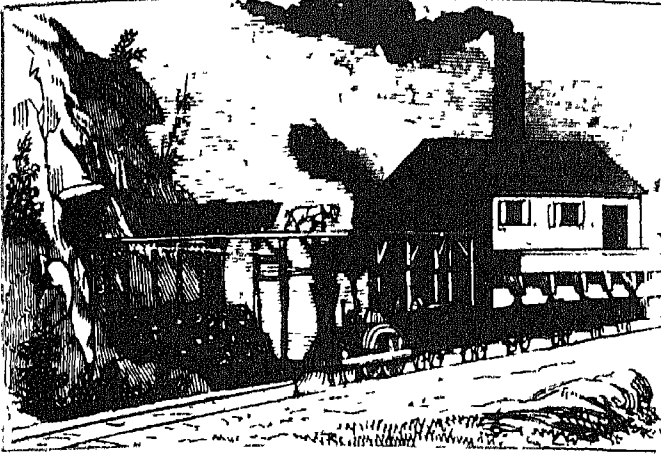
A Coal Breaker

Right Coal Miner

LEBANON IRON WORKS

The increased demand for machinery gave an impetus to iron works.

SAFE HARBOR IRON WORKS

Ever lengthening railroads called for iron for rails and rolling stock

All illustrations shown on this page are from Eli Bowen, *The Pictorial Sketch Book of Pennsylvania* 1854

The Slave Trade

Despite congressional prohibitions, slaves were bought in Africa and smuggled into the southern states

AUDIENCE TO THE PERRY'S OFFICERS, BY THE QUEEN OF AMBRIZETTE

Andrew H Foote, *Africa and the American Flag* 1854

Opposite we see the Queen of Ambrizette receiving the officers of the U S S. *Perry*, which from 1849 to 1851 was off the coast of Africa engaged in the suppression of the slave trade. Commanding the *Perry*, and doubtless under the umbrella in the picture, was Andrew H Foote, later famous in the Civil War.

Right. From a book published in 1852 we have a contemporary conception of the domestic slave trade

Harriet Beecher Stowe, *Uncle Tom's Cabin* 1852

UNCLE TOM'S CABIN,

OR,

LIFE AMONG THE LOWLY.

BY

HARRIET BEECHER STOWE

VOL I.

BOSTON
JOHN P JEWETT & COMPANY.
CLEVELAND, OHIO:
JEWETT, PROCTOR & WORTHINGTON
1852
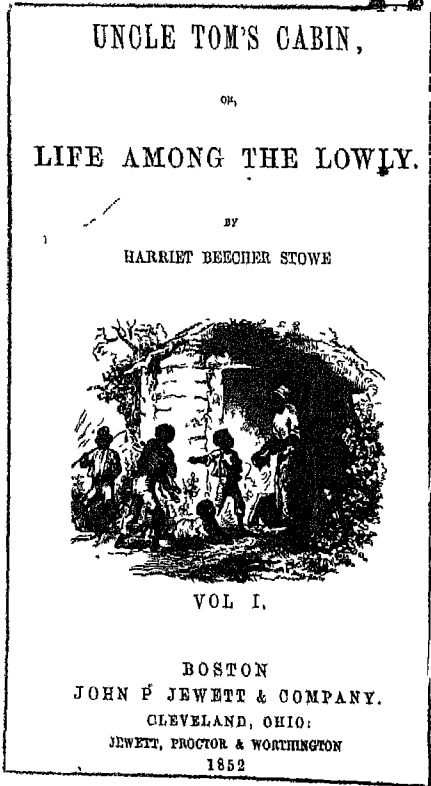
Three hundred thousand copies of *Uncle Tom's Cabin* were sold within a year of its publication

Opposite is a reproduction of the title page of Volume I, in the first edition The book had a tremendous effect on public opinion and unquestionably contributed to the state of mind which brought about the Civil War.

How the Ladies Dressed

[illegible] Lady's [illegible]ook, 1849
[illegible] The New York Historical Society, New York City

Godey's Paris Fashions Americanized

Godey's Lady's Book, 1849
Courtesy, The New York Historical Society, New York City

Bloomerism or the New Female Costume of 1851

In 1851 Elizabeth Smith Miller, at Seneca Falls, N. Y. introduced a new style of feminine dress, which in addition to other features was intended as a symbol of the woman suffrage movement. The attempt of Amelia Bloomer, feminist editor, to popularize the style, attached the name of "Bloomer" to the costume —which was, all in all, a little ahead of its time.

Bloomerism, 1851

Great Salt Lake

The Mormon settlement on Great Salt Lake in 1847 (see page 361), the acquisition of the Utah country from Mexico in 1848 (see page 351), and the gold rush of 1849 (see pages 374 to 383) made a survey of Great Salt Lake desirable.
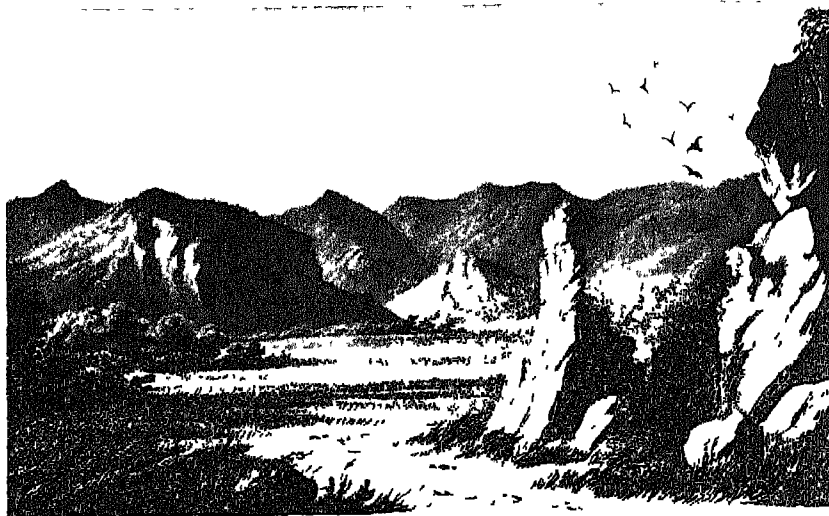
ENTRANCE TO THE VALLEY OF THE WEBER RIVER

In 1849 Captain Howard Stansbury of the Topographical Engineers was sent out with a party to make the survey.

We have already seen some of his pictures as he wound up the Trail from Fort Leavenworth to Fort Bridger—passing and repassing the trains of emigrants on the way. *Above* we see the valley of the Weber River, which enters Great Salt Lake from the east.

GREAT SALT LAKE CITY FROM THE NORTH

Above is a distant view of Salt Lake City as Stansbury saw it in 1849. *Left* is a Mormon fort south of Salt Lake City and which in 1849 served as a protection against the Utah Indians.

All illustrations shown on this page are from Howard Stansbury's *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah* 1852

The Survey of Great Salt Lake

In the two views next *below* we have, from Stansbury's report, scenes of the activities of his party in making the survey.
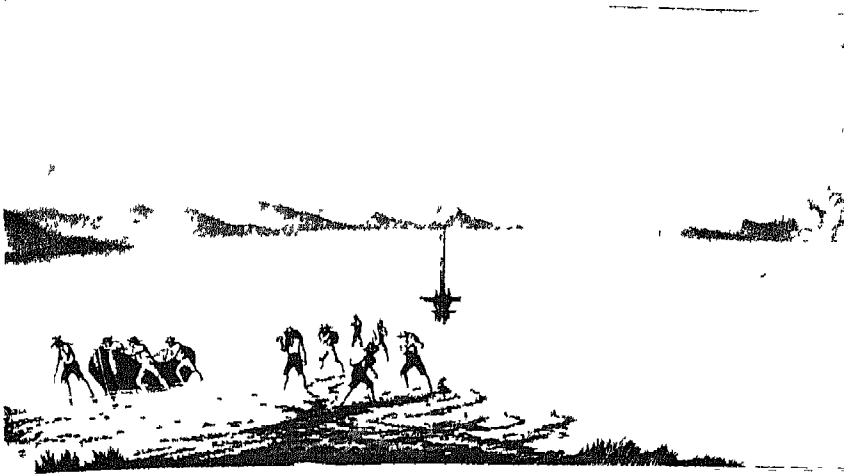
Landing to Encamp. Shore of Great Salt Lake Bear River Bay

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah* 1852

Camp No. 4. Near Promontory Point Great Salt Lake

Howard Stansbury, *Exploration and Survey of the Valley of the Great Salt Lake of Utah* 1852

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Above is a view of Salt Lake City in 1853. The large building at the extreme right is the first Mormon Tabernacle.

Exploring Red River

From the time of the Louisiana Purchase (see page 93), the course of Red River—a somewhat natural boundary between Mexico and ourselves—had been of concern to the Government. As we have seen (page 99), Pike was sent out in 1806 to find the head of the Red River and did not find it. In 1820 Major Long led an expedition in search of the headwaters of the river and he did not find them (see pages 199-200). Both had assumed that the river headed in the Rocky Mountains. In 1852 Capt. R. B. Marcy was made leader of a new expedition. Starting from a point well up on what he knew was the Red River, he proceeded towards its source. He soon found that there were two main forks and pursued the more northerly.

ENCAMPMENT ON 8th JUNE

Opposite we see an encampment of Marcy's party on the north branch. With him as his assistant was a junior captain named George B. McClellan, who later became Marcy's son-in-law and in 1861 was the General-in-Chief of the Union Armies with his father-in-law acting as his aide.

Marcy and McClellan found that the headwaters of both branches of the Red were in the borders of a high and desolate tableland lying in western Texas and eastern New Mexico, known as the Llano Estacado or Staked Plains.

BORDER OF EL-LLANO ESTACADO

WITCHITAW VILLAGE ON RUSH CREEK

Returning from their survey, Marcy and McClellan visited the village of the Wichita Indians a few miles east of presentday Lawton, Oklahoma. A comparison of the picture *opposite* with Catlin's picture of what he called the Pawnee Picts (see page 276) would indicate that the two were identical.

All illustrations shown on this page are from Randolph B. Marcy, *Exploration of the Red River of Louisiana, in the Year 1852*

The Pueblo Country

The acquisition of New Mexico brought within the United States a region first made known to white men by Coronado's expedition of 1540-42

In 1849 a small army was sent into the region west of Santa Fe. The main purpose was to bring the Navaho into submission With the party went Lt Simpson of the Topographical Engineers, from whose journal our pictures are taken.
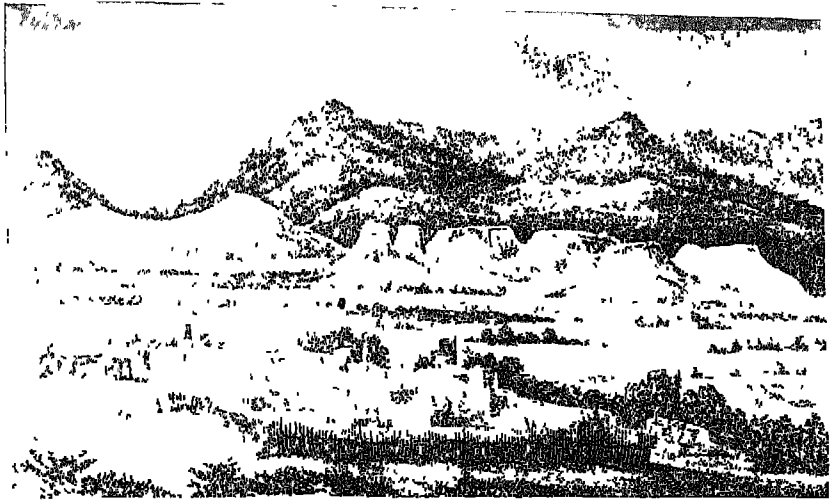
PUEBLO OF JÉMEZ

from the East Aug 20

Some twenty-six miles west of the Rio Grande the expedition reached Jemez (*above*) There they found the pueblo much as Espejo, a Spanish explorer, had found it two hundred and sixty-seven years earlier
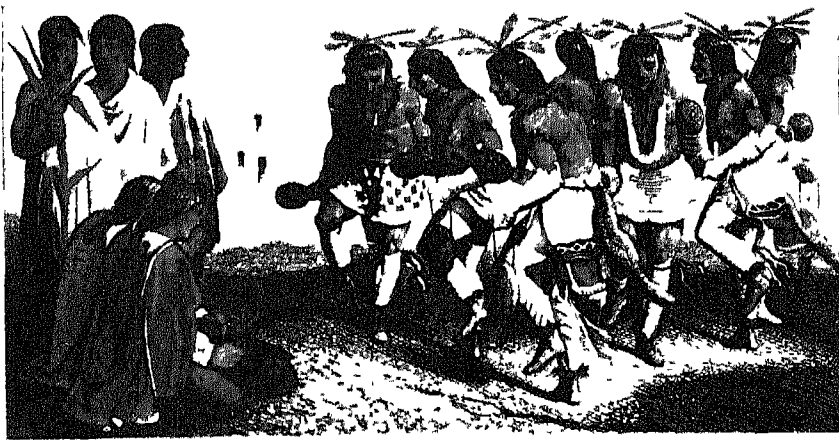
YOU-PEL-LAY, OR THE GREEN CORN DANCE OF THE JÉMEZ INDIANS.

While at Jemez, some of the party witnessed the Green Corn Dance of the Indians. Lt Simpson rode northward a few miles and examined the ruins of a church at Ojo Caliente (Warm Spring).
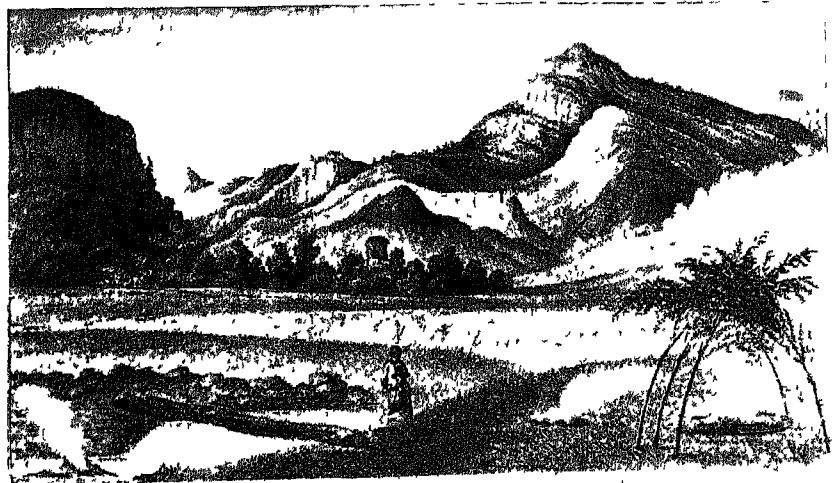
THE OJO CALIENTE

Twelve miles above Jemez

All illustrations shown on this page are from U S Senate Executive Document No 64 31st Congress 1st Session

The Ruins of the Montezuma?
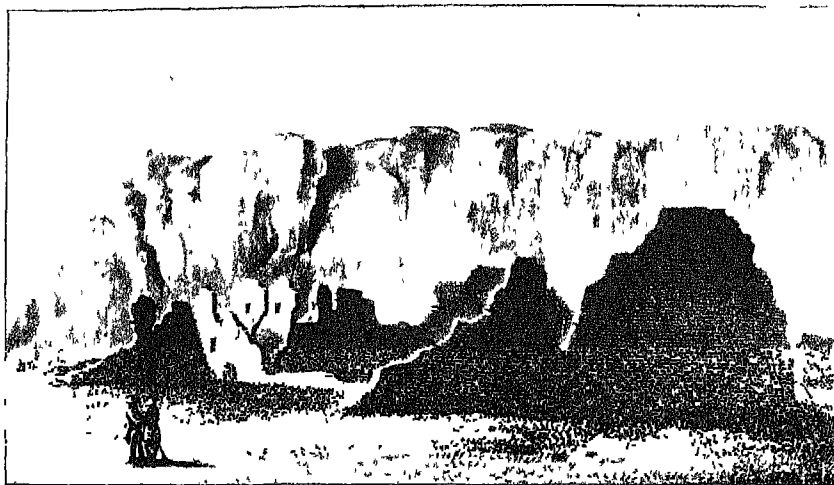
SOUTH EAST VIEW OF THE RUINS OF THE PUEBLO WEJE-GI IN THE CAÑON OF CHACO.
Aug 27 - No 2

Some seventy-five miles northwest of Jemez in the Chaco Canyon, Lt. Simpson found many ruins of great buildings constructed of stone in a manner wholly different from anything known by the natives. Simpson's Pueblo guide told him that they had been built by the Montezuma.

In one of the ruins was found a room in an almost perfect state of preservation. It was 14 feet long by 7½ feet wide and 10 feet high The entrance door was 3½ feet high by 2¼ wide There had been 124 such rooms on the first floor of the pueblo and it had been four stories high.
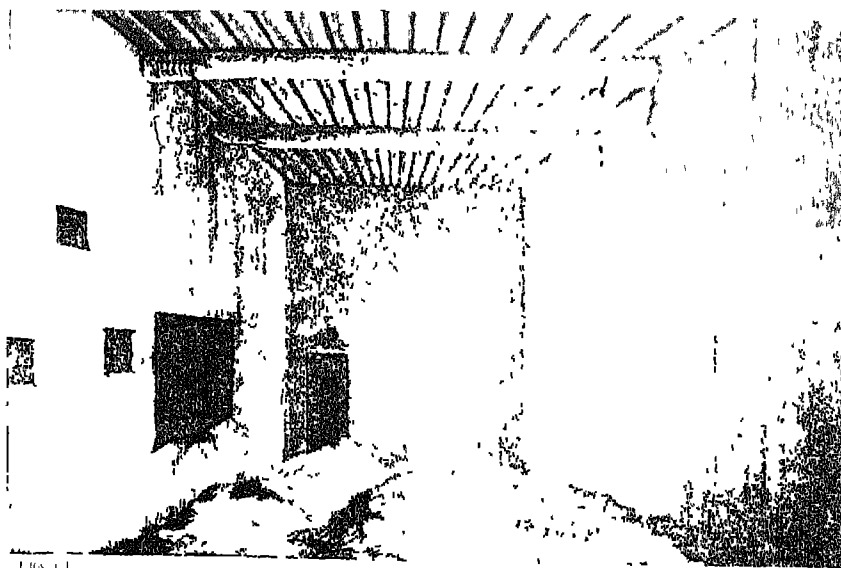
INTERIOR OF A ROOM IN THE NORTH RANGE OF THE PUEBLO CHETHO-KETTE (THE RAIN).
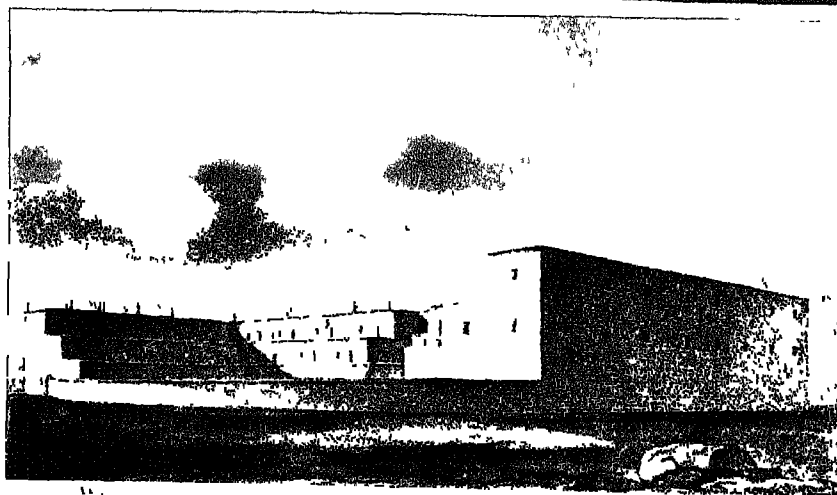
RESTORATION OF THE PUEBLO HUNGO PAVIE (CROOKED NOSE)
Cañon of Chaco No 4.

However, as the restoration shows, the upper stories doubtless were terraced, thus making each succeeding story somewhat smaller than that below.

All illustrations shown on this page are from *U S Senate, Executive Document No 64, 31st Congress, 1st Session*

The Stronghold of the Navaho

CAÑON OF CHELLY,
eight miles above the mouth Sept

U S Senate Executive Document No 64, 31st Congress 1st Session

The Canyon de Chelly, in presentday northeastern Arizona, was famed as the place where the Navaho gathered to resist any invader of their country. After a show of force and a few cannon shots, Lt. Simpson's party rode several miles up the Canyon in 1849.

He found it averaging two hundred yards wide with perpendicular walls five hundred feet in height.

At one place he saw the ruins of a pueblo on a shelf fifty feet from the bed of the Canyon, overhung by the walls of the Canyon and accessible only by ladders.

R.H. Kern del. | P. S. Duval's Steam lith. Co. Philad.
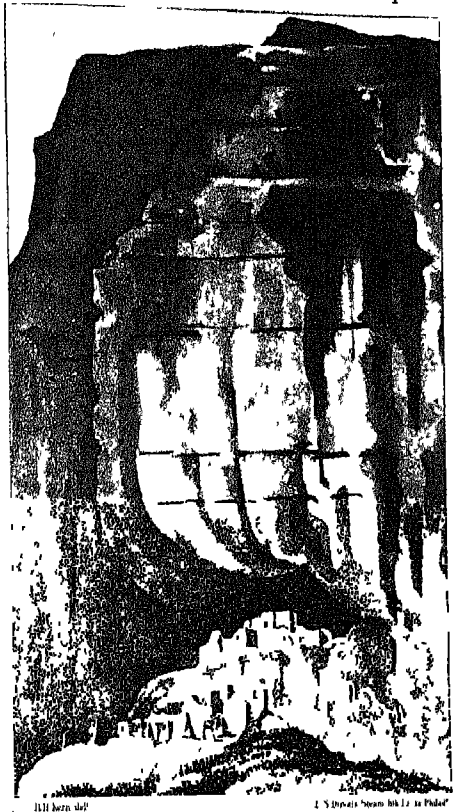
RUINS OF AN OLD PUEBLO
in the Cañon of Chelly Sept. 6th

Two years later the Government established Fort Defiance a few miles south of the Canyon as a check on the activities of the Navaho.

U S Senate Executive Document No 64, 31st Congress, 1st Session
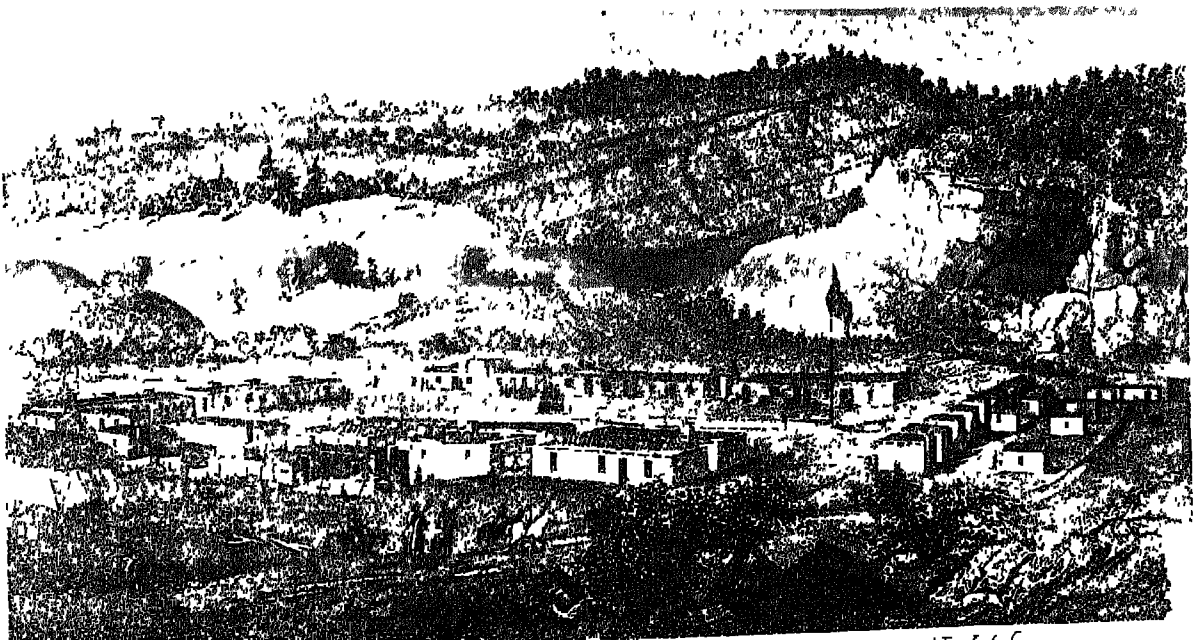
FORT DEFIANCE, CANONCITO BONITO, NEW MEXICO

H R Schoolcraft, *Information respecting Indian Tribes of the United States* 1851-57

Zuñi

PUEBLO OF ZUÑI

From the Canyon de Chelly, Lt Simpson's party turned south to the pueblo of Zuñi—a distance of about one hundred miles. Here they were among Coronado's "Seven Cities of Cíbola" *Opposite* we have a view of Zuñi in 1849 Note the ladders used for entering the pueblo There were no doors on the ground floors

Inscription Rock

From Zuñi the expedition turned back toward Santa Fe. Lt Simpson made a slight detour to visit Inscription Rock, so named because of the many inscriptions carved on its sides One of these was dated as early as 1606.

NORTH FACE OF INSCRIPTION ROCK.

INSCRIPTIONS ON SOUTH FACE OF INSCRIPTION ROCK
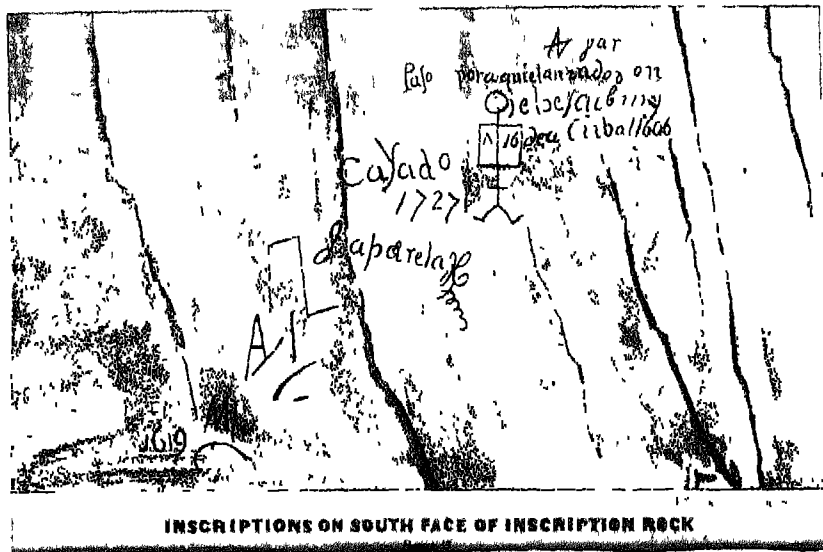
Together with R H Kern, one of two brothers, both of whom were artists and both of whom accompanied the expedition, Lt. Simpson copied the inscriptions and included them in his journal.

All illustrations shown on this page are from *U S Senate Executive Document No 64, 31st Congress, 1st Session*

An Unseen Wonder

In 1851 Capt Sitgreaves of the Topographical Engineers was ordered to make a survey from Zuñi to the Colorado River of the West. R. H Kern went along and made the pictures. *Opposite* is another view of Zuñi, showing the Buffalo Dance as well as the pueblo.
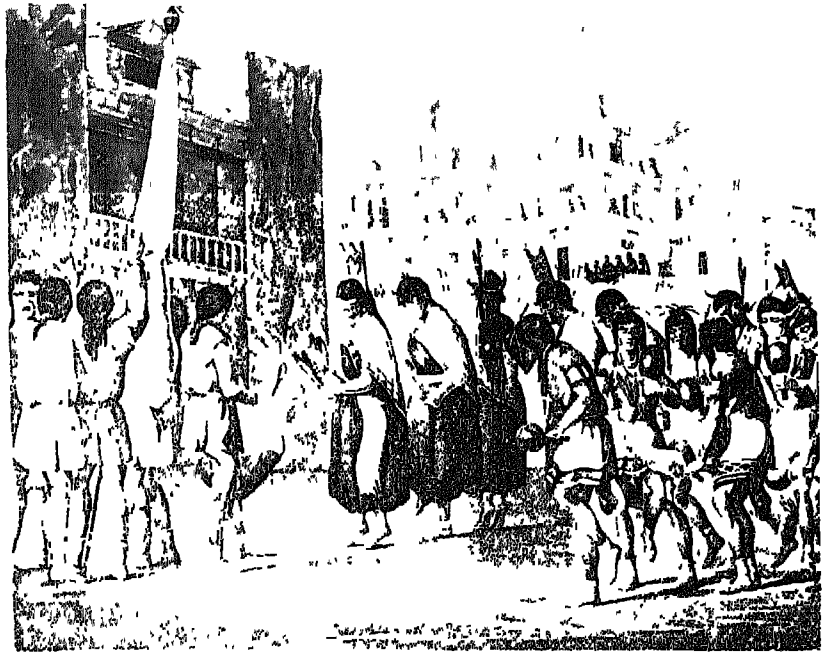
BUFFALO DANCE

Sitgreaves' party followed the Little Colorado River westward to the beginning of the canyon of that river, when, hearing reports of what was ahead, he turned off across the mountains south and west.

Striking the main Colorado River in the Mohave country, Sitgreaves found the Mohave men to be as tall as Diaz (one of Coronado's captains) had reported three hundred years earlier But Sitgreaves did not see the Grand Canyon and verification of Cardenas' description of that wonder awaited a later exploration.

MOHAVE INDIANS

All illustrations shown on this page are from *U S Senate, Executive Document No 59, 32nd Congress 2nd Session*

Frank Pierce, President

In 1852 the Whig Party nominated General Winfield Scott for the Presidency. But the day of the Whigs was done Franklin Pierce of New Hampshire, nominated by the Democrats, won the election and became President in 1853.

Democratic Review, June, 1852

Note the name "Frank", which was commonly used at the time

Opposite. Chamber of Representatives, Washington, D C., about 1853.
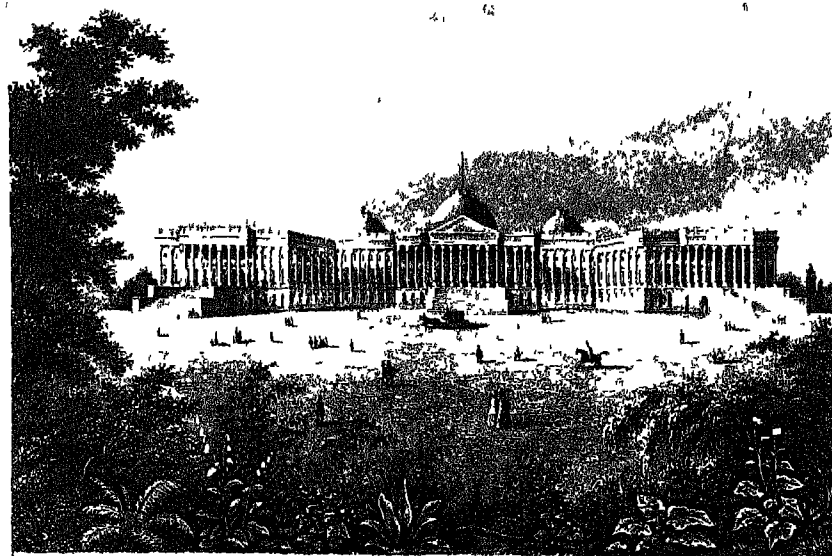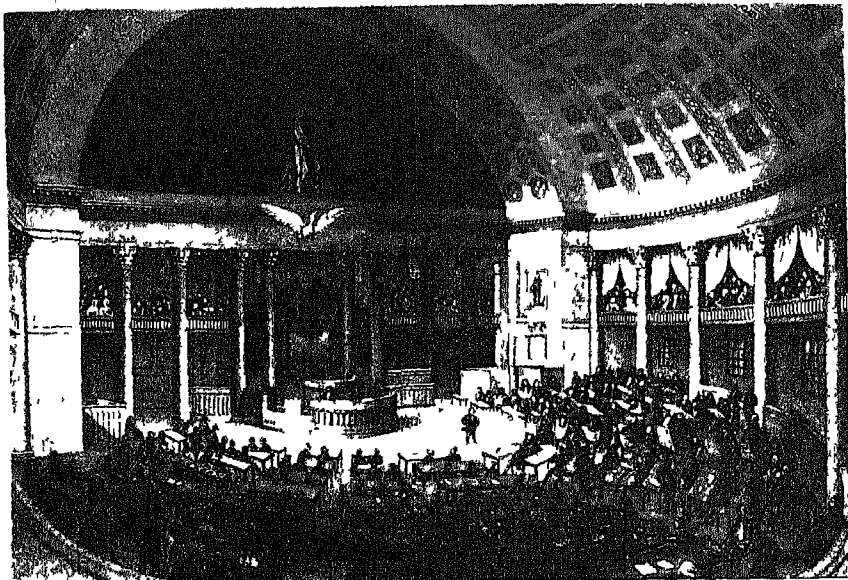
Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

THE NEW CAPITOL

The north and south wings of the Capitol were begun in 1851 from designs by Thomas U. Walter, whom we recall as the architect of Girard College (see page 256).

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

The Smithsonian Institution

James Smithson, an English scientist, died in Genoa, Italy, in 1829. By his will an estate of over half a million dollars was left to the United States "to found at Washington an establishment, under the name of the Smithsonian Institution, for the increase and diffusion of knowledge among men" The legacy was duly collected, brought to America in gold coin and deposited in the Mint
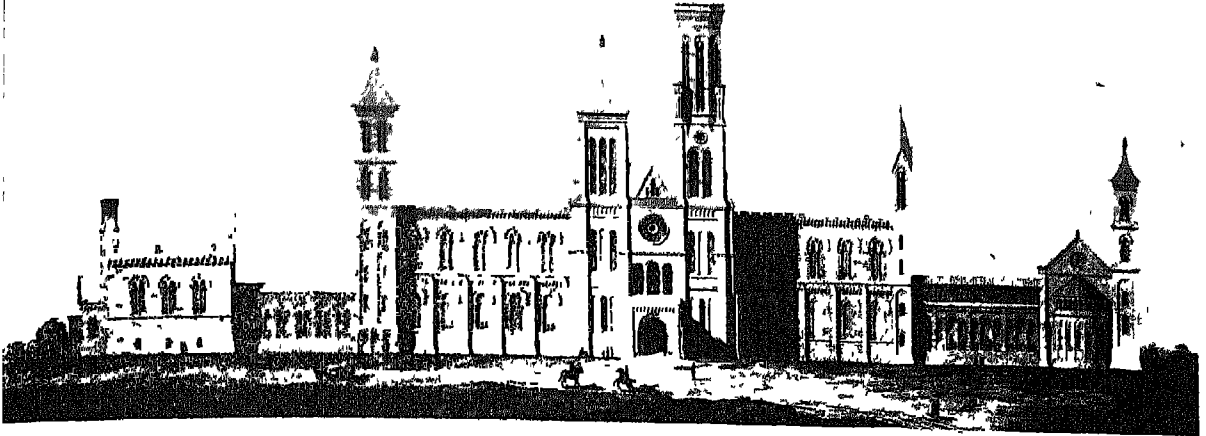
Courtesy, Smithsonian Institution, Washington, D C

By an Act of Congress in 1846 the Smithsonian was organized, and in 1847 the cornerstone of the building was laid *Above* is a view painted from the architect's plans.
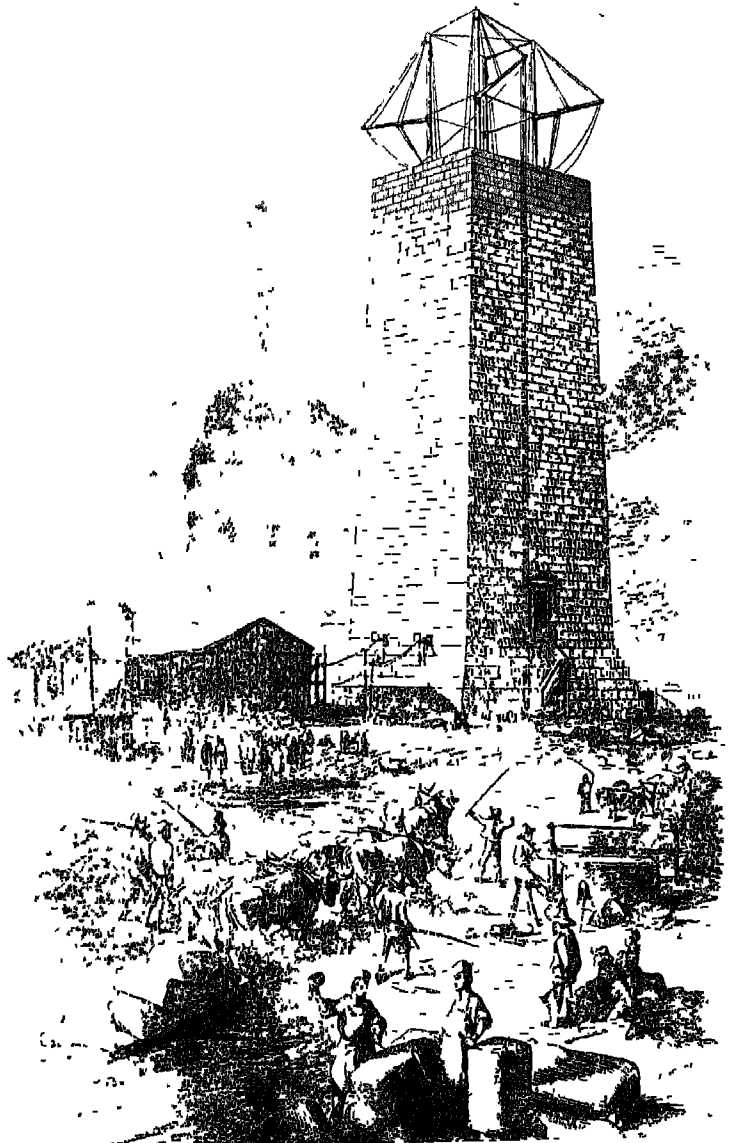
The Washington Monument

Planned as early as 1833, the cornerstone of the Washington Monument was not laid until 1848. The picture *opposite*, from the *Illustrated News* of Jan. 8, 1853, shows the state of the Monument at that date.

Perry to Japan

TORTOA SA KI, YEDO BAY

Wishing to establish commercial relations with Japan, which had long excluded foreign traders, the United States Government sent Commodore Perry with a naval squadron to visit that country.

DELIVERY OF THE PRESIDENT'S LETTER

Arriving at Yedo Bay (Tokio) in July, 1853, Perry, after a threat of force, delivered a letter from the President to the representatives of the Japanese Emperor.
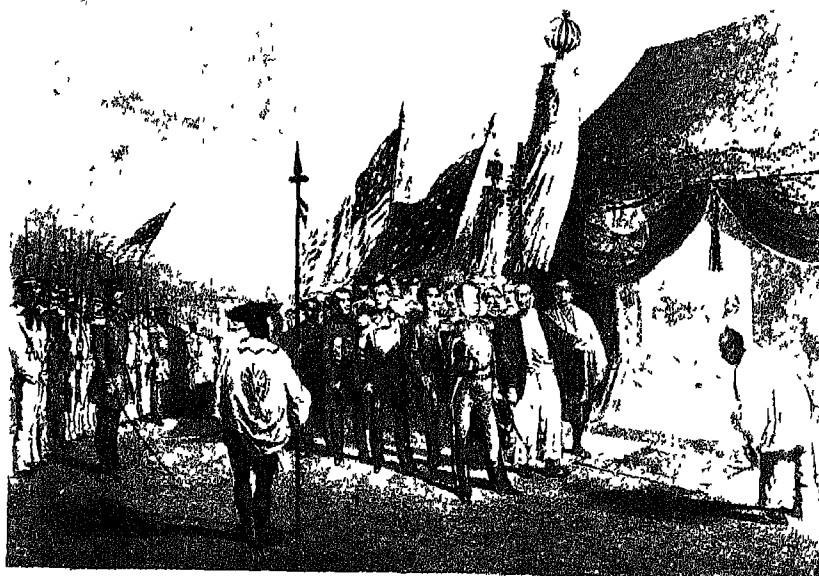
COMMO PERRY MEETING THE IMPERIAL COMMISSIONERS AT YOKUHAMA

Returning the following year, Perry concluded a treaty which ended the Japanese policy of seclusion.

All illustrations shown on this page are from *Narrative of the Expedition of an American Squadron to the China Seas and Japan Performed in the Years 1852, 1853 and 1854*

In the Mississippi Valley

the last considerable piece of Indian Country was organized as the Territory of Minnesota in 1849.

By the Treaty of Traverse des Sioux (1851) the Upper Sioux Indians restricted themselves to a reservation along the Minnesota River.

From a painting by Frank B. Mayer who was present at the Treaty
Courtesy, The Minnesota Historical Society, St. Paul, Minn.

Treaty of Traverse des Sioux

Below is a view of St. Paul (Minnesota) as it appeared in 1853

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Right is a view of Moline, Ill., in the early 1850's As we have seen (page 354), John Deere had been making his plows at this place since 1847.

Charles A. Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

Chicago

the future metropolis of the Middle West, was still but a small city of about 30,000 inhabitants. But the Illinois and Michigan Canal had been completed in 1848, and the Galena & Chicago Union Railroad started building west in the same year In 1851 railroads from the east entered the city—and its eminence as a railroad center became evident

Opposite we have a view of the City in 1853, looking southwest from the City Hall Tower.
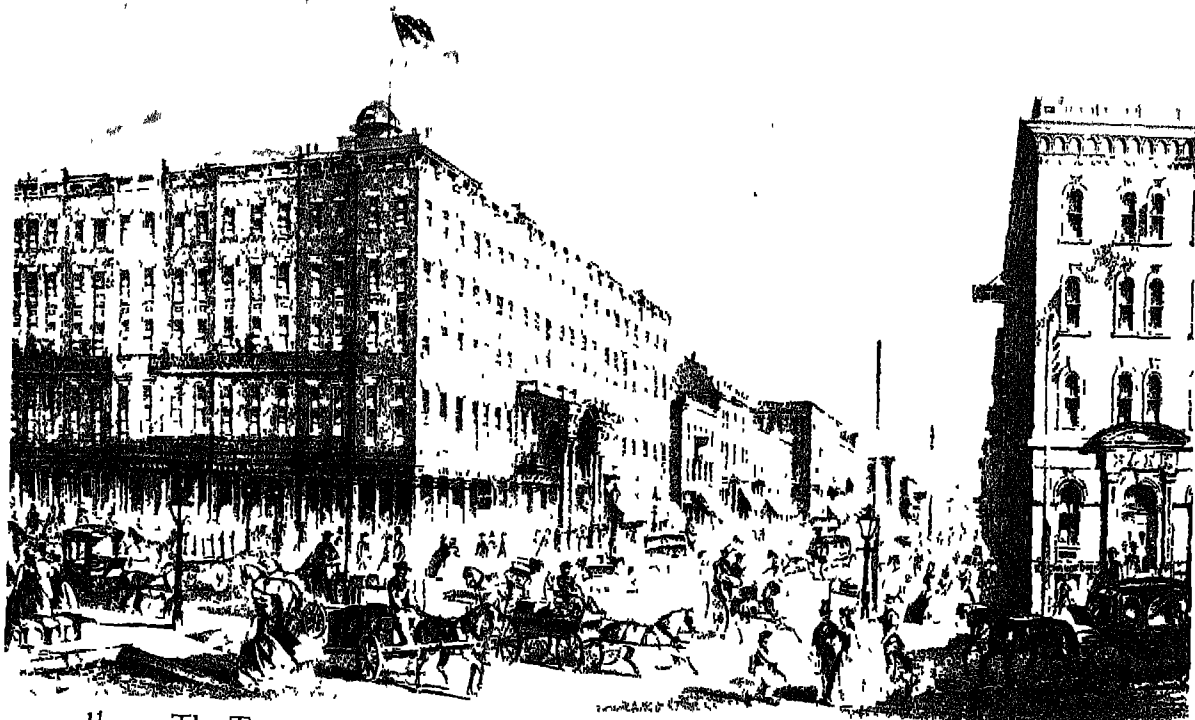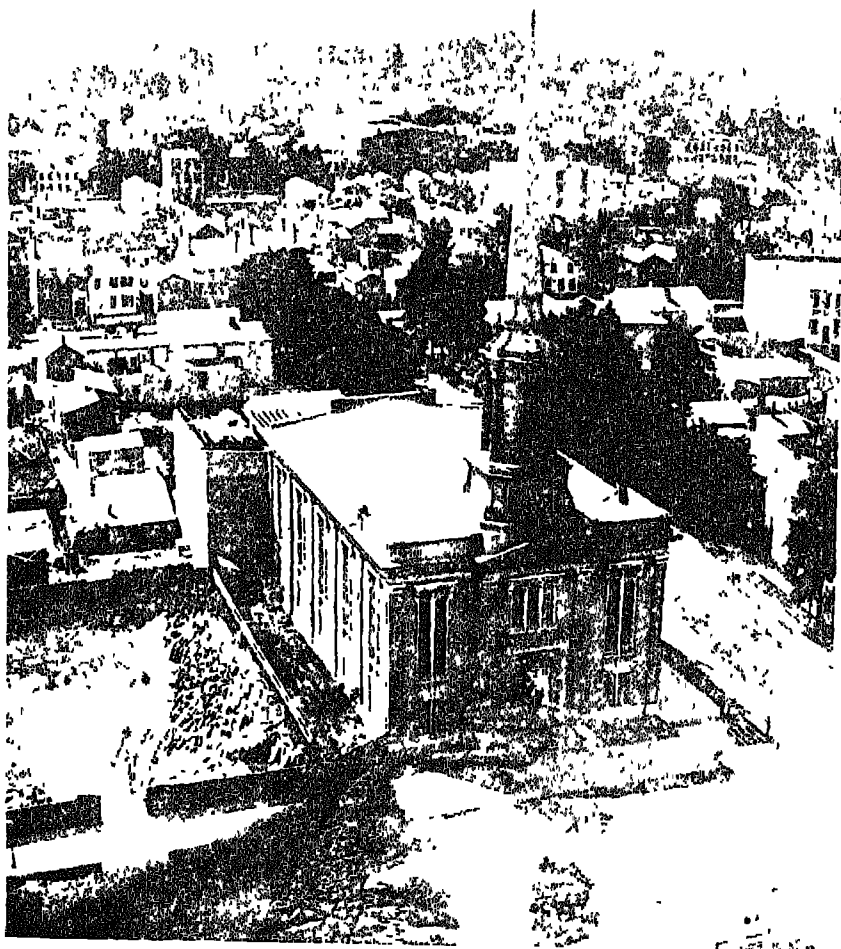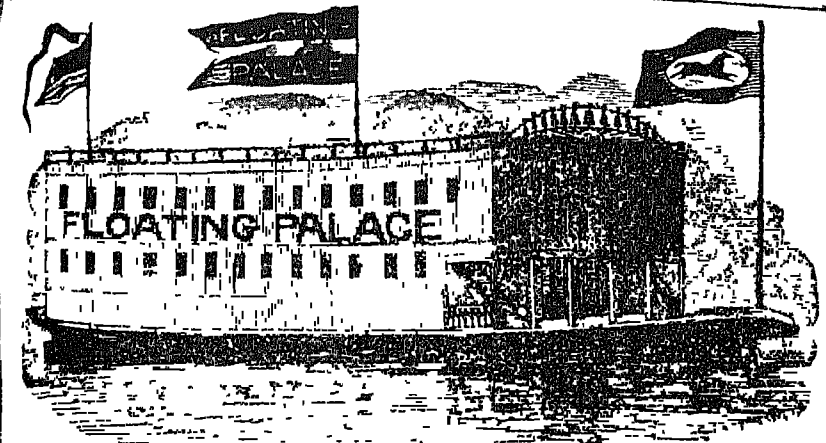
Above The Tremont Hotel, southeast corner of Lake and Dearborn Streets. 1850.

Both illustrations on this page are shown through the *courtesy* of the Chicago Historical Society, Chicago, Ill

Showboats

had cruised the western rivers since the 1830's.

Opposite we see the well-known circus of Spalding & Rodgers advertising a show on April 23, 1853, in their Floating Palace at Terre Haute, Ind., on the Wabash River.

Courtesy, Emeline Fairbanks Memorial Library, Terre Haute, Ind

Wheeling

where the Cumberland, or National, Road (see pages 189-90 and 267) crossed the Ohio, dedicated a suspension bridge in 1849. In the lower left part of the view the National Road is seen winding up the hill—eastward bound.

WHEELING in VIRGINIA

Charles A Dana, *The United States Illustrated* 1853

Pittsburgh

at the Forks of the Ohio, was by 1849 showing unmistakable signs of its future industrial eminence.

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Richmond, Va., in 1852

Here, too, we see a growing city in which the state capitol is but one of many buildings. It is interesting to compare this view with that made by St. Mémin in 1804 (see page 100).
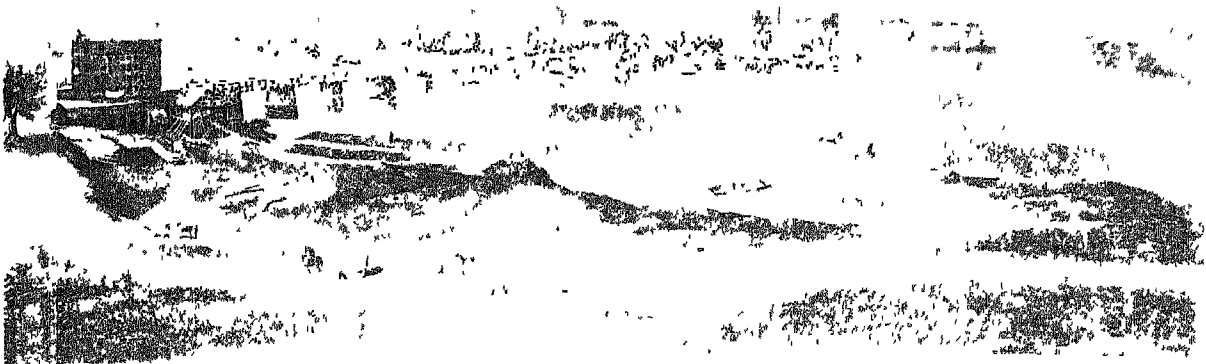
Courtesy Stokes Collection, The New York Public Library

Salem, Mass., in 1853

after two hundred and twenty-seven years of existence, still retained the look of a New England village.
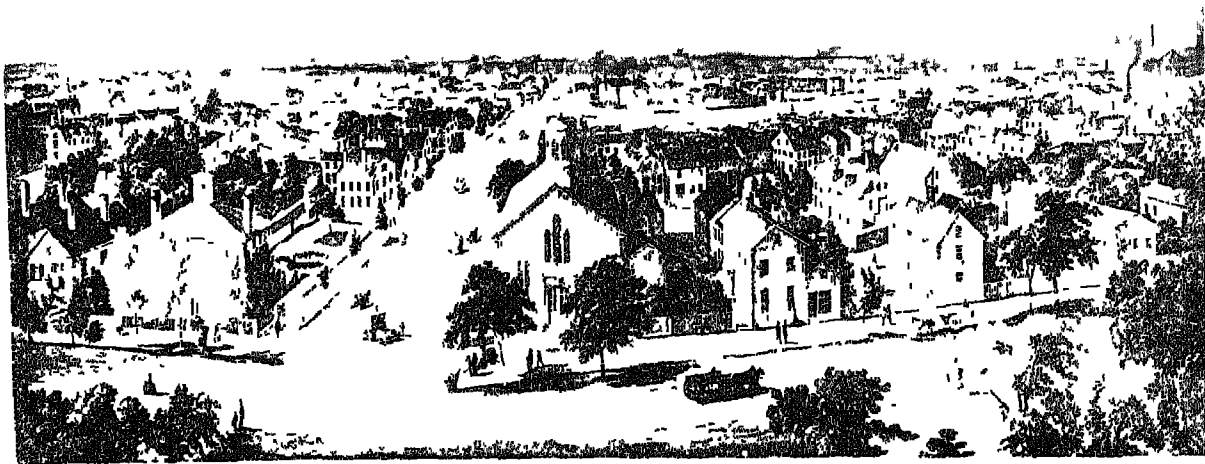
SALEM, MASS

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Opposite

Desert Rock Light-House

off the coast of Maine.

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)
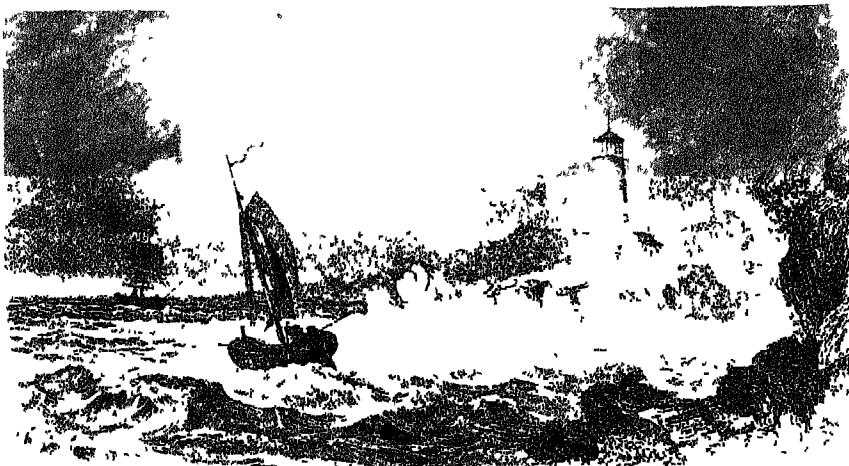
The Starucca Viaduct

on the Erie Railroad, was 1,200 feet long and 110 feet high. The view from the viaduct was accounted one of great natural beauty
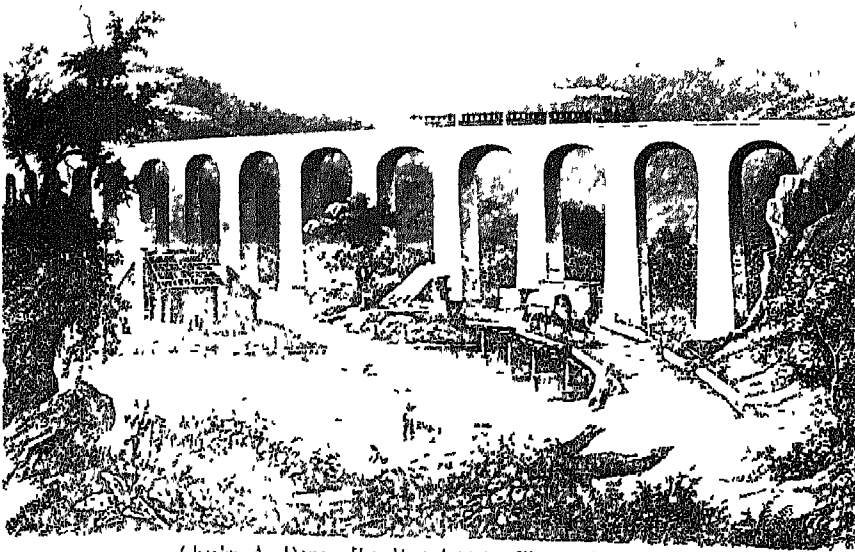
Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

Begun in 1835, the Erie Railroad reached its objective on Lake Erie (at Dunkirk, N Y) only in 1851. The following year a connection was made with Buffalo.

Baltimore, in 1853
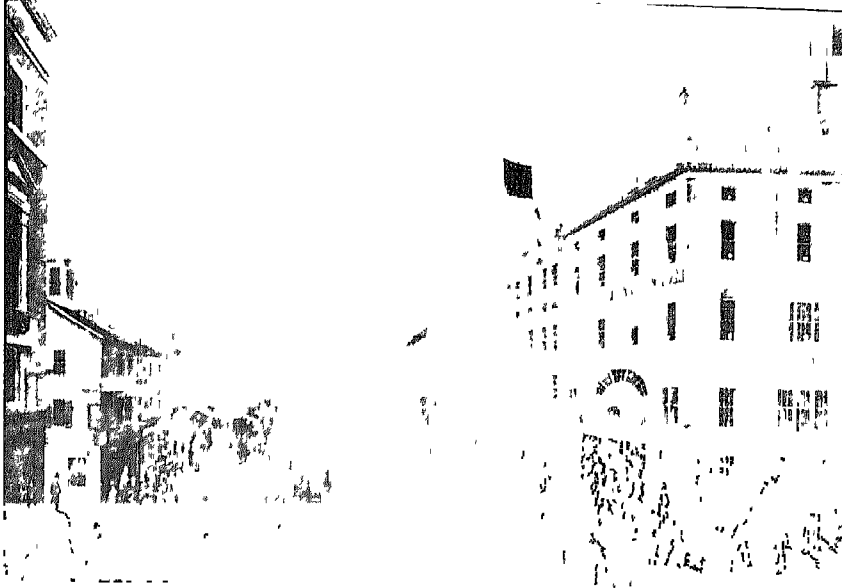
The view *opposite* is of Baltimore and Calvert Streets.

Courtesy Stokes Collection, The New York Public Library

Trenton, N. J., about 1853

VIEW OF TRENTON, N J FROM MORRISVILLE PA.

Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Fruits of the Erie Canal

The traffic which flowed back and forth on the Canal since its opening in 1825 (see pages 208-213) created many great cities. *Below* is a view of Utica in 1850
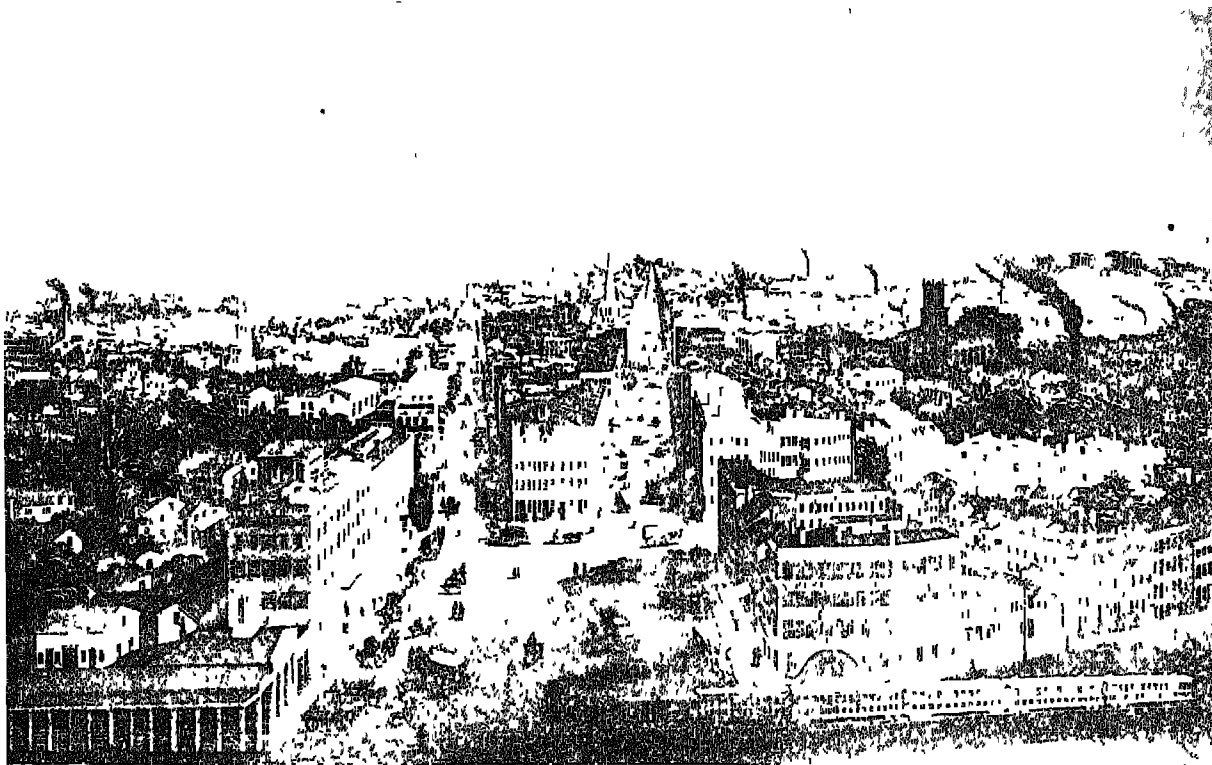
Rochester in 1853, shown *below*, may well be compared with Rochester of 1825 shown on page 210.

ROCHESTER

Both illustrations on this page are shown through the courtesy of the Stokes Collection, The New York Public Library

New York City

Below is a bird's eye view of the City in 1850. North of 42nd Street was still open country Castle Garden is shown on the extreme left.
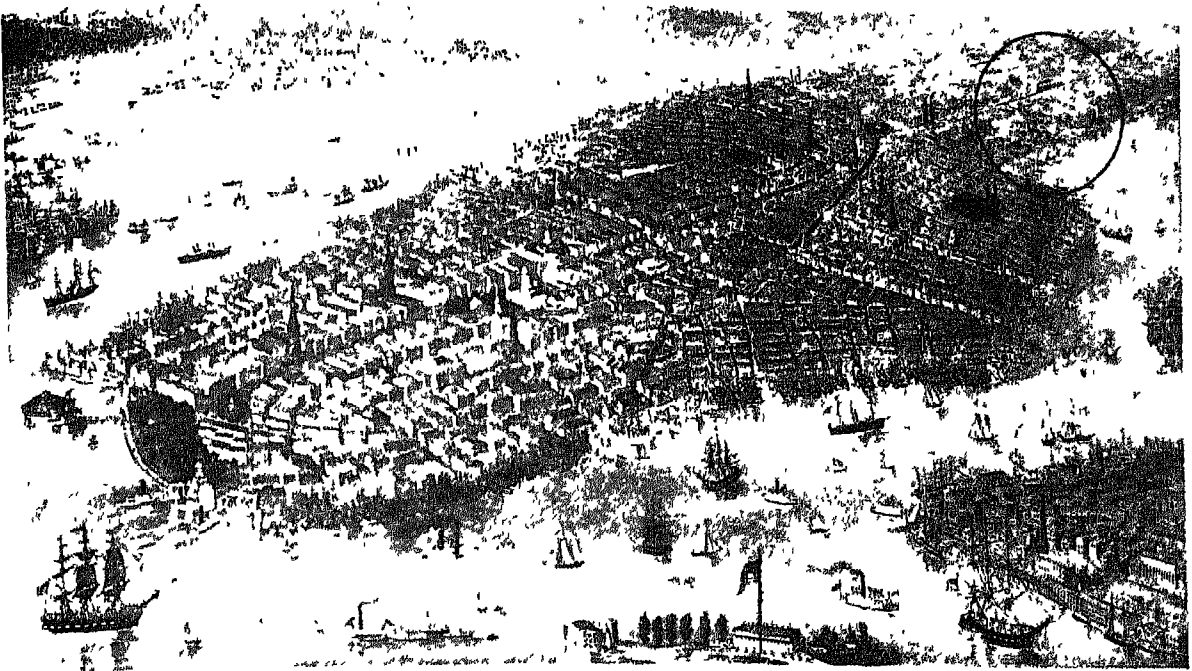
Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Somewhat to the left of the incoming train, shown within the circle in the upper-right-hand corner of the picture *above*, may be seen, where the New York Public Library now stands, the Croton Water Reservoir, pictured in more detail *below*.

In its Egyptian lines the Reservoir reflected the many Old World cross-currents which influenced American life in architecture, place names and other ways. Another example of Egyptian architecture of the period will be found in the picture of the Tombs on page 414.

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

New York, in the 1850's
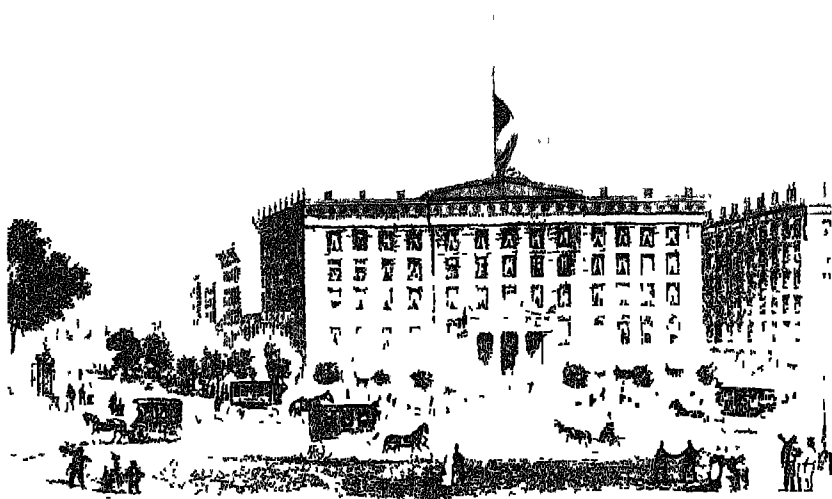
ASTOR HOUSE

Charles A Dana, *The Scenery of the United States* 1855

BROADWAY

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)
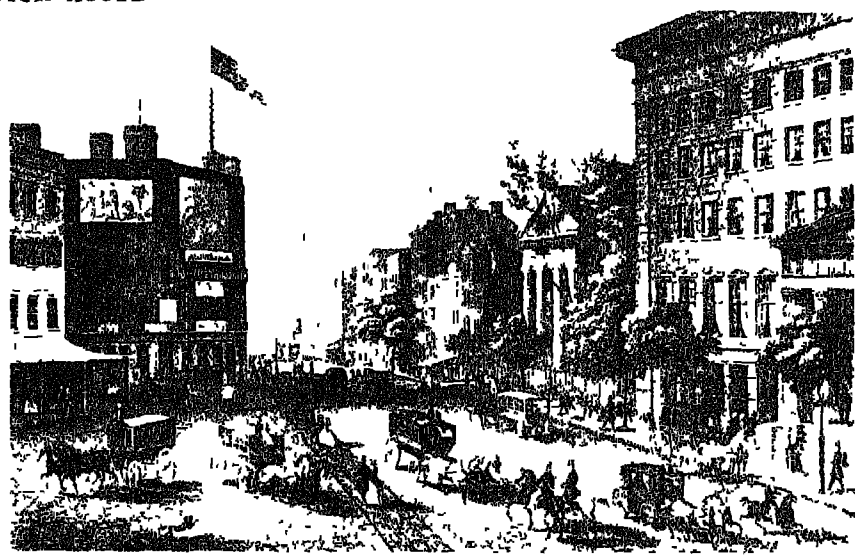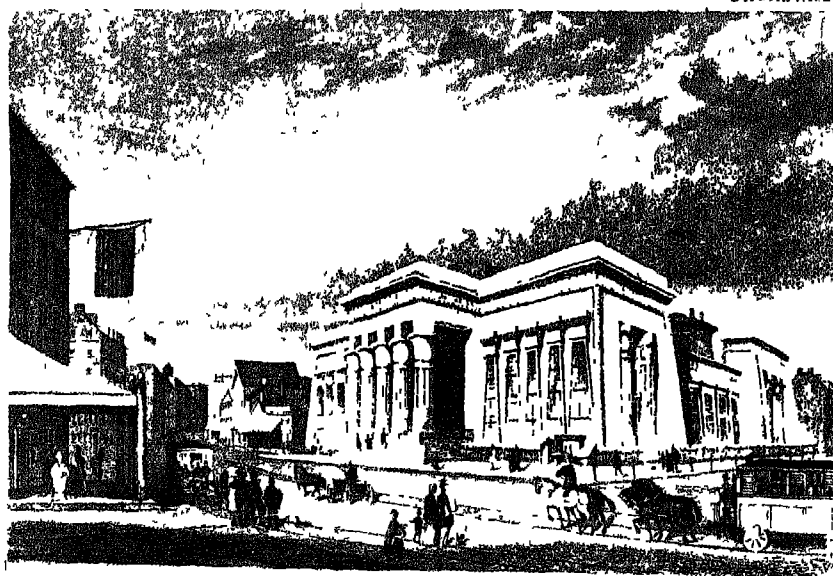
THE TOMBS

HALLS OF JUSTICE

Charles A Dana, *The United States Illustrated* (1855?)

The Hippodrome
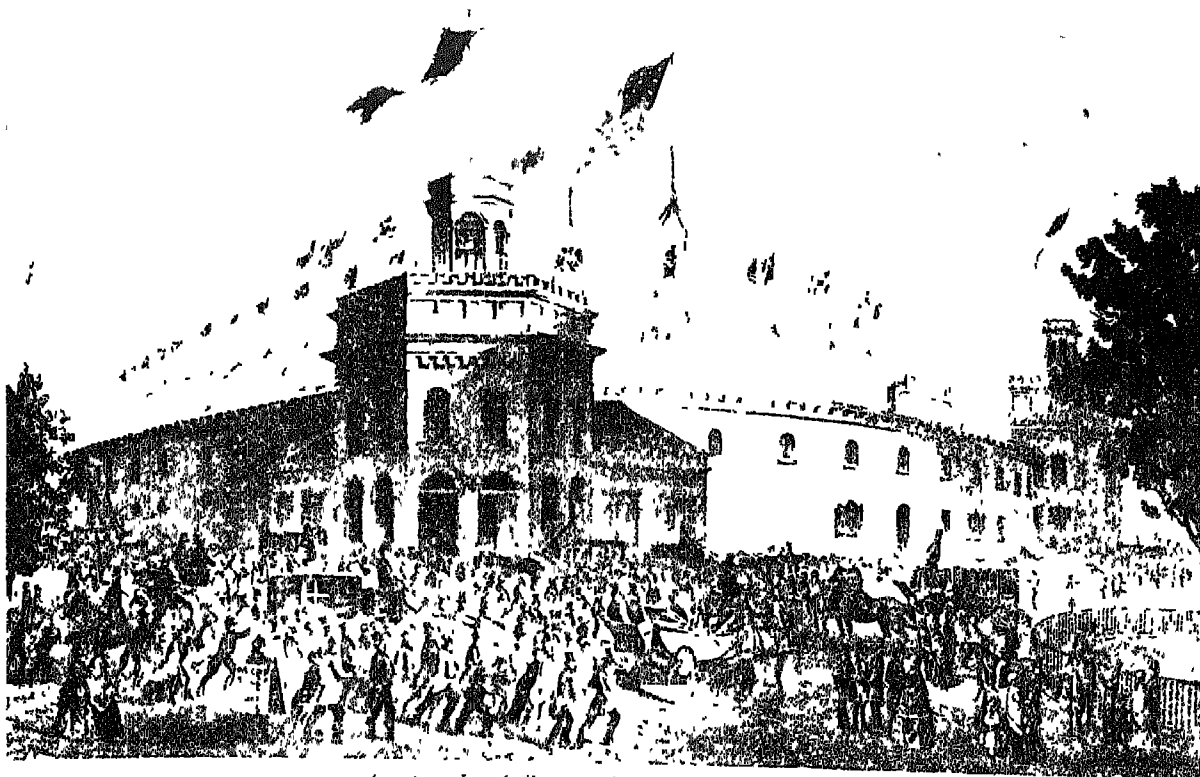
Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library
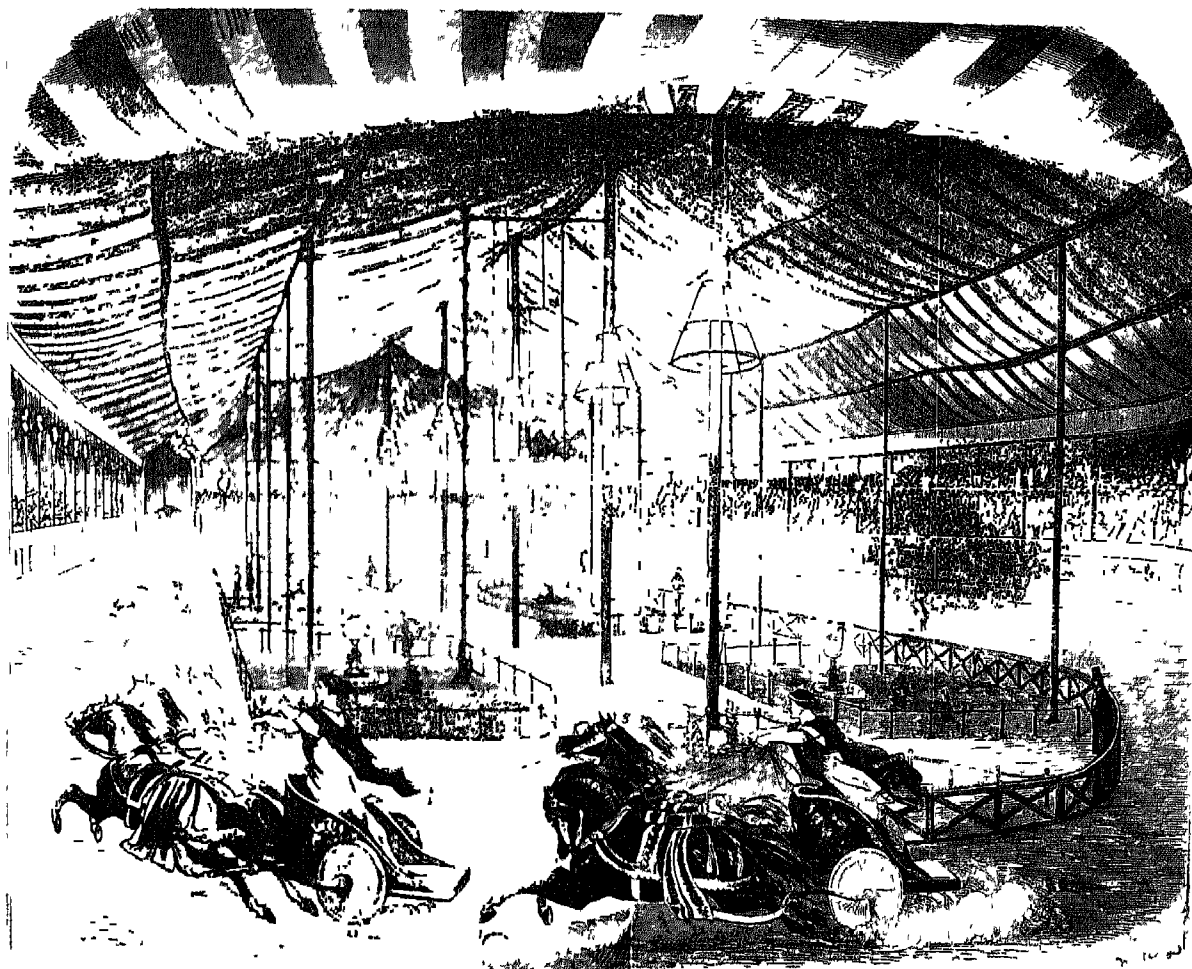
INTERIOR VIEW OF THE NEW YORK HIPPODROME—OPENING NIGHT

Illustrated News, May 14, 1853

New York, in the 1850's

Left Union Square in 1850.

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

Firemen's Parade on Broadway in 1853. Note the fire engine; also the gigantic advertising photographing instrument on the front of Brady's Gallery (see page 359).
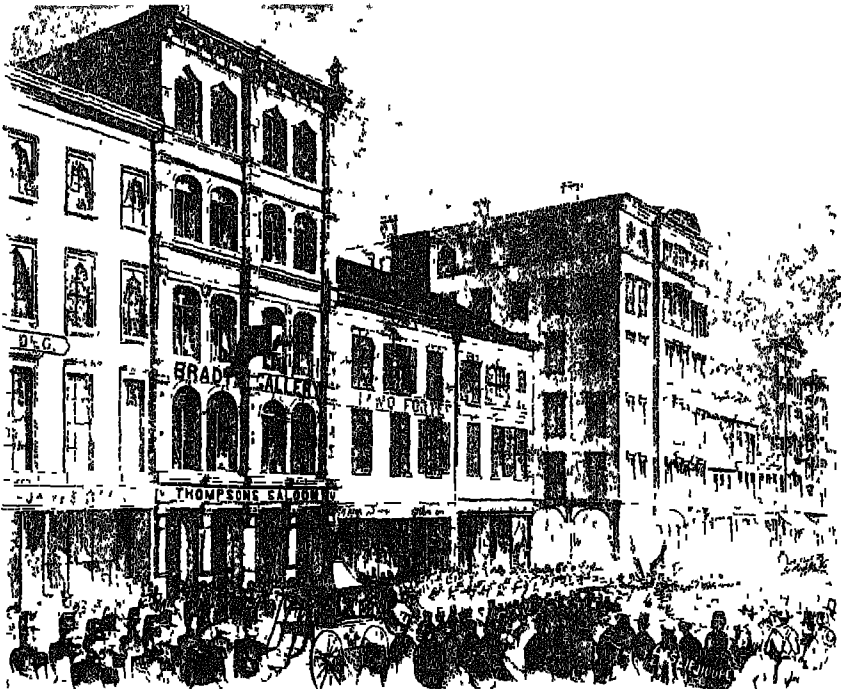
Illustrated News, November 12, 1853
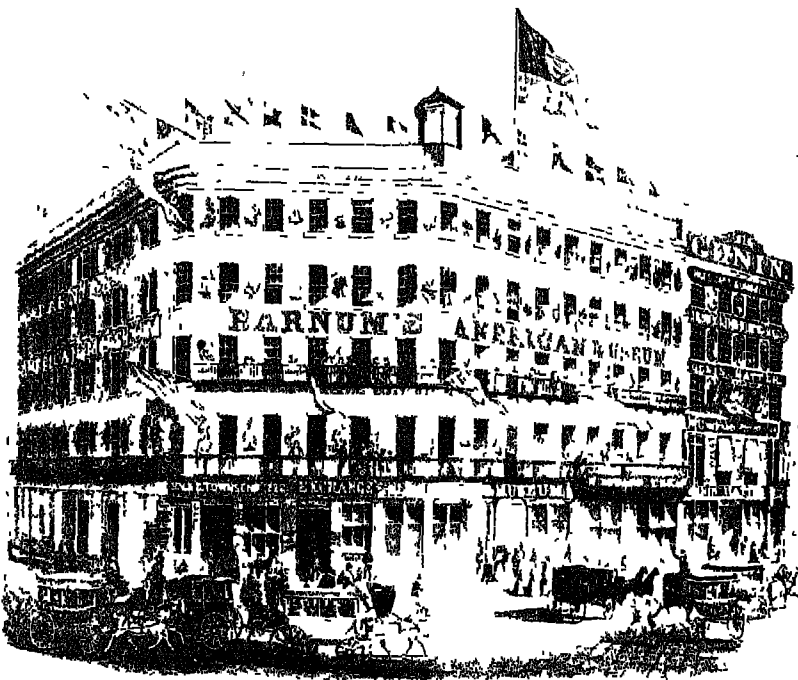
Barnum's American Museum, at Broadway and Ann Street, was the outstanding place of amusement for New Yorkers and country visitors— ". . . the ladder by which I rose to fame", said Barnum.

Illustrated News, October 29, 1853

Jenny Lind

In 1850 Jenny Lind, the famous singer, known as "the Swedish nightingale", opened an American tour at Castle Garden, N. Y., under the management of P. T. Barnum.
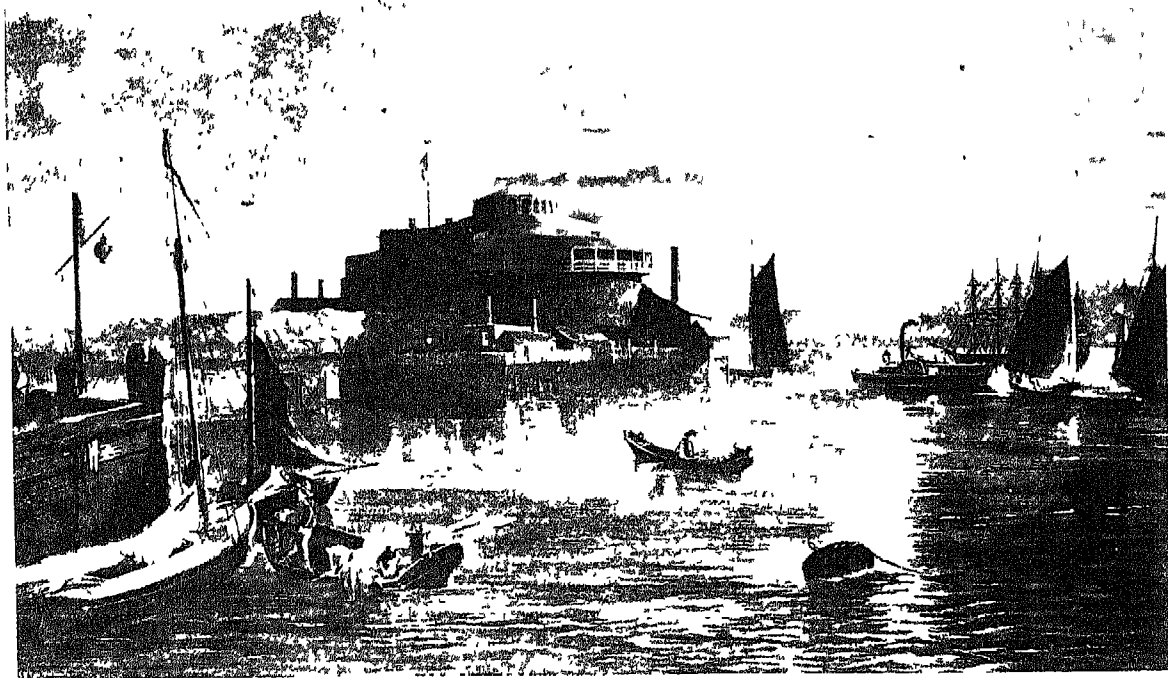
Courtesy, Stokes Collection, The New York Public Library

Above Castle Garden. In 1850 it was a place of entertainment. Later it became an immigration office, and more recently it was known to New Yorkers as the Aquarium.
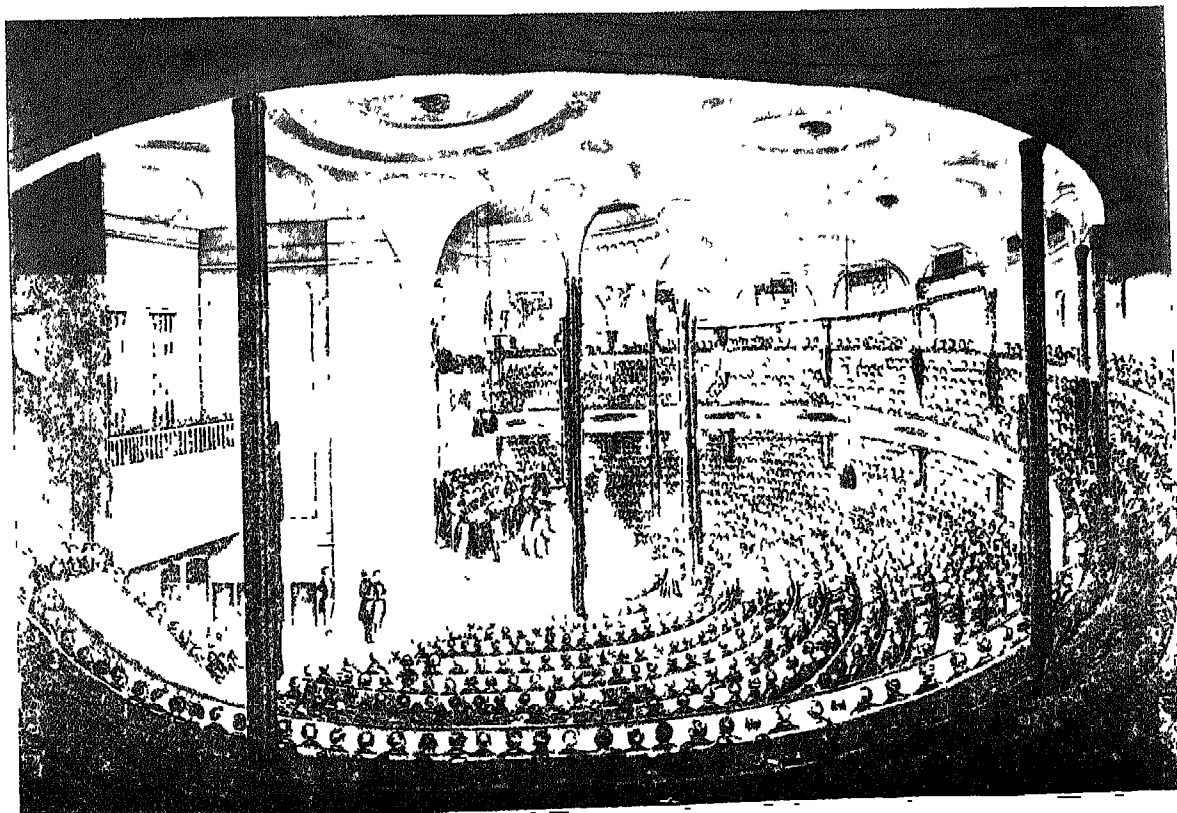
FIRST APPEARANCE OF JENNY LIND IN AMERICA.
At Castle Garden Sept[r] 11[th] 1850

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

The Crystal Palace Exhibition

held at New York in 1853, was the first international exhibition in the United States. Its official title was The Exhibition of the Industry of All Nations.

Courtesy, Eno Collection, The New York Public Library

The Crystal Palace, of glass and iron construction, was located west of the Croton Reservoir (see page 413)—presentday Bryant Park.

By the emphasis which it placed on industrial progress, this Exhibition not only recorded the already well-advanced movement away from an age of handicraft but it did much to speed the coming of an industrial era which in many ways revolutionized the life and thought of America.